(१)

प्रवचन पाथेय

(सन् १९५३)

आचार्य तुलसी

संपादक

श्रीचन्द रामपुरिया

द्वितीय संशोधित संस्करण : मार्च, १९९०

मूल्य : वीस रुपये/प्रकाशक : जैन विश्व भारती, लाडनूं (राज०)/
मुद्रक : मित्र परिषद्, कलकत्ता के आर्थिक सौजन्य से स्थापित जैन विश्व भारती प्रेस, लाडनूं-३४१३०६ ।

PRAVACHAN PATHEY
Acharya Tulasi
Rs. 20.00

सम्पादकीय

विक्रम सवत् २००१ । आचार्यश्री तुलसी का सुजानगढ़ चातुर्मास । मैं प्रात:कालीन प्रवचन सुनने जाया करता था । प्रवचनों में आध्यात्मिक चिंतन का ऐसा अविरल स्रोत वहता, जो चित्त को नए जीवन की स्फुरणा और आकांक्षा से भर देता था । प्रवचन तत्त्वों का सूक्ष्म विवेचन, चिरंतन सत्यों का सहज गम्भीर स्फोटन, सत्य और शिव पर आत्मार्पण कर देने की प्रेरणा से ओतप्रोत रहते थे । मन में आया यह वाणी न केवल वर्तमान पीढी के लिए ही, अपितु युग-युग के लिए एक वरदान है । सदियो के मानव के लिए उसमे एक दिशा, शिक्षा और प्रकाश है । मैंने कुछ सन्तों से निवेदन किया—'जो सन्त इस विरल युग-पुरुप की अमरवाणी का संग्रह करने मे अपना जीवन न्योछावर करेगा । वह इस साधना से स्वयं अमर वनेगा ।' मैंने गुरुदेव के चरणो मे निवेदन किया—कुछ सन्त यदि इस कार्य के लिए नियोजित किए जाए तो वह मानव हितकारी होगा ।

उस समय मैंने तीन दिन के प्रवचनों का संकलन किया । प्रवचन सुनकर घर जाता और वहां स्मृति से जहा तक वन पडता मूल शब्दो मे लिख डालता । यह सकलन मैंने सन्तो को दिखाया । वाद मे मैंने इसे विवरण पत्रिका मे प्रकाशित किया । आचार्यश्री की वाणी का पहला सग्रह इस प्रकार मेरे हाथो से हुआ ।

हमें कोटि-कोटि धन्यवाद देना चाहिए कर्मठ युवक जयचन्दलालजी दफ्तरी को, जिन्होने उपर्युक्त सुझाव को वर्पो वाद हाथ मे लिया और सन्तो द्वारा संकलित प्रवचनो को संगृहीत करने की योजना वनाई । महासभा भी इस दिशा में कुछ कार्य करती रही । 'जैन भारती' के अपने सम्पादन काल मे जो-जो प्रवचन आते उनके सम्पादन का भार सहज रूप से मुझ पर रहता । प्रकाशित प्रवचनो की प्रतिक्रिया वडी अच्छी होती । मुझे इस वात का वड़ा हर्प है कि मेरे सुझाव पर महासभा की ओर से एक-एक वर्प के प्रवचनो का संग्रह पुस्तकाकार मे प्रकाशित हो रहे हैं । इस मंगलमय कार्य को सम्पन्न करने में अड़चने भी कम नही आयी । वीच मे कार्य रोकना भी पडा । पर मेरा आग्रह समझिए अथवा प्रवचनो की अपनी महत्ता, कार्य सम्पन्न हुआ ।

इस १९५३ की डायरी में गुरुदेव के लगभग एक सौ पचहत्तर प्रवचन प्रकाशित हो रहे हैं । जितने प्रवचन उपलब्ध हुए है उन्हे दे दिया गया है ।

प्रतिदिन एक के हिसाब से वर्ष मे तीन सौ पैंसठ प्रवचन तो होते है। इस तरह हमने प्राय: आधी सम्पत्ति तो खो ही दी है।

इन प्रवचनो मे हजारो विषय स्पर्शित हैं। इनमें युग की समस्याओ का गम्भीर चिन्तन और उनका समाधान है। ये प्रवचन प्रत्येक मानव को स्पर्श करते है। चाहे वह किसी भी स्थान या किसी भी स्थिति में हो। मानव के नैतिक और आध्यात्मिक उत्थान के लिए अणुव्रत-आन्दोलन का जो घोप है, वह इन प्रवचनो मे अच्छी तरह मुखर हुआ है।

युग के कितने ही ऐसे प्रश्न और विपय होते है जिन पर लोक-शिक्षक को वार-वार और स्थान-स्थान पर वोलना ही पडता है। ऐसी स्थिति मे पुनरुक्ति अनिवार्यत: होती ही है। ऐसा होने पर भी भाव का अनूठापन सर्वत्र परिलक्षित है। महात्मा गांधी, सन्त विनोवा आदि के प्रवचनो की ही तरह इनमे पुनरुक्ति दोप रूप में नही पर "उन्नीस वार कहा हुआ व्यर्थ न जाए इसलिए वीसवी वार भी कहा गया है"—इस कहावत की पुष्टि है।

ये प्रवचन सुविचारो के भण्डार है। इनमे पद-पद पर मौलिक सम्पदा है। मनुप्य की दृप्टि सत्य पर केन्द्रित हो यही इनका ध्येय है।

आचार्यश्री का जीवन एक परिव्राजक जीवन है। वर्षावास के सिवाय वे जनपदो मे पाद-विहार करते रहते है। भिन्न-भिन्न स्थानो पर दिए गए आचार्यश्री के इन प्रवचनो से देश के लाखो नागरिको को श्रवण द्वारा लाभ उठाने का सुअवसर प्राप्त हो सका है, किन्तु उपदेश यही पूर्ण नही हो जाता। जिन व्यक्तियो को आचार्य श्री के प्रवचनो के श्रवण का लाभ उठाने का मौका नही मिला, वे भी लाभान्वित हो सकें, यह इष्ट है। यही दृप्टि इस प्रकाशन की है।

आचार्यश्री के अनुसार मानव कल्याण का सर्वप्रथम सोपान धर्माचरण है। अपने एक प्रवचन मे उन्होने कहा—"धर्म अन्तरात्मा के कण-कण मे रमे, और ऐसा रमे कि उतारे न उतरे, तभी आज के भौतिकवादी युग से लोहा लिया जा सकता है।" धर्म का विश्लेपण करते हुए आपने वताया है—"धर्म मे जाति-पाति, लिंग, रग, निर्धन, धनिक का कोई अन्तर नही हो सकता। धर्म सवके लिए शांति-सुखप्रद है। उसमे भेद-रेखा नही हो सकती।" धर्म के वारे मे उसकी मान्यताए है—"धर्म से प्रणियो का कल्याण होता आया है और होता रहेगा। धर्म, मन्दिरो, मठो मे जाने मात्र से होगा, ऐसा विचारना नितान्त भ्रम है। वह आत्मा से होगा—तपस्या से होगा। सही अर्थ मे धर्म की यह व्याख्या होनी चाहिए—त्याग धर्म है, भोग अधर्म है। धर्म जीवन में रहे। जीवन के प्रत्येक कार्य में धर्म की पुट रहे, यह आज के मानव के लिए आवश्यक है।"

धर्म क्या है ? इस सन्दर्भ में आपने कहा—"जो आत्मा की शुद्धि

का साधन है, वह ही धर्म है। धर्म प्रलोभन, वलात्कार और वल प्रयोग से नही होता। धर्म जिन्दगी को वदलने से होता है; अन्याय, शोषण, अत्याचार से विरक्त रहने से होता है। जीवन को सुधारने से होता है। इसलिए जिंदगी वदलना, पापो से डरना और स्वयं को सुधारना यही धर्म है।"

धर्माचरण का मुख्य तत्त्व अहिंसा है। आचार्यश्री के शव्दो मे—"अहिसा धर्म का गौरव है। उसकी जान है। धर्म में से एक अहिंसा को निकाल दिया जाए तो शेप कुछ नहीं वचेगा। सिर्फ अस्थि-कंकाल रह जाएगा। धर्म की आत्मा अहिंसा है। अहिंसा नही तो धर्म नही। जिस प्रकार धर्म पर सवका समानाधिकार है, उसी प्रकार अहिंसा का भी हरेक पालन कर सकता है।" आपने प्राय. सभी प्रवचनो मे अहिंसा के अवलम्वन पर वल देते हुए कहा है—"कोई भी दु:ख नही चाहता। अत. मानव किसी को न मारे, वह अपने आपको हिंसा से वचाये। प्रत्येक जीव के प्रति उपयोग रखे। उपयोग परम धर्म है।

आचार्यश्री की विचार-सरणि मे सुधार की इकाई व्यक्ति ही हो सकता है। "व्यक्ति-सुधार, समाज-सुधार की नीव है। मुझे समाज, देश या राष्ट्र-सुधार की चिंता नही, मुझे व्यक्ति-सुधार की चिंता है। चाहे आप मुझे स्वार्थी कहें, किन्तु मेरा निश्चित अभिमत है कि व्यक्ति-सुधार ही सव सुधारो की मूल भित्ति है। व्यक्ति स्वयं ही सुधरकर दूसरो को सुधारने का प्रयत्न करे। केवल आचारहीन, निकम्मी और थोथी आवाजो से कुछ सम्भव नही। उसे जव तक अपने जीवन मे समाहित नही किया जाएगा तव तक कोई गति नही आयेगी।"

आचार्यश्री ने अपने प्रवचनो मे "उठो और उठाओ" का आध्यात्मिक नारा वुलन्द किया है। अणुव्रत-आन्दोलन के प्रवर्त्तक आचार्यश्री ने आज के गिरते हुए जन-जीवन के प्रति घोर चिन्ता व्यक्त करते हुए निदान स्वरूप वतलाया—"आज जन-जीवन गिरता जा रहा है। ऐसे समय मे दो विचारधाराएं हमारे सामने है। एक विचारधारा के अनुसार समाज, राष्ट्र और देश का उत्थान हो। दूसरी विचारधारा व्यक्ति-सुधार के पक्ष मे है। अणुव्रत-योजना व्यक्ति-सुधार की योजना है। व्यक्ति सुधरेगा तो समाज, राष्ट्र और देश अपने आप सुधर जाएंगे।

आचार्यश्री आध्यात्मिक जीवन-निर्माण की दिशा मे व्रत-ग्रहण को वडा महत्व देते है। अपने जीवन की वुराइयो को मनुष्य आत्मसाक्षी से देखता चला जाए और उनको दूर करने के लिए अनुकूल व्रतो को ग्रहण करता हुआ उनके पालन पर स्थिर होता जाए। इस तरह का जीवन-निर्माण स्वय में एक आदर्श होगा और उसके द्वारा समाज और राष्ट्र का भी कल्याण होगा। वुराइयो के साथ आत्म-सग्रह ही वास्तविक क्राति है।

आज विश्व मे झूठ और हिंसा की व्यापकता है, उनके स्थान पर अहिंसा विश्व व्यापी बने—वह जन-जन के मानस में उतरे उसे व्यक्ति-व्यक्ति के जीवन मे प्रश्रय मिले। आचार्यश्री का कहना है—"ओ मानव ! यदि तू युद्ध-प्रेमी है तो खूब युद्ध कर, बहादुरी के साथ लड़ और लड़ता रह निर्भयता के साथ, भयभीत होकर पीछे हटने की आवश्यकता नही। पर, वह युद्ध कैसा हो ? किसी बाह्य व्यक्ति के साथ नहीं, अन्तर का युद्ध होना चाहिए। तू अपनी अन्तरात्मा से लड। अपनी आत्मा को जीत, आत्म-विजय कर। वीरता के साथ उसकी एक-एक बुराई को मिटा दे। तू अपना रास्ता ले, त्याग पर चल, फिर चाहे वे यम कहलाए या नियम।"

"नैतिक-उत्थान वास्तविक सुख है। अणुव्रती-संघ नैतिकता की दिशा मे विशेष जागरूक है। इसका उद्देश्य है—मानव मे मानवता आए—वह मानव जो पथ-भ्रष्ट होता जा रहा है, सही पथ पर आए। अणुव्रत योजना मे छोटे-छोटे व्रत है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह आदि के छोटे-छोटे नियम है। इन पाच तत्त्वो को लेकर चलने की आवश्यता है।"

इस प्रकार हम स्पष्टतया देखते है कि आचार्यश्री तुलसी ने अपने प्रवचनो के माध्यम से जीवन की विभिन्न जटिल समस्याओ के समाधान का विकल्प प्रस्तुत किया है। इसके साथ उन्होने धर्म, अहिंसा, संयम, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, क्षमा, दया, स्वाध्याय आदि के पालन का आह्वान किया है। आचार्यश्री के प्रत्येक प्रवचन चिरंतन सिद्धान्तो की आधारशिला पर अवस्थित हैं।

मुझे विश्वास है कि इस 'प्रवचन डायरी' मे एवं आचार्यश्री के अन्य वर्षो के प्रवचनो के सकलन से जन साधारण को विशेष लाभ होगा और ये प्रवचन हिन्दी जगत के लिए अमूल्य निधि साबित होगे।

१५, नूरमल लोहिया लेन,
कलकत्ता
५ अप्रैल, १९६०

श्रीचन्द रामपुरिया

द्वितीय संस्करण की भूमिका

परमाराध्य आचार्यश्री तुलसी कुशल प्रवचनकार है। आपके प्रवचनो मे श्रोताओ के दिलो को झकझोरने वाली वेधकता है, प्रवचन सुनने के बाद स्मृतिकोश मे सुरक्षित रह सके, इतनी क्षमता सब श्रोताओ के पास नही होती। इसलिए वे श्रव्य विषय-वस्तु को पाठ्य रूप मे देखना चाहते है। इस इच्छा की पूर्ति के लिए प्रवचन सग्रह सकलित कर प्रकाशित करने का निर्णय हुआ। आचार्यश्री के प्रवचनो का प्रथम सकलन 'प्रवचन डायरी' के नाम से प्रकाशित हुआ। ईश्वी सन् ५३, ५४, ५५ और ५६, ५७ इस क्रम से सकलन प्रकाशित हुऐ। वे इतने लोकप्रिय हुए कि बहुत शीघ्र समाप्त हो गये। इधर के कुछ वर्षो से आचार्यश्री के प्रवचन सकलन 'प्रवचन पाथेय' नाम से प्रकाशित हो रहे है। उसके आठ भाग प्रकाशित हो चुके है।

योगक्षेम वर्ष मे एक चिन्तन आया कि प्रवचन डायरी में सगृहीत प्रवचनो को भी 'प्रवचन पाथेय' की शृखला के साथ नत्थी कर दिया जाए तो एकरूपता रहेगी। चिन्तन समयानुकूल था। उसे स्वीकृत कर लिया गया। प्रवचन डायरी का आकार कुछ बडा है। उसे प्रवचन पाथेय के आकार मे परिणत करने के लिए उसे दो भागो मे विभक्त किया गया है। प्रस्तुत संकलन में ५११ प्रवचनो का समावेश हुआ है। प्रवचन पाथेय का यह नौवा पुष्प सन् ५३ के आधे प्रवचनो का सग्रह है। अग्रिम पुष्पो मे प्रवचन डायरी के तीन भागो के प्रवचनो की इसी क्रम से प्रस्तुत करने की भावना है।

श्रीचन्द रामपुरिया

अनुक्रम

१. मर्यादा महोत्सव

मर्यादा महोत्सव एक आध्यात्मिक महोत्सव है। सांसारिक उत्सवो में भौतिकवाद की चर्चा होती है और आध्यात्मिक उत्सवो में अध्यात्मवाद की चर्चा। धार्मिक उत्सवो मे आचार की शिक्षा दी जाती है, सगठन और अनुशासन का पाठ पढ़ाया जाता है, मर्यादा में किस प्रकार चला जाता है, यह बताया जाता है।

ऐसे उत्सवो को मेले का रूप नही दिया जाना चाहिये फिर भी इतने लोग एकत्रित हुए हैं कि स्थान की संकीर्णता-सी हो गई।

आज का दिन कोई जन्म-दिन या निर्वाण-दिवस नही है बल्कि निर्माण-दिवस है। निर्माण और निर्वाण शब्द मे कोई विशेष अन्तर नही है। अन्तर है केवल एक अक्षर का। इस दिन न तो 'तेरापंथ' का निर्माण हुआ था और न किसी श्रावक संघ का ही निर्माण हुआ था। इस दिन एक व्यक्ति की कलम से एक विधान का निर्माण हुआ था। विधान बनता है और लोग उसे न मानें तो क्या लाभ ऐसे विधान से? विधान आज भी बनते हैं पर उनपर चलते कौन हैं? उनका पालन कौन करते है? सरकारें विधानो को बनाने मे तत्पर रहती हैं और जनता उन्हे तोड़ने मे—बेकार करने मे तैयार रहती है। पर एक व्यक्ति की कलम से इस दिन ऐसे विधान का निर्माण हुआ जिसका अक्षरशः पालन किया गया और किया जा रहा है। इसके निर्माता आचार्य भिक्षु और निभानेवाले साधु-साध्वियां दोनों बधाई के पात्र हैं।

राजस्थानी भाषा में रचित एक गीत में आचार्य भिक्षु और उनके द्वारा लिखित संविधान की चर्चा है। उसका सारांश यह है—

भीखण जी स्वामी ने बड़ा भारी काम किया—एक साधु-सघ की स्थापना की। लोग पूछेंगे—क्या उस समय साधु-संघ नही थे? थे, पर उनकी अव्यवस्था और धर्म की दयनीय दशा को देखकर हमारे पूज्य का कलेजा कांप उठा। उन्होने भगवान महावीर के इस पवित्र सघ मे धाधली मचती हुई देखी। अतः उन्होने एक सगठित और पवित्र साधु-संघ की स्थापना की। उन्होने कहा—अब मैं निकल पडा हूं, आत्मकल्याण के लिये। मैं मैदान में उतर आया हूं। केवल आत्मकल्याण ही नही 'मैं दूसरो के कल्याण की कामना भी रखता हू।' दीपक एक होता है पर उसका प्रकाश कितने ही व्यक्तियो का पथ-प्रदर्शन कर देता है। स्वामी भीखण जी ने भी ऐसा ही काम किया। उन्होंने कहा—

"सब साधु और साध्वियां एक गुरु की आज्ञा में रहे। कोई किसी को

अपना शिष्य-शिष्या न बनाए।" इस मर्यादा से शिष्यप्रथा का समापन हो गया। इसीलिए सब परम प्रसन्न है। आज कोई स्वप्न मे भी शिष्य बनाने की भावना नही रखता। कोई कहे—'आचार्य को शिष्यों का लोभ जग जाय तो? आपने आचार्यो को भी मर्यादा मे बाध दिया। उन्होने मर्यादा बनाई कि पंथ बढाने के लिये किसी को दीक्षा न दी जाए। जो आया उसी को मूड लिया ऐसा न हो। पूरी परीक्षा कर, योग्यता आदि को देख-देखकर दीक्षा दी जाय। कही ऐसा न हो कि 'कानिया मानिया कुर तू चेला मैं गुर' और शिष्य बना लिया।

लोगो को ये मर्यादाएँ छोटी और साधारण लगती होंगी, लेकिन ये मामूली नही, बडे काम की है। जहाज पानी मे चलता है पर उसमें बैठनेवालो को इसका पता नही चलता। आचार्य भिक्षु ने कहा—

"श्रद्धा आचार का कोई नया बोल सामने आए तो उसकी जहां-तहां चर्चा न करे। आचार्य का वचन प्रमाण मानें। फिर भी दिमाग मे वह बोल न जचे तो खीचातान न करे, उसे केवलियों पर छोड दे।"

विधानविज्ञों! शिक्षितो! और शिक्षको! यह ऐसा विधान है जिससे कलह, ईर्ष्या और झगडो का वृक्ष पनप ही नही सकता। इससे आगे की कुछ धाराए है—

"गण और गणपति की उतरती बात न करें। संयम का अच्छी तरह से पालन करे। सघ से एक-दो-तीन कितने भी अविनीत निकले तो कोई बात नही। उसे साधु न समझे, उससे परिचय और प्रीति न करें। यदि कोई श्रावक भी उसे साधु समझता है तो वह श्रावक नही।"

इस प्रकार की विलक्षण धाराओ वाला यह विधान पत्र लिखा गया सवत् १८५९ माघ सुदी ७ शनिवार को। कहा भी है "थावर कीजै थापना, बुध कीजै व्यापार।" शनिवार की स्थापना स्थिर रहती है। आपने इसे लिखा १८५९ में और १८६० में आपका स्वर्गवास हो गया। जनतन्त्र की दृष्टि से इसमें तत्कालीन समय के सब साधुओं के हस्ताक्षर है। यह सिर्फ ऐतिहासिक पत्र नही है, गण का छत्र है। यह शासन का जीवन-प्राण है।

यह वार्षिक महोत्सव इसी के उपलक्ष मे मनाया जा रहा है। यह सूझ जयाचार्य की है। सन् १९२० मे जयाचार्य ने इसकी शुरूआत की। कुछ लोग १९२१ में इसकी शुरूआत कहते हैं। शुरूआत के समय बडा भारी बवण्डर आया। लोगो ने कहा, "क्या ऐसे महोत्सव साधु को करने कल्पते है?" पर जयाचार्य ने किसी की न सुनी और इसे चालू कर दिया। इस महोत्सव में अद्भुत सजीवता होती है। जो कभी नही आते वे भी इस अवसर पर तो आ ही जाते है। दूर-दूर से मारवाड़, मेवाड़, बंगाल, गुजरात, बम्बई उत्तर-प्रदेश से ही नही, जर्मनी तक के लोग यहां उपस्थित है।

यह २००९ का माघ-महोत्सव सरदारशहर मे मनाया जा रहा है।

इसमे १४० साधु और ३९३ साध्वियां सम्मिलित हैं। चार तीर्थ मे ठाट लग रहे हैं।

यहां तक मैंने विधान के वारे मे वताया। अव साधु-साध्वियो को सम्वोधित करके इन्हे भी दो शव्द कहना है।

समस्त साधु और साध्वियो को यही शाश्वत शिक्षा है कि तुम अपने मूल लक्ष्य को मत भूलो। तुम्हारा पहला लक्ष्य है आचार में दृढ रहना। आचारहीन विचार क्रांति कोई काम की नही। मूल लक्ष्य पर वद्ध होकर चलो। जानते हो अव विदाई होनेवाली है। मेरी भी विदाई होने वाली है। मैं आपके साथ नही रहूगा, फिर भी रहूगा साथ मे। हर पल संयम मे जागरूक रहो। स्वार्थी मत वनो। जो लोग कल्याण का मार्ग चाहते है उन्हे रास्ता दिखाओ। निर्भय होकर व्यक्ति-व्यक्ति मे धर्म का प्रसार करो। चाहे इसके लिये कुछ भी कुर्वानि क्यो न करना पड़े।

अव श्रावको को कुछ कहना है—श्रावक-श्राविका भी सचेष्ट और जागरूक रहे। मैं उनकी ऐसी हरकते नही सुनना चाहता कि वे जीवन को न उठाकर थोथी नुक्ताचीनी मे ममय विता रहे हैं। उन्हे आत्मालोचना मे समय लगाना चाहिये।

मुझे कभी-कभी ऐसा सुनने मे आता है कि तेरापन्थ का सगठन अव क्या चलेगा, वहुत चला। जैसा कि समय-ममय पर पहले भी सुना जाता रहा है। मैं उन्हे स्पप्ट कह देना चाहता हू कि यह भगवान महावीर का पंथ है, त्यागियो का पन्थ है। इसके प्रति यदि वे ऐसा स्वप्न देखते है तो वह स्वप्न होगा। संगठन था, है और रहेगा। इस सघ की नीव आचार पर टिकी हुई है।

सभी श्रावक जीवन वदलें और जीवन को उठाने के कार्य में सहयोगी वनें।

मैं एक वार फिर संघचतुष्टय से आह्वान करूंगा कि वह आत्म-कल्याण के लिये एकनिष्ठ प्रयत्न करे।

ससार अशान्त है, यह कोई नई वात नही है। परिस्थितियां विपम है यह भी कोई नई वात नही। ससार शान्ति की ओर आखे फाड़े निहार रहा है, यह भी कोई नई वात नही। पर शान्ति मिले कैसे? उसे पाने का क्या रास्ता है? किस मार्ग से हम उसे पा सकते है, यह देखना है। भौतिक सुख-सुविधाओ और भोग-विलासों से शान्ति की आशा रखना तो ठीक वैसा ही है जैसा कि एक व्यक्ति गाय-भैंस इसलिये न रखे कि उन्हे खिलाने-पिलाने का कष्ट कौन करे? दूध और दही भी वह न रखे और चाहे कि सिर्फ पानी को मथ कर घी निकाल ले। भाइयो! यह तो होने का नही। पानी से घी मिल सके तो भौतिकता मे लिप्त रहकर दुनिया भी सुख पा सकती है।

ऐसी हालत में सुख कैसे मिले? वे लोग, जो आत्म-कल्याण के मार्ग पर आगे बढ़ रहे हैं, दूसरों को भी आत्म-कल्याण का मार्ग दिखायें। उनका भी आत्मकल्याण और उत्थान कैसे हो, यह बतायें। त्याग से कल्याण होगा, शान्ति मिलेगी। जो व्यक्ति अणुव्रती बने हैं, वे जानते हैं कि उन्हें कितनी शान्ति मिली है। आप लोग भी अणुव्रती बनकर यह जान सकते हैं कि आत्मिक सुख कैसे मिल सकता है। अणुव्रती बनना तो दूर; लोग यहां तक कह देते है कि क्या देश, राष्ट्र और समाज के उत्थान के लिये साधुओं को ऐसे संघ का गठन करना चाहिये। मैं उन्हें स्पष्ट कहूगा कि मेरी इच्छा न तो देश के उत्थान की है और न समाज के उत्थान की है। मैं तो यह चाहता हूं कि व्यक्ति-व्यक्ति का उत्थान हो, व्यक्ति-व्यक्ति की आत्मा का कल्याण हो और इसी कामना के साथ अणुव्रती संघ की स्थापना की गई। तीर्थंकरों ने व्यक्ति-व्यक्ति के कल्याण के लिये उपदेश दिये। उनके बाद आचार्यों ने इस कार्य को चालू रखा। हमारे आठ पूर्वाचार्यों ने जनकल्याण के लिये प्रचार किया। आज भी वह कार्य चालू है और रहेगा। जन-जीवन के उत्थान और कल्याण के साथ समाज या राष्ट्र का स्तर ऊंचा उठेगा ही। व्यक्ति, समाज और राष्ट्र—ये आपस में जुडे हुए हैं। इनमें प्रत्येक का हित और अहित एक दूसरे पर आधारित है।

निर्माण या उत्थान की प्रक्रिया में एक बड़ी बाधा है समता का अभाव। स्व प्रशंसा सुनकर प्रसन्न होना और स्व निन्दा सुनकर नाराज होना दोनों ही खतरनाक हैं। किसी व्यक्ति का एक बैल बहुत सुन्दर हो, लोग देख-देखकर उसकी बड़ी प्रशंसा करें और वह व्यक्ति इसे सुनकर खुश होता हो तो उसे "सामन्तोपनिपातिक" की क्रिया लगती है। बहुत से व्यक्ति तो प्रशंसा करते हैं लेकिन पास खड़े हुए कह देते है—"क्या है नामवरी के लिये यह काम किया गया है। अमुक व्यक्ति ने अमुक प्रकार का त्याग इसलिये किया है कि उससे उसका नाम होगा। अमुक व्यक्ति इसलिये अणुव्रती बना है कि उसका नाम हो।" यह सब कहना उस व्यक्ति की बड़ी भूल है। नाम के लिये कार्य किया या नहीं पर उसने तो अपने आप को क्रिया का भागी बना ही लिया। अच्छे कार्य जैसे त्याग-प्रत्याख्यान आदि न कर सको तो जो करता है उसे सुनकर खुश तो हो सकते हो। यदि किसी त्याग की प्रशंसा की तो तुम्हें त्याग की प्रशंसा का लाभ हो जायगा। तुम स्वयं संयोग से सुपात्र दान न भी दे सको को देनेवाले की प्रशंसा तो कर ही सकते हो। इस तरह अनुमोदना से भी तुम्हारा भला होगा। कुछ व्यक्ति ऐसे होते हैं जो सामने तो प्रशंसा करते हैं और पीठ पीछे निन्दा करते हैं। कहते है—"क्या है जी! सामने तो कहना ही पड़ता है पर है जैसा ही है!" ऐसे दुमुंहे व्यक्ति ढके कुए है। खुले कुएं में व्यक्ति गिरता नहीं, कोई अन्धा भले ही गिर जाए। लेकिन कुएं पर एक

गलीचा बिछा दिया जाए और फिर उस पर किसी को बिठाया जाए तो बताइये वह बचेगा क्या ? मैं तो स्पष्ट कहूंगा कि ऐसे निन्दको से तो वे निंदक कही अच्छे हैं जो खुले निंदक हैं—जिन्हें लोग जानते हैं। इस प्रकार अनिष्ट की वांछा करने से किसी का कुछ बिगड़ थोड़े ही जाता है, लेकिन इस कामना का फल स्वय को तो मिल ही जाता है और जब उसका विपाकोदय होता है तब पश्चात्ताप के सिवा और होना क्या है ?

लोगो को चाहिये कि उनसे यदि त्याग प्रत्याख्यान न हो सके, अच्छे कार्य न हो सके तो जो श्रेष्ठ कार्य किये जा रहे हैं उनका अनुमोदन करे, सच्चे दिल से उनकी सराहना करें। श्रेष्ठ कार्यो का अनुमोदन करके भी व्यक्ति श्रेष्ठता का वरण कर सकता है।

सरदारशहर
२१ जनवरी, ५३
(माघ महोत्सव)

२. श्रद्धा और ज्ञान

व्यक्ति वाह्य—स्थूल शरीर की रचना करता है, देखभाल करता है। उसकी इतनी सेवा करता है जितनी कि माता-पिता और गुरुजनों की भी शायद नही करता। वह उसे सजाता है, उसका पोपण करता है और इस स्थूल शरीर को ही सव कुछ मान वैठता है। वह आभ्यन्तर शरीर तैजस और कार्मण को भूल जाता है। यही नही वह आत्मा को भी भूल जाता है। वह शरीर और आत्मा को एक ही मान लेता है। वह जड शरीर और चेतन आत्मा के अलग-अलग अस्तित्व को भूल जाता है।

यह उसकी श्रद्धा मे कमी का परिचायक है। लोग श्रद्धा को अन्ध श्रद्धा कहते है। एक दृष्टि से उनका कहना ठीक भी है। श्रद्धा के आख नही होती। आख तो ज्ञान है लेकिन विना श्रद्धा का ज्ञान पगु है। यदि श्रद्धा है तो ज्ञान अवश्य आयेगा और उस श्रद्धा के सहारे आया हुआ ज्ञान ही सम्यग्ज्ञान होगा। यदि ज्ञान असम्यक् है तो यह समझ लेना चाहिए कि श्रद्धा मे कमी है और इस श्रद्धा की कमी का ही परिणाम है कि व्यक्ति अपनी चेतन आत्मा को भूलकर शरीर को सव कुछ समझ वैठता है। जव तक वह चेतन और तन को अलग नही कर लेगा, शाश्वत सुख मिलने का नही। श्रद्धा और ज्ञान से आत्मा को अपना सही स्वरूप मिल जाना ही शाश्वत सुख होगा अर्थात् ऐसा कार्य करना चाहिए जिससे यह आत्मा, जो इस शरीर मे है और एक दृष्टि से मूर्त्त है, अपने सही स्वरूप को प्राप्त कर ले।

कुछ लोग कहते है—श्रद्धा करना कायरो का काम है, लेकिन मैं स्पष्ट कहूगा कि कायरो का श्रद्धा से कोई सम्बन्ध नही। कायर व्यक्ति क्या श्रद्धा करेगा जव कि वह खुद ही डावाडोल है। श्रद्धा का अनुवन्ध वीरता के साथ है। अस्तु; श्रद्धा मे मजवूत रहते हुए ज्ञान को प्राप्त करे और आत्मा एव शरीर की भेदरेखा को समझकर पदार्थवादी दृष्टिकोण से दूर रहे जिससे आत्मकल्याण हो।

सरदारशहर
२२ जनवरी, ५३

३. धर्म और मनुष्य

धर्म जीवन का सार है। विना धर्म के मानव, मानव नही रह सकता। धर्म है क्या? किस वला को धर्म कहते है? क्षत्रिय हाथ मे तलवार रखे, कृषक खेती करे, वनिया व्यापार करे, यह धर्म नही है। ये तो उनकी अपनी-अपनी सामाजिक व्यवस्थाएं है। धर्म मे वर्गीकरण नही हो सकता कि अमुक धर्म मेरा है और अमुक उसका। यह तो व्यक्ति का अपना कार्यक्रम है। तो फिर धर्म है क्या? धर्म है—सत्य और अहिंसा। झूठ मत वोलो, हिंसा मत करो। इसका पूर्णरूपेण पालन शायद तुम न भी कर सको, पर जितना निभ सके, निभाओ आक्रमण से वचने के लिए तुम्हें हिंसा करनी भी पडे तो वेमतलव किसी को मत मारो, मत सताओ।

पृथ्वी आज भी वही है जो पहले थी। प्राचीन काल में वैलो से हल चलाकर खेती की जाती थी और इतना धान्य होता कि मनुष्य खाते, पशु-पक्षी खाते फिर भी वहुत वरकत होती। पर आज व्यक्ति ट्रैक्टर से खेती करता है। उसने मोरो को मारा, सियारो को मारा, वन्दरो को मारा, टिड्डी और फाके को मारा। फिर भी वह भूखो मर रहा है। नीयत के पीछे वरकत है। नीयत ठीक तो सव कुछ ठीक। नीयत खराव तो सव कुछ खराव।

अच्छे-अच्छे व्यक्ति, जिन्हें खाने को अन्न मिलता है, पीने को पानी मिलता है, दूध मिलता है फिर भी वे मास खाते है, शराव पीते है, कितनी वुरी वात है! एक चलते-फिरते प्राणी को मारकर व्यक्ति अपनी आत्मा को पापो से कलुषित वना लेता है। शराव जैसी खराव चीज को पीना है। वह महुआ, जो पत्ते गिरने पर फलता है, उसकी शराव पीनेवालों की पत कैसे रहेगी? कितने समृद्ध परिवार इसके कारण वरवाद हो गये! आज जो नीची जातिया कहलाती है वे इन्हे छोड़ती जा रही है; वहां अपने को कुलवान् माननेवाले इसे अपनाने लगे हैं।

राजपूत मे रजपूती नही रही, महाजन में महाजनता नही रही, मुझे तो ऐसा लगता है कि मानव मे मानवता नही रही। वे धर्म को छोडते हैं, धर्म उनको छोड देगा। वे धर्म की रक्षा करेंगे, धर्म उनकी रक्षा करेगा। मनुष्य को चाहिए कि सत्य-अहिंसा और त्याग-तपस्या को अपनाकर जीवन उन्नत करे। इसी मे मानव जीवन की सफलता है।

घडसीसर
६ फरवरी, ५३

४. सच्चा धर्म

आज करीबन १० वर्ष बाद हमारा कालू मे आगमन हुआ है। उस समय श्री डूगरगढ से आना हुआ था और अब सरदारशहर से आना हुआ है। उस मार्ग से, जिस मार्ग से हम तो क्या, हमारे पूर्वज भी कभी नही आये। रास्ते मे छोटे-छोटे ग्रामो मे से आना हुआ। वहां के लोगो मे जो उत्साह और धर्म के प्रति भावना देखी इससे पता चलता है कि लोग आत्म-उत्थान करना चाहते है—जीवन सुधारना चाहते है पर उनको मार्ग दिखानेवाला नही मिलता। एक-एक दिन के उपदेश से नही, एक-एक घण्टा से भी नही, ५-५ मिनट के उपदेश-श्रवण से सैकडो व्यक्तियो ने जीवनभर तम्बाकू, शराब, मांस, शिकार आदि के त्याग कर दिये। आज भी कालू का यह इतना मानव समूह आत्म-उत्थान का मार्ग चाहता है और इसी के लिए एकत्रित हुआ है।

कुछ लोगों मे संकीर्णता की भावना हुआ करती है—यह धर्म उनका है और यह उनका। जिस प्रकार कि कुएं आदि पर लेबल लगा दिये जाते है—"हिन्दुओ के लिए", "मुसलमानों के लिए", "हरिजनो के लिए" आदि-आदि। पर क्या धर्म के दरवाजे पर भी कही लेबल मिलता है? हा—केवल एक लेबल मिलता है—"आत्म उत्थान करने वालो के लिए।" धर्म केवल आत्म-सुधार करनेवालों के लिए है, पतन करने वालो के लिए नही। उनके लिए संसार बहुत बडा है।

कहा जाता है, "धर्म की रक्षा करो, धर्म तुम्हारी रक्षा करेगा।' इसका तात्पर्य यह नही कि धर्म को बचाने के लिए अडंगे करो, हिंसाए करो, पर यह है कि धर्म को ज्यादा-से-ज्यादा जीवन मे उतारो, धर्माचरण करो, धर्म तुम्हारी रक्षा करेगा, तुम्हे पतन से बचायेगा। सिर्फ बड़े-बड़े तिलक लगाकर ही ब्राह्मण धर्म को नही बचा सकता और न शानदार पगडी पहनकर महाजन ही इसे बचा सकता है। मैं तो यहां तक कहूंगा कि आज तक किसी की यह ताकत नही कि धर्म को नष्ट कर दे। यह आत्मवस्तु है। इसको बचाने और बिगाडनेवाला तू ही है। अच्छाइयों को अपनाया तो धर्म बचा—आत्म-उत्थान हुआ। बुराइयों, अत्याचारो को अपनाया धर्म गंवाया—आत्मपतन किया।

धर्म वह महल है जो विश्वमैत्री की भीत्ति पर, सत्य और अहिंसा के खम्भो पर टिका हुआ है, जिसमे लिंग और रंग का विभेद नही है। निर्धन और धनिक का भेद-भाव नही है। तुम लोग सोचते होगे कि हमारे पास पैसा है हम ज्यादा धर्म कर सकेगे। पर याद रखो—धर्म धन से नही होगा। धर्म होगा अपनी आत्मा से। यदि धन से धर्म होता तो उसके मालिक धनवान् ही

५. अणुव्रत

आज कालू में अणुव्रत संघ का प्रचार दिवस मनाया जा रहा है। इसकी स्थापना हुए आज पूरे ४ वर्ष होते हैं। संयोग से यह एक ऐसा मौका मिला है, जिस दिन संघ की स्थापना की गई थी आज भी वही दिन है। आज इस समारोह में सभी जाति के व्यक्ति उपस्थित हैं। ओसवाल, माहेश्वरी, ब्राह्मण, जाट, नाई, राजपूत आदि सबको यहां से कुछ-न-कुछ लेकर जाना हैं। इसका मतलब यह नही कि उन्हें जैनी या तेरापन्थी बनना है। लोगो में एक संकीर्णता की भावना आ जाती है और शायद लोगो को यह कहा जाए कि तुम सब जैनी बन जाओ तो कोई इसे स्वीकार नही करेगा चाहे जैन धर्म कितना ही अच्छा क्यो न हो। फिर साधु ऐसा कहेंगे भी क्यों? जब कि १००-२०० व्यक्ति जैनी बन भी जायेंगे तो कौन-सा उनका भाग बटा लेंगे या नही बनेंगे तो कौन-सा कोना खाली रह जायगा? फिर भी व्यक्ति को सुधारने के लिए, उसका आत्म-उत्थान करने के लिए जो योजना बनाई गई है उसमे सन्देह की कोई आवश्यकता नही। और इसलिए तो इस योजना का नाम अणुव्रत-सघ रखा गया है। इसमें कही सकीर्णता की बू तक नही। किसी भी धर्म को दृष्टिगत करते हुए देखिये, इसके नियम उससे परे नही होंगे। वैदिक दृष्टिकोण से देखनेवाले के लिए ये नियम अपने ही धर्म के लगेगे। वैसे ही इस्लाम, क्रिश्चियन, बौद्ध आदि को भी।

बहुत से लोग ऐसा कह देते है—"नियम अच्छे हैं, पालने योग्य हैं, पालन करना चाहिए।" लेकिन जब उन्हें पालने के लिए कहा जाता है तब कहने लगते है—"है! हैं!! मुझसे नही पाले जाते।" क्यों? कौन ऐमा व्यक्ति है जो कल्याण करना नही चाहता? सब कल्याण चाहते है। फिर कल्याण करने के लिए उद्यत न होना आश्चर्य है। स्वत: तो कल्याण होगा नही। लोग स्वकल्याण न चाह कर पर-कल्याण देखना चाहते हैं! यदि उन्हें कल्याण करना है तो कुछ कठिनाइयां भी झेलनी पड़ेंगी—नियमो का भी पालन करना पड़ेगा। आज समय है नियमों के पालने का।

नियम भी ऐसे हों जिनसे दूसरों को प्रेरणा मिले। अन्यथा एक सत्तर वर्षीय वुड्ढा आकर कहे—"महाराज! मुझे दूसरा विवाह करने का त्याग दिला दें" इस कथन पर लोग हंसेंगे। धन्यवाद का पात्र वह है जो भरी जवानी में ब्रह्मचर्य-व्रत को स्वीकार करता है। एक वुड्ढा जिसके एक भी दांत नहीं, खोपर की तरह मुंह और कहे—"सुपारी खाने का त्याग दिला दे।" अरे जिससे सुपारी खाई नहीं जा सकती, उसे त्याग लेते देखकर लोग हंसेंगे ही। आज समय है जब कि लोगों में नाना प्रकार की बुराइयां घर कर गई हैं। ऐसे समय मे उन्हे छोड़ने वाला धन्यवाद का पात्र है।

कालू

१५ फरवरी, ५३ (अणुव्रत प्रचार-दिवस)

६. मन

व्यक्ति का जीवन सुधरे, इस तरफ उसे स्वय सचेष्ट रहना चाहिए। मनुष्य की पांच इन्द्रियां है और छठा मन है। मन को ऋषियो ने नाना प्रकार से सम्वोधित किया है। व्यक्ति यहां वैठा है, उसका मन कही से कही चला जाता है। यह वहां तक कैसे चला जाता है? कार से नही जाता, रेल से नही जाता, वायुयान से नही जाता। फिर कैसे जाता है? ऋषियो ने वतलाया है कि वह विना पख का पक्षी है। व्यक्ति मनोविकार और खुशी मे उछल पडता है, आस-पास वालो को उछाल देता है। इसलिए सत पुरुषो ने कहा—'यह विना लगाम का घोडा है।' जंगली हाथी वहुत तेज दौडते है। उन पर किसी तरह का अकुश नही होता, महावत नही होता। मन की ऐसी ही तेज रफ्तार को देखकर महर्षियों ने इसे विना महावत का मातग कहा है।

ऐसा मन, जिस पर विजय पाना कठिन है, उसे स्वतन्त्र छोड दिया जाए तो ठीक वही कहावत चरितार्थ हो जाती है—"जवानी और फिर धन।" एक तो जवानी की गरमी और फिर धन की, सत्ता की गरमी। इस स्वातन्त्र्य से मन विकारी वन जाता है। ऐसे मन को समझाना, प्रशिक्षित करना वहुत आवश्यक है। ऐसा करके ही व्यक्ति आगे वढ सकता है!

भवदेव और भावदेव दोनो एक सम्पन्न परिवार के सहोदर थे। वह परिवार सम्पन्न तो था ही, साथ ही धर्मप्रिय भी था। धन और धर्म दोनो का एक जगह मिलना वड़ा मुश्किल है। धनी व्यक्ति धनान्धता मे धर्म नही करता। गरीव की इच्छा होती है कि वह धर्म करे। किन्तु अपनी गरीवी के कारण वह तेल, नमक, लकड़ी के चक्कर से पीछा नही छुडा सकता। उनके परिवार मे धन और धर्मप्रियता दोनो ही थी। सोने मे सुगन्ध की कहावत चरितार्थ होती थी। माता-पिता सभी धर्मप्रिय थे। दादी तो उन सवसे दो कदम आगे थी। भवदेव धर्माभिरुचि की पराकाष्ठा पर पहुच गया। उसने दीक्षा ले ली। वह साधु वन गया, संन्यासी जीवन विताने लगा। एक दिन वह अपने गुरु से वोला—"मैं अपने गांव जाना चाहता हू।" गुरुजी ने पूछा, "क्यो?" प्रत्युत्तर मिला—"मै अपना कल्याण तो करता ही हू। मैं यह भी चाहता हू कि मेरा भाई भी अपना कल्याण करे।" गुरुजी ने आज्ञा देते हुए कहा—"अपने सन्यास का ख्याल रखना।" भवदेव गांव आये। वडी खुशी से आये। एक इच्छा लेकर आये—"मैं जैसा आतरिक आनन्द पा रहा हूं, वैसा ही मेरा भाई भी पाये।" गाव आने पर मालूम हुआ कि भाई आज ही शादी करके आया है। फिर भी उन्होने हिम्मत नही हारी और प्रयत्न जारी रखा।

संसारपक्षीय माता दर्शनार्थ आई। वोली, "महाराज! वड़ी गलती हुई। साधुओ के आगमन पर दो-तीन मंजिल अगवानी में जाती हूं। आपके दर्शन यहा भी देर से कर सकी।" मुनि ने कहा—"कोई वात नही।" भावदेव की वात चलाई। वुढ़िया ने वताया—"आज ही उसकी शादी हुई है।"

भावदेव वड़ी खुशी से भ्रातृ-मुनि के दर्शन करने आया। मुनि ने पूछा—"शादी कर ली।" भावदेव वोला—"हां।" मुनि ने कहा—"फंस गया जाल में? वन्ध गया वन्धन मे? अव भी तो छूट। सांसरिक सुखो में कुछ नही है। अपना कल्याण कर। आत्मरमण कर।" जवाव मिला—"महाराज! मैंने समझा नही। आप क्या कहते हैं।" मुनि वोले—"साधु वन जा। इन झंझटो से मुक्ति पा।" उन्होंने संसार की अनित्यता वतलाई। कुछ वैराग्य से और कुछ वडे भाई के संकोच से भावदेव ने 'हां' भर ली। अपवाद यह रहा कि अनुमति कैसे मिलेगी। "सवकी अनुमति दिलाना मेरा काम है" मुनि ने कहा। माता ने सहर्ष अनुमति दे दी। नव विवाहिता वहू से माता ने अनुमति के लिए कहा। उसने भी हां भरते हुए कहा—"यदि वे दीक्षा ले तो मेरी सहर्ष आज्ञा है। मेरा विचार दीक्षा का नहीं है। मैं श्राविका-धर्म का पालन करूंगी। आप उन्हें समझा देना। वाद में साधुपन न पला तो मेरे घर मे जगह नही है। मुझसे उनका कोई सरोकार नही रहेगा।" माता वोली—"वहू! ऐसा क्यों वोलती हो? एक भाई साधु है ही; वह अच्छी तरह साधुपन पालता है। यह भी पाल लेगा।" वहू ने कहा—"पाल लेंगे तो मैं प्रसन्नता पूर्वक आज्ञा देती हूं।"

भावदेव दीक्षित हो गया। दोनों भ्रातृ-मुनि गुरु के पास आये। वंदना की। भावदेव साधु-जीवन विताने लगा। वह किसी तरह की गलती नहीं करता। उसके मन में भाई का संकोच था। पर साधुपन का रंग उसकी रग-रग में जमा नही, रमा नही। वह सोचता—मैं कहां आ गया, कव गांव जाऊंगा। विकार उत्पन्न हुआ, पर भाई का संकोच था। प्रतिज्ञा की—भाई के जीते जी घर नही जाऊंगा, साधु ही रहूंगा। अव यही धुन रहती कि कव भाई मरे, कव घर जाऊं?

एक दिन एक ज्योतिषी आया। भावदेव के मन मे आया "भाई कव मरेगा" ज्योतिषी से कैसे पूछूं? युक्ति सूझी। पूछ वैठा "मुझे भाई का कितना सुख है?" ज्योतिषी ने वताया—"वहुत वर्ष वाकी है।" यहां तो एक-एक क्षण वर्ष की तरह वीत रहा है और उधर वहुत वर्ष वाकी है! क्या किया जाए? कव भाई मरे, कव गांव जाऊं? उनके रहते कैसे जाऊ?

पूरे १२ वर्ष वीत गए। भाई को वीमारी ने आ घेरा। विकट वीमारी। भावदेव ने डाक्टर से पूछा—"नाड़ी कैसी है।" "कमजोर है"—डाक्टर ने कहा। मन मे खुशी हो रही थी। किन्तु ऊपर से वड़ी उदासी

दिखाई। रात्रि के १२ वजे शरीर ठण्डा होने लगा मुनि भवदेव के प्राणपखेरू उड़े और भावदेव आजाद हो गए। मुनि भवदेव स्वर्गवासी हो गये। अव भावदेव को रोकने वाला कौन था ? शर्म किसकी थी ? वहुत दिनो की आशा पूर्ण हुई और उसने सुख की सांस ली।

सुवह होने वाली थी। लोग मृत शरीर का जुलूस निकालने के कार्यक्रम मे व्यस्त थे। भावदेव अपनी योजना वना रहा था। उसने नवीन वस्त्रो की गठरी वांधी, फटे-पुराने धर्मोपकरणो को छोडा; पर साधु-वेश नही छोडा। सूर्योदय से पूर्व ही उसने यात्रा का श्रीगणेश कर ग्राम का रास्ता लिया। वह सोचता जाता था कि घर कैसे जाऊंगा, पहले कहां ठहरूंगा। इसी प्रकार विचारो का तानावाना वुनता रहा।

सूर्योदय होने को था। गुरुजी ने देखा—आज भावदेव नही दीख रहा है। फिर सोचा कार्य-निमित्त वाहर गया होगा। इन्तजार किया। वह नही आया। उसके नये उपकरण भी नही थे। सोचा—चला गया होगा। पर विचार था कि १२ वर्ष का पुराना साधु जिसने कोई गलती नही की, जिसकी कभी कोई शिकायत नही आई, कैसे चला गया ?

भावदेव विचारो मे लीन हो चला जा रहा था। चलते-चलते ग्राम आया। "सीधा घर कैसे जाऊ ?"—यह प्रश्न उसके मन मे वार-वार उठा। आखिर गांव के वाहर एक रमणीक वाग मे उसने डेरा डाल दिया।

उद्भ्रान्तमना भावदेव मुनि वेष मे खडा है। विचार करता है कैसे घर जाया जाए। माता जीवित है या नही। यदि वह जीवित होगी तो मुझे घर मे घुसने नही देगी, किससे पूछा जाय ? इस तरह भावो की उथल-पुथल चल रही थी। संयोग ऐसा मिला कि नागला (इनकी पत्नी) अपनी सहेलियो के साथ कही जा रही थी। उसने मुनि को देखा। उसे वडा हर्ष हुआ। "धन्य भाग्य जो आज सन्त-दर्शन हुए।" उसने दर्शन करने के लिए सहेलियो से चलने को कहा, पर उन्होने टाल दिया। नागला अकेली ही दर्शन को चली। आई और दर्शन कर उसने पूरे तीन वार प्रदक्षिणा दी तथा सुखसाता — कुशल-क्षेम पूछी।

मुनि अकेले कैसे ? अकेला रहना उन्हे कल्पता नही। गुरु की आज्ञा होगी। साधु अकेली स्त्री से वात करते ही नही। दूर से कहते है—"हमे कल्पता नही है।" इन्होने तो कुछ कहा ही नही। दाल मे काला तो नही है ? नाना प्रकार के प्रश्न चित्रपट की तरह आंखो के सामने नाचने लगे।

व्यक्ति अपने सवसे ज्यादा प्रिय व्यक्ति का वुरा फौरन सोच लेता है। नागला ने सोचा कि कहीं मेरे पति तो नही हैं। फिर सोचा, "मेरे विचार असत्य हो। होगा कोई, मुझे क्या ? क्यो सोचू ? सहेलियां इन्तजार करती

होगी।" यह सोच चलने लगी। फिर सोचा—बात का पूरा पता लगाना चाहिए।

इधर मुनि ने सोचा—"यह औरत आकर चली जा रही है, क्यो न इसी से सब बात पूछी जाए।" मुनि ने आवाज दी। जवाब मिला, "महाराज ! मै अकेली हू।" मुनि ने कहा, "ऐसी क्या बात है, तुम दरवाजे के बाहर खडी हो, मै भीतर हू।"

नागला ने नजदीक से देखा। सन्देह हुआ कि पति ही है। खैर हुआ सो हुआ। यदि वे ही है तो मैं उन्हे सही रास्ते पर लाकर ही छोड़ूगी। घर तक पहुचने न दूगी। यह उपकार की भावना सच्चे उपकार की भावना है। व्यक्ति भूखे को रोटी खिलाता है। प्यासे को पानी पिलाता है। गरीब को आर्थिक सहायता देता है। रोगी को दवा देता है। यह उसका लौकिक व्यवहार है। नामवरी की भावना से भी यह सब किया जा सकता है। लेकिन गिरते को उठाना, पापी को पवित्र बनाना सच्चा उपकार है।

नागला ने मुनि से कहा—"क्या आज्ञा है, महाराज !" मुनि ने कहा, "तुम्हारे इस सुग्राम मे बडे-बडे श्रावक थे। एक प्रसिद्ध श्राविका भी थी उसका नाम था रेवती, भावदेव की माता। अब वह जीवित है या नही ?"

नागला ने सोचा—"यह सब नाम तो मेरे परिवार मे ही है। जवाब कुछ सोच-विचार कर देना चाहिए।" एक बार वह असमजस मे पड़ गई। फिर बोली—"महाराज ! मै याद कर रही हू, कौन रेवती है। नगरी बड़ी है, यहा कई रेवती है।"

इस तरह नागला ने बड़े सोच-विचार के बाद जवाब दिया। अपना कुछ भी भेद न देती हुई वह मुनि का भेद ले लेती है। विचार के बाद उसने बताया, "मै रेवती को जानती हू। बड़ी नामी श्राविका थी। उसके बराबर श्रावक व्रतो मे कोई मजबूत नही है। ब्रह्मचर्यव्रतधारिणी, रात्रि को चौविहार का त्याग और भी नाना प्रकार के त्याग प्रत्याख्यान उसने किए थे।"

मुनि को तो जल्दी लग रही थी यह जानने की कि वह जीवित है या नही। नागला इसे टालती जाती थी। बडे घुराव के बाद वह जवाब देती।

मुनि ने कहा—"यह तो मैं जानता हू कि वह बडी पक्की श्राविका थी। अब वह जीवित है या नही ?" नागला ने बताया—"वह अब जीवित नही है। उसे देवलोक प्राप्त हुए कई वर्ष हो गए।"

मुनि ने सुख की सास ली। न अब भाई कहनेवाला है, न माता। वह दोनो तरफ से आजाद है। पर यह तो पूछ लू कि मैं जिसके लिए आया हूं, अब वह जीवित है या नही। बदनामी के पीछे कुछ स्वार्थ तो सधे। जूठा भी खाए, पर वह जब मीठा हो तब न ? बदनामी हो और काम भी न बने, यह ठीक नही। वह कुछ और पूछने लगा कि इतने मे नागला बोली—"महाराज !

मत्थयेण वन्दामि ।" मुनि ने कहा—एक बात फिर पूछनी है । रेवती के लड़के की वहू थी वह अब जीवित है या नहीं ?"

नागला ने मन ही मन कहा, "आई बात समझ मे । मेरे लिए ये आतुर हैं ।" उसने थोड़ा क्रोध दिखाते हुए कहा—"महाराज ! आप कैसी बाते करते हैं ? कभी रेवती जीवित है या नहीं, कभी नागला जीवित है या नहीं । क्या मतलब है आपको स्त्रियों से ? साधु पूछ सकता है—आहार पानी का संयोग कहां होगा ? लोगो में धर्म-ध्यान की रुचि कैसी है ? सो तो नहीं, अमुक जीवित है या अमुक मर गई । मुझे शक होता है कि आप साधु नहीं हैं ! अन्यथा ऐसी बातो से क्या प्रयोजन ?"

मुनि ने सोचा कि बात आगे न बढ़ जाए इसलिए वह बोला—"वाह ! मैं पूछू और बिना मतलब । वह मेरी पत्नी है । इसीलिए मैंने पूछा ।"

नागला बोली, "महाराज कैसी अविचारपूर्ण बातें करते हैं ? मैंने न कभी सुना, न देखा, कि जैन साधु की भी पत्नी होती है । हां, कई घर-गृहस्थीवाले साधु—नाथ, योगी, वैरागी होते हैं, पर जैन साधु की कभी पत्नी नहीं सुनी ।"

मुनि ने सोचा अब बात छिपानी नहीं चाहिए । वह बोला, "मेरा नाम भावदेव है । १२ वर्ष पूर्व की बात है । मैं शादी करके आया ही था । उसी समय मेरे बड़े भाई ने, जो मुनि थे, मुझे सांसारिक बन्धनो से मुक्त रहने का उपदेश दिया । उन्होंने कहा—'सांसारिक फंदे में मत पड़' । मैं उस समय कांकण-डोरडे' के फंदे मे बंधा हुआ था । भाई ने आग्रह किया तो मैंने उसे तोड़ डाला और साधु जीवन स्वीकार कर लिया ।" नागला बीच मे ही पूछ बैठी, "तो क्या आपको जबरदस्ती साधु बना लिया गया ?" मुनि ने कहा "नहीं, मेरी रजामंदी थी मैं भाई की बात न टाल सका ।"

"तो अब भाई का क्या हुआ ?" नागला ने मुनि से पूछा ।

"वे भी वहां पहुंच गए जहां रेवती चली गई ।" मुनि ने उत्तर दिया ।

"अच्छा, १२ वर्ष बिताये तो अब फिर क्या है ?" नागला बोली ।

"बस पूछिए मत, एक-एक क्षण वर्ष की भांति बीता, अब नहीं रहा जाता ।" मुनि संकोच का परदा उतार कर बोला ।

कैसी बात कर रहे हैं मुनिजी ! आपको शर्म नहीं आती । साधु-वेष लजाते हो ? उतारो इन वस्त्रो को, अपने मुह की भी मक्खियां नहीं उड़तीं, नागला के लिए मुंह धोकर आए हो । नागला, तन-मन से आपकी वांछा नहीं करेगी । वह मेरी सहेली है । उसने रेवती की ठोकर खाई है । वहां तक न जाकर यहीं से लौट जाइये ।"

कैसी-कैसी गुणवती स्त्रियां होती है । एक तरफ पुरुष जो पात्र कहलाता है, पतित हो रहा है और दूसरी तरफ स्त्री उसे पावन बनाने की

कोशिश कर रही है। पुरुष गिर रहा है, स्त्री उठाने की कोशिश कर रही है। इतिहास के पृष्ठ के पृष्ठ ऐसे उद्धरणों से भरे मिलेंगे। यह महिला-समाज के लिए गौरव की चीज है। यह उनकी सद्गुण-प्रियता और धर्मनिष्ठा का परिचय है। आज भी जितनी संख्या 'सतियों' की मिलती है, 'संतों' की नही मिलती है।

"जा ! जा !! देख लिया तेरे मुह का रूआव। तू जानती है दूसरों के मन की वात ? मैं जिस नागला को क्षणभर भी नही भूलता, अवश्य वह हर वक्त मेरे लिए कौए उडाती होगी। भला, स्त्री के लिए पति के सिवा और है ही क्या ?" भावदेव ने नागला से कहा जिसे वह अव तक भी न पहचान सका।

"अच्छा ! विना नमस्कार किए ही चलती हूं। आप साधु नही है, मैं पक्की श्राविका ठहरी," नागला वोली।

"जा ! जा ! मुझे चाह नही है तेरे नमस्कार की।" भावदेव ने प्रत्युत्तर दिया।

चिन्तातुर नागला घर की ओर चली। क्या किया जाए ? नाड़ी विल्कुल धीमी पड़ चुकी है। प्राण जानेवाले हैं। नाममात्र का साधुवेप है। मैं क्या करूगी, घर आ ही गए तो ! वह इसी उधेडबुन मे घर पहुंची। कुछ हल निकाला जाए। अपनी विश्वासपात्र पड़ोसिन के पास गई। सारी वात कह सुनाई। सलाह-मशविरा कर सारी योजना वनाकर दोनो उस वाग मे पहुची जहा मुनि ठहरे थे।

मुनि ने सोचा "अव यहां क्या करना है ? घर चलू।" वह रवाना होना ही चाहता था कि इतने मे नागला अपनी सहेली के साथ आ पहुंची और वोली—"मुनिराज ! हम यहां सामायिक करना चाहती है। आपको कोई कठिनाई तो नही होगी ?

भावदेव उनके सामने अपने घर जा नही सकता था इसलिए उसने कहा—यहां कोई भाई नही है। तुम सामायिक कैसे करोगी ? नागला वोली —"हम दो है। हमे यहां रहना कल्पता है।" ऐसा कह उन्होने दो सामायिक स्वीकार ली।

"अव क्या किया जाए इतनी देर और रुकना पड़ेगा।" भावदेव विचार मे पड गया। इतने मे एक वच्चा भागा-भागा आया और वोला— "मा ! ओ मा !!" और नागला की गोद मे आने लगा।

"ना वेटा ! मेरे सामायिक है।" माता ने कहा।

"मा ! ओ मां !! एक वात कहू" और वह गोद मे आ ही गया। माता पहले गोद मे आने के लिए मना करती थी। अव पुचकारने लगी, दुलारने लगी। कहो, वत्स ! क्या वात है ?"

मुनि मन ही मन सोचने लगा—कैसी मूर्ख स्त्री है। अभी-अभी मना कर रही थी। अव दुलार रही है।

वच्चा वोला, "मां ! आज तूने खीर वड़ी अच्छी वनाई थी। खाने में स्वादिष्ट, केशर की गंध, वादाम, नोजा, पिस्ता, चिटकी आदि के मिश्रण से वड़ी अच्छी खीर वनी। मैं खाने वैठा और खाता ही गया। सारी खीर खाली। पर मां ! उसी समय वमन हो आई। सारी खीर खाई वैसे ही वाहर निकल आई। मेरे हाथ पैर सभी उससे सन गए !"

"फिर क्या किया ?" माता ने प्यार से पूछा।

"मां ! करता क्या ? खीर वड़ी सुस्वादु थी। गवाई जा नहीं सकती थी। वमन में निकली खीर को मैं फिर चाट गया। मा ! वह वडी स्वादिष्ट लगी। चाटते-चाटते हाथ पैरो को साफ कर दिया।"

माता ने वात्सल्य-भाव दिखाते हुए कहा—"वहुत अच्छा किया वेटा ! खीर गवांई नही। भला छोडी भी कैसे जाती ?"

मुनि से न रहा गया। एक तरफ ये घिनौनी वाते ! ऊपर से माता का प्यार ! वच्चे ने कुत्ते का काम किया और फिर दुलार—समर्थन ! कैसी उल्टी गंगा वह रही है ! वह वोल पडा, "तुम कितनी मूर्ख हो ? यदि वच्चे के द्वारा कोई अच्छा काम होता तो सराहना भी करती।"

नागला इसी क्षण की प्रतीक्षा मे थी। वह वोली—यह तो वच्चा है। आप तो समझदार है। क्या आपका मन वमन चाटने के लिए नही ललचा रहा है ? वमन की तरह छोडे काम-भोगो को चाटने जा रहे हो ! जिस नागला के लिए आप इतनी मूर्खता कर रहे हो, वह मैं ही हूं। मुझे अपनी सास से संस्कार मिले हैं। मेरे लिए आपने साधुत्व छोड़ दिया तो न घर के रहेगे और न घाट के।"

मुनि की आंखे खुल गईं। यही है नागला। मैं वडा नीच हूं। कहां मैं मुनि था, कहां भ्रष्ट होने जा रहा हूं। उसने कहा—"मैं इन कामभोगो को आजीवन के लिए ठुकराता हूं। आज तुमने मुझे सत्पथ पर ला दिया। इसके लिए मैं तुम्हारा आभारी हू। पर गुरु के पास कैसे जाऊं ? मै विना आज्ञा आ गया था।

नागला ने कहा, "चलिए। किसी वात का डर नही है।" वह उन्हें गुरु के पास लिवा लाई। सारी वात वताई। भावदेव ने अपनी गलती का प्रायश्चित्त स्वीकार कर पुनः साधु-जीवन मे रमण किया और अन्त में स्वर्ग-सुखो को प्राप्त किया। वही भावदेव अगले जन्म मे जम्बूकुमार हुआ जिसने अति उच्च वैराग्य-वृत्ति से साधुपन लिया और भगवान् महावीर के तीसरे पट्टधर हो मुक्ति प्राप्त की।

लूणकरणसर
२२ फरवरी, ५३

७. संतों का स्वागत क्यों ?

किसी भी गांव या शहर में सन्तों का आगमन होता है तो लोग उनका स्वागत करते हैं। क्यों ? किसी नेता के स्वागत से स्वार्थ सध सकता है पर अकिंचन साधु किसी को क्या देंगे ? यह एक रहस्य है। वास्तविकता है कि जो चीज अमीरों के पास नहीं वह फकीरों के पास मिल सकती है। आज दुनिया सुख और शान्ति चाहती है। कोई दुःखी बनना नहीं चाहता। दुःख की ओर मुख करने की कामना कौन रखे ? पर सुख भी कैसे मिले ? यह एक समस्या है। दुःख बहुत बड़ा रोग है। डाक्टर इलाज करते हैं बाह्य रोग का, पर इस आन्तरिक रोग का इलाज कैसे हो जो एक घर नहीं, एक गांव नहीं, एक शहर, एक प्रान्त या एक देश नहीं, जन-जन में, अखिल विश्व में फैला हुआ है और जिसका परिणाम है अशान्ति और आत्मक्लेश। वह रोग है बुराइयों का। लोग नाना प्रकार के व्यसनों में पड़कर अपनी आत्मा के साथ धोखेबाजी कर रहे हैं। कोई धुआं निकाल रहा है, तो कोई गाजा पीकर मस्त बना हुआ है। कोई शराब से दिमाग खराब कर रहा है तो कोई मांस खाने का शौकीन है। चोरी, जुआ, व्यभिचार आदि और भी अनेक दुर्गुण हैं, जिनके कारण मानव, दानव बन रहा है। इस रोग का इलाज भला डाक्टर कैसे करें ?

बहुत से शिक्षित या अर्द्धशिक्षित व्यक्ति तो यहां तक कह देते हैं कि इन बुराइयों का मूल धर्म है। धर्म के कारण हम पराधीन हुए और धर्म ही के कारण हमारी यह हालत हुई। आज हम गिर गए। किन्तु यह ठीक नहीं। धर्म कभी किसी को गिरा नहीं सकता। व्यक्ति का अपना असद् आचरण ही उसे गिराता है। धर्म जिसमें मैत्रीभाव, समता, संतोष, सत्य, अस्तेय आदि चीजें हैं, कभी भी दुःखप्रद नहीं हो सकता। पर किसी हद तक उनका कहना सत्य भी है। धर्म को बदनाम करने वाले भी कुछ व्यक्ति हैं, जो धर्म की आड़ में स्वार्थ साधते हैं, पेट-भराई करते हैं। यही नहीं, वे धर्म के नाम पर कुर्सी प्राप्त करना चाहते हैं, "वे कहते हैं—अरे भाइयो ! आप अपना वोट हमें दें, अन्यथा धर्म खतरे में हो जाएगा। हम धर्म की रक्षा करेंगे।" मानो धर्म की पतवार उन्हीं के हाथ में है। धर्म के रक्षक वे ही हैं। पता नहीं इस तरह वे किसकी रक्षा करते हैं।

मैं जिस रोग की बात करने जा रहा हूं वह है आभ्यन्तरिक रोग, बुराइयों का रोग। इसकी चिकित्सा सन्त लोग करते हैं। हमारा आगमन भी इसी उद्देश्य से हुआ है। हम त्याग की ऐसी अमोघ औषधि लेकर आए हैं; जिससे जनता इस रोग से मुक्त हो सकें। यही वह रहस्य है जिसके लिये लोग संतों का स्वागत करते हैं, उनके आगे सहसा उनके मस्तक नत हो जाते हैं।

लूणकरणसर
२२ फरवरी, ५३

८. सामायिक

सामायिक जैनो की आध्यात्मिक क्रियाओ का एक अग है। अन्य धर्मावलम्वी जैसे सध्या-वन्दन आदि में दो-एक घड़ी लगाते है इसी तरह जैन श्रावक सामायिक करते है।

सामायिक मे व्यक्ति एक मुहूर्त के लिए साधु-सा वन जाता है। सासारिक परिग्रह आदि झंझटो से मुक्त रहता है। प्रत्येक व्यक्ति का यह लक्ष्य होता है कि उसे मुक्ति मिले। मुक्त होने के लिए साधु वनना, साधुत्व का आना जरूरी है। सामायिक साधु वनने का प्रयास है। प्रत्येक व्यक्ति की आन्तरिक आकाक्षा यही रहनी चाहिए कि उसके जीवन में वह दिन धन्य होगा जव वह भी साधु वन कर्म वर्गणाओं से मुक्त हो जाएगा।

ऐसे भी व्यक्ति इस ससार मे हैं, जो सामायिक के नाम से घवराते हैं। वे नही जानते कि सामायिक की दो घडी इतनी उपयोगी है जितनी कि हाथ मे पकड़ी दो अंगुल डोरी। कुए मे डोरी बांधकर डोल से पानी निकालते हैं। सारी डोरी कुए मे चली जाती है, सिर्फ एक-दो अंगुल डोरी हाथ मे रहती है और उसी से वह डोल कुए मे से निकाल ली जाती है। यदि यह सोचकर कि क्या है दो अगुल ही तो है। वह दो अगुल डोरी भी छोड़ दी जाय तो? डोल कुए मे गिर जाती है, वडी मुश्किल से निकाली जाती है। इसी तरह यह दो घड़ी धर्म की शेष ५८ घडी का मुकावला कर सकती है। व्यक्ति को गिरने से वचा सकती है। ऐसे समय मे जव कि मानव अपना समय व्यर्थ मे खो रहा है, अपना जीवन व्यर्थ मे गवां रहा है, सद्गुरु उसके कान उमेठ रहे है।

व्यक्ति जो त्याग-प्रत्याख्यान करता है उसके प्रति सजग रहे। मुसीवत में भी उसका पालन करे। कुछ ऐसे व्यक्ति भी है जो रोजाना एक सामायिक करते है, चाहे उन्हे इसके लिए गाड़ी का समय भी क्यो न वदलना पडे। वंगाल-आसाम से आना होता है, ५-५, ६-६ दिन के सफर होते है। फिर भी रास्ते मे सामायिक करते है। एक नहीं अनेक ऐसे उदाहरण मिलते है। श्रावक रूपचन्दजी ने लाखो रुपया खर्चा कर हवेली वनाई पर पानी कभी अनछाना नही लगाया। रात को पानी का भी प्रवन्ध नही रखा। कितनी जागरूकता रखते थे। इस प्रकार अन्य व्यक्ति भी जागरूक रहे।

व्यक्ति अणुव्रती बने या महाव्रती दोनो रास्ते प्रशस्त हैं। वड़े नियम न पाल सके तो छोटे ही पाले। छोटो को पालना वडो की ओर वढने का प्रयास है, धीरे-धीरे उन्हे अपनाने की कोशिश करे और अपनाए।

सामायिक का मतलब है एक मुहूर्त के लिए पापकारी कर्मों का त्याग और समता की साधना। किसी भी व्यक्ति से द्वेप-भाव न रखकर स्व-तुल्य समझना। मनुष्य तो क्या पानी; वनस्पति, अग्नि, तिर्यंच आदि सभी जीवो के प्रति मैत्री भाव रखना और इसी क्रम को वढ़ाते-बढ़ाते साधु वनकर मुक्त हो जाना, परमात्मपद को प्राप्त कर लेना।

लूणकरणसर
२५ फरवरी, ५३

१. मुक्ति क्या है ?

आज दो व्यक्ति—एक भाई और एक बहन इस असार संसार की धधकती अग्नि से निकल कर सुख की सांस लेने जा रहे हैं। वे ज्ञान और आचार के सहारे अपनी आत्मोन्नति करते हुए स्व-कल्याण तथा पर-कल्याण करेंगे।

ज्ञान और आचार दोनो ही आत्मोपयोगी तत्त्व है। ज्ञान को हम आख कहे तो आचार को पैर कहा जा सकता है। दोनो ही आवश्यक अङ्ग हैं। ज्ञान की कमी तो हो भी सकती है पर आचार की विशुद्धि अत्यावश्यक है। आचार का स्थान प्रथम है। आचारभ्रष्ट का ज्ञान कोई मूल्य नहीं रखता।

ये दोनो ज्ञान और आचार के सहारे अपनी आत्मा को विशुद्ध बनाएगे। मुक्ति और है ही क्या ? आत्मा की पूर्ण विशुद्धि ही तो मुक्ति है। सारे कर्म बन्ध टूट कर उसका सत् स्वरूप निखर आता है; बस यही मुक्ति है।

लोग पूछेगे—"क्या बिना साधु बने मुक्ति नही मिल सकती ? गृहस्थों मे भी तो मुक्ति पाने के उदाहरण मिलते है।" मै उन्हे बता देना चाहता हूं कि गृहस्थ की मुक्ति हो सकती है पर तभी जब भावो में साधुत्व उतर आए। गृहस्थ का वेश मुक्ति मे बाधक नही है। बाधक है गृहस्थपना। वह छूट जाये तो किसी भी क्षण मुक्ति संभव है।

जब कि संसार नाना प्रकार के व्यसनों मे फंसा बुराइयो की भट्टी मे जल रहा है, ये दोनो शाति की ओर अग्रसर हो रहे है, एक बहुत बड़ा त्याग करने जा रहे है। ये आजन्म अहिंसक, सत्यवादी, अचौर्य व्रतधारी, ब्रह्मचारी, अपरिग्रही बनने जा रहे है। दूसरे शब्दो मे ये मेरु के समान ऊचे पांच महाव्रत को अपना रहे है। क्या आप लोग मामूली त्याग-प्रत्याख्यान भी नहीं कर सकेगे ? अपने जीवन की कम से कम एक बुराई को तो इसके उपलक्ष मे छोड़ ही सकते है। यह आप लोगो के लिए शायद बड़ी बात नही होगी। देखें कितने व्यक्ति अपने को बुराइयो से बचाने की प्रतिज्ञा करते है ?

लूणकरणसर,
२६ फरवरी' ५३ (दीक्षान्त भाषण)

१०. मानव-जीवन की मूल्यवत्ता

[१]

वनिये वड़े चतुर होते है। वे सहज मे धोखा नही खाते। एक वार अकवर वादशाह ने बीरवल से कहा—"सवसे ज्यादा सयाना कौन और सबसे ज्यादा भोला कौन ?" वीरवल ने कहा—"सयाना तो वनिया है और भोला है आपका गुरु-मौलवी।" वादशाह क्रोधित हो उठा—"मेरे गुरु का अपमान ! तुम्हे प्रमाण देना पडेगा।"

वीरवल ने कहा—'ठीक है। आप स्वय कुछ मत वोलिए। अभी प्रमाण देता हूं।' एक मौलवी को वुलाया गया। वीरवल ने उससे कहा—"तुम अपनी दाढी काटकर दे दो, वादशाह को जरूरत है। जितनी इसकी कीमत हो, ले लो।"

मौलवी ने सोचा—"वादशाह से वढकर कौन होगा ? कीमत भी इसकी क्या हो सकती है ?" कहा—"इसकी कीमत चार आने है। "हजामत कर दी गई। सारी दाढ़ी वादशाह के पैरो पर थी। वादशाह नही समझ सका कि वीरवल क्या कर रहा है।

अव एक वनिया को वुलाया गया। उससे भी वही वात कही गयी जो मौलवी से कही गयी थी। वनिये ने कहा—"मैं भी वादशाह का हू और यह दाढ़ी भी। कीमत की क्या वात है ? और यदि देनी है, तो फिर कीमत भी वता दू। एक वार मैंने यह दाढी उतारी थी, जव कि मेरी मां मरी थी। पूरे २५ हजार का खर्च ओसर-मोसर आदि मे हुआ था। दूसरी बार पिताजी मरे तव दाढ़ी उतारी। उस समय पूरे ३१ हजार का खर्च हुआ। इस तरह ५६ हजार तो इसका खर्च लग चुका है। और आगे जाकर इसकी कीमत क्या पड़ेगी पता नही। अभी तक तो ५६ हजार रुपये ही कीमत हुई है।" ५६ हजार रुपये राज-कोप से दिए गए। वनिया फिर वोला, "दाढी कटाने से वाजार मे मेरी इज्जत न गिर जाए, इसलिए इस आशय का 'रुक्का' लिख दीजिये ताकि आल-औलाद तक मेरी इज्जत बनी रहेगी।" ऐसा रुक्का भी लिख दिया गया।

अव वनिया दाढ़ी उतरवाने वैठा। मन में सोच रहा था दाढी किसी तरह वच जाए। हजाम ने उस्तरा चलाया और वनिये ने हजाम पर हाथ चलाया। कहा, "मूर्ख समझता नही। वादशाह सलामत की दाढी उतर रही है और सावधानी नही रखता।" वादशाह असमंजस मे पड गया। वोला—"मेरी दाढी कहां उतर रही है ?" वनिया वोला, "जहांपनाह ! मैं तो इसे

आपके हाथ वेच चुका हू । अव दाढ़ी आपकी है ।" वादशाह को कहना पड़ा कि मुझे दाढ़ी नहीं कटानी है । वनिये ने कहा—"आपकी मर्जी है, चाहे इसे रखें या कटवायें ।" इस तरह वनिया विना दाढ़ी कटवाये रवाना हो गया ।

वीरवल ने वादशाह से कहा—"देखा हूजूर ! वनिया कैसा होशियार होता है ! रुपये ले गया, आल-औलाद की इज्जत का रुक्का ले गया और सव से वड़ी वात यह है कि दाढी भी ले गया । एक तरफ इन मौलवी साहव को देखिए । इतने भोले है कि चार आने मे दाढ़ी वेच दी ।"

दाढ़ी की कीमत वसूलने वाले चतुर वनिये की तरह जो व्यक्ति मनुष्य-भव की पूरी कीमत आंकता है वह उसे तुच्छ वैपयिक आनन्द के लिए व्यर्थ ही न्योछावर नही करता । वह उससे पूरा आत्मिक लाभ उठाता है इसलिए वही परम विवेकी पुरुप है ।

[२]

चार वनिये विदेश कमाने गए । खूव धन कमाया । एक-एक के हिस्से मे १००० सोने की मोहरें आई । वे वापस देश के लिए रवाना हुए । पुराना समय था । ट्रेन आदि वाहनों की सुविधा नही थी । पैदल सफर हुआ करता था । दिन तो अधिक अवश्य लगते पर स्वास्थ्य ठीक रहता । कभी ५ कोस तो कभी ७ कोस चल लेते । एक दिन गात्र मे ठहरे । रसोई का समान एक मोदी से खरीदा । भोजन से निवृत्त हो आराम किया । दूसरे दिन अगले गांव पहुंचे ।

एक वनिया जो कि अपने को ज्यादा चतुर समझता था, वोला, "हिसाव करके तो देख लें । कही पिछले गाव मे मोदी को ज्यादा तो नही दे दिये । हिसाव किया । एक कागणी नाणा (पौन पैसा) ज्यादा दे दिया था । वापस जाकर उसे लाने की वात सोची गई । साथियो ने कहा, "क्या है, जो पौन पैसे के लिए वापस ५-७ कोस जाएं ? हम नही जायेंगे । पौन पैसे मे एक हिस्सा ही तो तुम्हारा है तुम हम लोगों से ही पौन पैसा ले लो ।" उसने कहा—"नही, तुम मूर्ख हो । वह वनिया ही क्या जो हिसाव में भूल कर दे । वनिया रोकड़ मे एक पैसे की भूल निकालने के लिए चार पैसे का तेल जला देता है । हमे भी पौन पैसे को छोड़ना नही चाहिए ।" साथियो ने हंस कर कहा—"हमे वापस नही लौटना है । तुम जाओ तो तुम्हारी इच्छा । उसमे से हमारा हिस्सा भी तुम ही ले लेना ।"

वनिया रवाना हुआ । साथियो से वोला, "यह १००० मोहर तुम रख लो ।" पर साथी खतरा उठाने के लिए तैयार न हुए । वनिया चला । रास्ते मे सोचा, "मोहरो का भार कौन ले जाएगा ? इस वृक्ष के नीचे गाड दूं । कौन देखता है ? चारो तरफ देखा, कोई व्यक्ति वहा नही था । उसे क्या पता कि दो आंखें ऊपर से उसे देख रही हैं । वह ऊपर देखता ही क्यों ? वृक्ष पर एक ग्वाला था । वनिया ज्योंही आगे चला, ग्वाला मोहरें लेकर चपत हुआ ।

गाव पहुंच कर उसने मोदी को भूल बताई। मोदी कागणी-नाणा देने लगा। बनिया बोला—"इस तरह क्या धर्म मे दे रहे हो? रोकड़ देखो, हिसाब मिलाओ, फिर दो।" मोदी बोला—"क्यो देर करते हो? तुम्हे भी देरी होगी, ये ले जाओ अपने पैसे।" पर बनिया न माना। हिसाब किया और कांगणी-नाणा लेकर खुशी-खुशी रवाना हुआ। वृक्ष के नीचे आकर देखा तो धन लापता था। बड़ा दुःख किया, रोया, पर अब क्या होने को था? मोहरें ग्वाले के घर पहुच चुकी थी।

यह मनुष्य-भव मोहरों के समान अमोल है। इसे भौतिक सुख रूपी कागण-नाणा के लिये यो ही गवा देनेवाले से बढ़कर और कौन मूर्ख होगा?

चाडवास
६ मार्च '५३

११. सत्संग

व्यक्ति जन्म लेता है। बडी खुशियां होती है। वह वडा होता है, शक्ति बढती है। शक्ति सपन्न व्यक्ति किसी प्रसंग मे जवरदस्ती भी कर सकता है। यहा जोर-जबरदस्ती चल भी सकती है; पर परभव मे पोपावांई का राज्य नही है। उसके लिए व्यक्ति को अपनी शारीरिक शक्ति नही, आत्मिक शक्ति वढानी चाहिए। शरीर बल तो पशु मे भी वहुत होता है। क्या मानव भी उसको पशु की तरह ही काम मे ले? पशु और मनुष्य मे क्या भेद है? आंखें पशु की भी होती है, मनुष्य की भी। कान-नाक आदि सभी इंद्रियां पशु के भी होती है और मनुष्य के भी। फिर पशु और मनुष्य में क्या अन्तर है? ऐसी कौन-सी चीज है जिससे दो पैरोंवाला यह जानवर—मनुष्य कहलाता है? मनुष्य का ज्ञान विकसित होता है और उसके सदुपयोग के कारण वह मनुष्य कहलाता है। आज वह उससे अलग होता जा रहा है। क्यो? यह सगति का प्रभाव है। जैसी संगति होती है वैसा ही वह स्वय होता है। बुरी संगति का फल बुरा और अच्छी का अच्छा। एक ही समय मे पड़नेवाली पानी की बूदे संगति के कारण भिन्न-भिन्न रूप प्राप्त कर लेती है। एक बूंद गरम तवे पर पडती है और उसी समय वाष्प वनकर अपना अस्तित्व खो देती है। एक वूद कमलिनी पर पडती है, क्या सुन्दर वह लगती है—मोती के तुल्य! मोती तो नही बनती पर वैसी ही सुन्दर लगती है। एक वूद सीप की संगनि करती है, मोती का रूप ले लेती है, मोती बन जाती है। क्या कारण है जो एक ही समय एक ही वादल से पडनेवाली तीन वूदो की तीन अवस्थाएं होती है? यह सगति का अन्तर है। अच्छी सगति अच्छा फल, बुरी संगति बुरा फल।

आज मानव को सत्सगति करने का मौका भी नही मिलता। वह परमात्मा और धर्म के साथ सौदा करने लग गया। कुआं वनाया, जोहड़ वनाया, कुण्ड वनाया, रोटी खिलाई, क्यो? धर्म होगा। धर्म के साथ धन का सौदा! धर्म को धन से खरीदने की हास्यास्पद चेष्टा! और हो भी क्यों नही, उपदेश देने वाले भी 'भज कलदारम' की माला फेरनेवाले मिल जायें तव? किस नरह आजीविका के लिए प्रपच चलते है। कंठी पहनाई—पाच रुपये का एक नारियल लिया और कान मे एक मत्र दिया 'कानीया मानीया कुर, तू चेला मै गुर' और गुरु वन गये। पैसे का गुरु पैसे से धर्म खरीदवा दे, तो क्या वडी वात है? और फिर शिष्य लोभी मिल जाये तव तो इससे वढ कर धर्म कमाने का सरल रास्ता उसे कौन-सा मिले! इस तरह लोभी गुरु और लालची चेला दोनो दांव-पेच खेलते है। पत्थर की नौका पर वैठ

कर समुद्र पार करना चाहते हैं। कैसे पार हो ?

गुरु लोभी चेलो लालची, दोनों खेले दाव।
दोनू डूबै बापड़ा, बैठ पत्थर री नाव ॥

ऐसे लोभी गुरु जो खुद गृहस्थ हैं, घरवारी हैं, कंचन और कामिनी के फेर में हैं, किसी को तार नही सकते। त्यागी सन्तों के सत्संग से जीवन की बुराइयो को निकाल दिया जाए तो आत्मा का उद्धार हो सकता है।

रूणिया-सिवरेरां

१२. कौन किसका ?

जितशत्रु नामक एक राजा था। उसकी रानी का नाम सुकुमाला था। वह 'यथा नाम तथा गुण' की परिचायिका थी। जैसा नाम था वैसी ही वह सुकुमार थी। राजा का उस पर अगाध प्रेम था। प्रेम इतना बढ़ा कि उसने आसक्ति का रूप ले लिया। वह राज-पाट को भूल बैठा। रात-दिन रानी के साथ महलो मे रहता। राज-काज का काम मंत्री चलाता।

राजा को न देखकर जनता मे अशान्ति फैल गई। लोगो ने सगठित होकर मंत्री से शिकायत की। मंत्री ने किसी तरह बहाना बनाकर पिण्ड छुडाया। वह राजा के पास आया। बोला—'राजन् ! जनता तबाह हो रही है। आपके दर्शन के लिए आतुर है। कृपया राजसभा मे पधारिये।"

राजा बोला—"मैं राजसभा मे आकर क्या करूंगा ? तुम तो राज करते ही हो। मुझे पूरा विश्वास है।"

मंत्री असमंजस मे पड़ गया—अब क्या किया जाए ? जनता कान खीच रही है, राजा जागता ही नही। ऐसा राजा किस काम का ?

राजमंत्रियों की सभा बुलाई गई। राजा की इस भूल-भुलैया पर विचार किया गया। अन्त में यह तय हुआ—रात्रि मे राजा और रानी को जगल मे छोड दिया जाए।

अर्द्धरात्रि के अन्धेरे मे राजा और रानी पलंग सहित जंगल मे छोड दिये गये। थोड़ी देर बाद राजा जगा। चारो ओर देखने लगा—"क्या बात है ? मैं कहा हूं ? स्वप्न तो नही देख रहा हू।" रानी को जगाया। वह बोली, "हम कहा आ गये, क्या हो गया ?" राजा बोला, "जो होना था, हो गया।" रानी बोली,—"अब कहा चले, चलो वापस लौट चले।" राजा ने कहा—"अब वहां फूल नही है, जूतेवाले हैं। चलो, आगे चले।" रानी ने कहा,—"यह कीमती पलग !" राजा ने कहा—'राज ही गया तो पलग का फिर क्या करना है।"

राजा-रानी आगे बढ़े। थोड़ी दूर चले होगे, रानी को प्यास लग गई। राजा पानी कहां से लाता। अपना खून पिलाकर प्यास शान्त की। लड़ाई झगडे मे तो कह दिया जाता है, "मेरा खून पी गई।" राजा ने नाना प्रकार की तकलीफे उठाईं पर रानी को गर्म फूक भी न लगने दी। थोड़ी दूर चलने के बाद रानी को भूख लग गई। जगल मे भोजन कहा से आए ? राजा ने अपनी जाघ चीर कर मांस खिलाया, रानी की भूख शान्त हुई।

इस तरह चलते-चलते एक नगर आया। दोनो किराए का एक मकान

लेकर रहने लगे। रानी के गहने वेचकर कुछ दिन काम चलाया। आखिर इस तरह कव तक काम चलता? राजा नौकरी के लिए एक सेठ के पास आया। सेठ ने उसका परिचय पूछना चाहा।. राजा वोला—"मेरे पुराने इतिहास को छोडिये। मैं काम करने के लिये तैयार हू।" सेठ ने राजा को रख लिया। राजा आराम से रहा हुआ था, यहां कठोर मेहनत करनी पड़ती थी और ऊपर से तीखे तीर सहने पडते थे। राजा ने सव कुछ सहा पर रानी को तकलीफ नहीं दी। राजा सुवह काम पर जाता और रात्रि के दस वजे घर लौटता।

एक दिन रानी वोली "वहा तो पास मे दासियां रहती थी, आप भी रहते थे। यहां दिन नही कटते। आप तो काम कर दिन काट लेते हैं मैं क्या करूं?"

शहर मे एक गायक आया। वड़ी मीठी तान में वह गाता था। जव वह गाता हजारों व्यक्ति सुनने के लिए कान उधर कर देते। सव कुछ ठीक होते हुए भी वह पगु था। राजा ने भी उसे देखा। सोचा इसे अपने घर रख लिया जाए। गाने सुनायेगा। रानी के दिन कट जाएंगे। राजा उसे अपने घर ले गया। रानी से वोला—"तेरे लिए खिलौना लाया हू।"

राजा, रानी और गायक तीनो रहने लगे। शास्त्रों मे ऐसा आया है कि चाहे छोटी वच्ची हो या १०० वर्ष की वृद्धा, जिसकी इन्द्रियां कुंठित भी क्यो न हो गई हो, उसके साथ पुरुप को नही रहना चाहिए। गायक और रानी दिन भर अकेले घर पर रहते। राजा रात्रि मे घर आता। गायक ने वहुत मधुर-मधुर गाने गा-गाकर रानी को प्रसन्न कर लिया और उसकी यह प्रसन्नता आपसी अनुचित सम्बन्ध में परिणत हो गई। दुनिया के संवध ऐसे ही हैं। उस रानी ने, जिसके लिए राजा जान देने को तैयार रहता था, अपना सर्वस्व एक पगु को अर्पित कर दिया।

कई दिन अन्दर-अन्दर यह संवंध पलता रहा। एक दिन गायक वोला,—"राजा को हकीकत का पता चल गया तो जान से मार देगा।" रानी वोली, "मैं राजा का ही काम समाप्त कर दूगी।"

फाल्गुन का महीना था। रानी ने राजा के सम्मुख प्रस्ताव रखा, "आज जलक्रीड़ा करने नदी चले।" प्रस्ताव स्वीकार कर लिया गया। रानी मन ही मन खुश हो रही थी। आज मैं राजा से हमेशा के लिए मुक्त हो जाऊंगी। मुझे कोई कहनेवाला नही रहेगा। रानी ने राजा को पानी में कुछ आगे चलने के लिए कहा। राजा निष्कपट था। वह रानी के लिए जान देने को तैयार था। पानी कुछ गहरा आया तो रानी ने उसको धक्का दे दिया। राजा पानी की तेज धार मे वह गया पर उसके हाथ एक तख्ता लग गया और आगे जाकर किसी तरह वह सतह पर आ गया। पास एक नगर था। उसके वाहर वैठ वह विश्राम करने लगा।

किसी-किसी व्यक्ति के ससर्ग से बुरे दिन आ जाते है पर ज्यों ही उसका साथ छूटता है, अच्छे दिन भी लौट आया करते हैं। रानी के संयोग से राजा की ऐसी हालत वनी थी। अव न रानी साथ थी और न वुरी हालत ही। अच्छे दिन आ गये थे। शहर का राजा मर चुका था। उसके औलाद नही थी। हथिनी को माला देकर छोड दिया। जिसके गले मे माला पड़ेगी वह राजा होगा। आगे हथिनी चल रही थी और पीछे-पीछे राजमन्त्री अपने कर्मचारियों सहित चल रहा था। लोग हथिनी के आगे सिर झुकाते। शायद माला गले में डाल दे। सारे शहर का चक्कर काट हथिनी वाहर आ चुकी थी। वह राजा के आगे आकर रुकी और दूसरे ही क्षण माला राजा के गले मे थी। प्रतिद्वन्द्वियो ने ईर्ष्या भरी दृष्टि से राजा को देखा ? कहां का व्यक्ति है, जिसके गले मे माला पड गयी है। राजमंत्री ने राजा का नाम पूछा—राजा ने वताया —जितशत्रु! मंत्री देखता ही रह गया—आप है जितशत्रु जिन्होने रानी के कारण राज गवांया। राजा ने कहा, "हां मैं वही हूं।" मत्री ने पूछा अव रानी कहा है ? मद्य तो अव नही पीते हो ?" राजा ने कहा "न तो अव रानी है और मद्य तो क्या तम्वाकू भी अव नही पीता हूं।" राजा राजा वन गया। अच्छी तरह राज्य करने लगा।

उधर रानी और गायक कुछ दिन तो मौज करते रहे पर गुजारा कैसे चले ? खाए क्या ? पास मे कुछ था नही। गायक पगु था। वह कमाए कैसे ?

रानी ने गायक से कमाने के लिये कहा। वह वोला "मैं कैसे चलू, सिर पर चढ़ा ले। मैं गाऊंगा, पैसे आएंगे उससे काम चल जायेगा।" इस तरह वह रानी एक भारी भरकम पंगु व्यक्ति को कधे पर उठाए फिरने लगी। अपने सतीत्व की दुहाई देती। कहती—"क्या करूं मेरे माता-पिता ने इनके साथ सवंध कर दिया। अव जो कुछ हैं मेरे तो यही हैं।

लोग खूव रुपये देते—एक तो गायक दूसरे साथ मे सती स्त्री !

इस तरह घूमते-घामते पेट पालते वे उस नगरी में पहुंचे जहां राजा जितशत्रु राज्य करता था। शहर मे हवा की तरह वात फैल गई कि एक गायक आया है। वडा सुन्दर गाता है। उसके साथ सती है। राजा ने सोचा, कही रानी और गायक वे ही तो नहीं है।

राजा ने गायक को आमंत्रित किया। वह आया। उसने गान गाया। लोगों ने वहुत पसन्द किया। दोनो सोच रहे थे आज दरिद्रता दूर हो जायेगी। रानी ने सतीत्व का वखान किया। राजा ने पूछा "तुम्हारा विवाह इसके साथ कव हुआ ? अव तो औरत स्वयंवर भी कर सकती है।" रानी ने कहा "मेरी शादी १३-१४ वर्ष की उम्र मे कर दी गई। स्त्री की जाति ठहरी, कौन देखे ? माता-पिता को धन चाहिये।"

राजा ने उसकी छलना को पकड लिया। वह बोला "एक पति तुम्हारा वह भी था जिसने रक्त और मांस से तेरी भूख-प्यास मिटाई थी जिसको तुमने नदी मे धकेल दिया था।" रानी ने टकटकी लगा कर देखा अपने पूर्व पति को महाराज के रूप मे। उसके नीचे की जमीन खिसकती-सी मालूम पडी। राजा ने सोचा—"स्त्री जाति है क्या सजा दू ? उसने अपने सेवकों को आदेश दिया कि वे इन्हे राज्य के बाहर छोड़ आएं और कभी भी इन्हे राज्य मे प्रवेश नही करने दिया जाए। खबरदार !!

राजा को वैराग्य उत्पन्न हो गया और साधु बन कर अपना कल्याण करने लगा। भव्य जीवो ! जितशत्रु की यह कहानी आप सबको जागृत रहने की प्रेरणा देती है।

१३. अणुव्रत का महत्त्व

सव्वाहिं अणुजुत्तीहिं मइमं पडिलेहिया।
सव्वे अक्कन्तदुक्खा य, अओ सव्वे अहिंसया ॥

सब प्रकार की युक्तियो से बुद्धिमान् अन्वेषण करे, विचारे तो वे जानेगे कि सबको दुःख अप्रिय है। जब ऐसी बात है तब वह किसी की हिंसा न करे, किसी को न सताए। अहिंसा ही परम धर्म है, अहिंसा ही सब धर्मो का सार है। धर्म के किये जाने वाले अन्य सभी उपक्रम अहिंसा के पोषक है। प्रश्न हो सकता है—अहिंसा पर आज ही इतना जोर क्यों दिया जाता है ? अहिंसा की महिमा सदा से गायी जाती है। उसको अपनाने के लिए दी जानेवाली प्रेरणा भी कोई नई नही है। किन्तु यह मान्य सिद्धान्त है कि भूख और प्यास के समय अन्न और पानी की बहुत बडी कीमत होती है। पेट भर जाने के बाद उनको कोई याद नही करता। आज का जनजीवन हिंसा से जर्जरित है, हिंसा के थपेडो से क्षत-विक्षत है। इसीलिए मनुष्य अहिंसा को आशाभरी दृष्टि से देखता है। इसी कारण इस युग मे अहिंसा का उपदेश भी बहुत महत्त्वपूर्ण हो जाता है। आज का मानव अपनी मानवता खो बैठा है, मानवीय आदर्शो की अमूल्य संपत्ति उसके हाथो से निकल गई है। देहली चातुर्मास मे १५ अगस्त के दिन मैंने यही भावना व्यक्त की थी कि मानव अपनी मानवता को फिर से प्राप्त करे।

मनुष्य को हताश नही होना चाहिए। हीनतावादी नही बनना चाहिए। निराशा में उन्नति सभव नही है। आजकल प्रायः लोग कह देते है कि हमारा पतन हो गया। उनको सोचना चाहिए कि उत्थान और पतन का क्रम चलता रहता है। दुनिया मे अच्छे लोगो की भी कमी नही है। अनुकूल और प्रतिकूल परिस्थिति मे समभाव रखने वाले व्यक्ति भी है। व्यापार मे ईमानदार रहने वाले भी है। आज भी ब्रह्मचारी है, सत्यवादी है, स्वावलंबन से अपना जीवन-यापन करने वाले है। यह अवश्य है, अच्छाइयो की अपेक्षा बुराइयो का पलडा भारी हुआ है, अतः बुराइयो की ओर, पतन की ओर, ध्यान जाना भी स्वाभाविक है। किन्तु पतन की आवाज लगाने से क्या होगा ? प्रतिकूल स्थिति के समय आवश्यकता होती है उसके खिलाफ जिहाद छेडने की, कार्यकारी कदम उठाने की। धैर्य के साथ प्रयास किए बिना प्रतिकूल स्थिति दूर भी कैसे हो सकती है ? विरोधी स्थिति मे कायल बन जाने वाले दुनिया मे कर भी क्या सकते है ? श्री राम का उदाहरण हमारे सामने है। वे वनवासी थे, जीवन संगिनी सीता का अपहरण हो चुका था। उस स्थिति

में उन्हे लंका को जीतना था, जिसके वारे मे कहा जाता है कि उसके चारो तरफ तलवारो का पहरा रहता था। रास्ते में भयंकर समुद्र पार करना पड़ता था और शत्रु था वह दशमुखवाला रावण। संग्राम-भूमि में उनके सहायक वन्दर थे, फिर भी एक राम ने सारे राक्षस-कुल का नाश कर दिया। एक सस्कृत कवि ने लिखा है :

विजेतव्या लंका चरणतरणीयो जलनिधिः।
विपक्षः पौलस्त्यो रणभुवि सहायाश्च कपयः।
तथाप्येको रामः सकलमवधीद्राक्षसकुलं ॥
क्रियासिद्धिः सत्वे वसति महता नोपकरणे ॥

अर्थात् महापुरुषों की कार्यसिद्धि उनके पुरुपार्थ में ही रहती है। वे वाहरी उपकरणो की, सामग्रियों की अपेक्षा नही रखते।

आशावाद मे सफलता रहती है। धैर्य उन्नति का प्रतीक है। विशेष आशा तथा धैर्य के कारण ही अणुव्रत जैसा नैतिक आन्दोलन सतत जारी रहता है। लोग कहते हैं—"महाराज ! आपको क्या आवश्यकता है इन नैतिक आन्दोलनो की ? आप अपनी साधना करे। समाज के उत्थान और पतन से आपको क्या मतलव है ?" ऐसा कहनेवाले भूल करते हैं। समाज की अन्य स्थितियो से हमारा कोई सम्पर्क नही। किन्तु जहां तक नैतिकता तथा सदाचार के प्रसार का प्रश्न है उस आधार पर हमारा समाज से पूरा संवंध है। जैन-शास्त्रो मे चार प्रकार के मनुष्य वतलाए गए है। हमारा समावेश तीसरे प्रकार में होता है। हम उभयानुकम्पी है। हमारी दलाली वड़ी विचित्र है। माल विके या न विके, हमे तो हमारी दलाली मिल ही जाती है। खुद तरना और लोगों को तारना हमारा कार्य है। हमे पुरुषार्थ करना है, नैतिकता का प्रसार करना है लोग चाहे उसका उपयोग करें या न करे।

न भवति धर्मः श्रोतुःसर्वस्यैकान्ततोहितश्रवणात्।
ब्रुवतोनुग्रहवुद्ध्यावक्तुस्त्वेकान्ततो भवति ॥

हित श्रवण से श्रोता को एकान्ततः धर्म नहीं होता। अनुग्रह वुद्धि से वोलने वाले वक्ता को तो एकान्ततः लाभ होता है। साधारणतया दुनिया मे माल विकने पर ही दलाली मिलती है, किन्तु हमारे लिए यह वात लागू नही है। उपदेश का स्थायी असर होता है या नहीं, यह भी एक प्रश्न रहता है। उपदेश के प्रभाव मे कोई संदेह नही; किन्तु स्थिति यह भी है कि उपदेश घण्टा डेढ घण्टा सुना जाता है और दिन के वाकी २२-२३ घंटे विताये जाते है दुनियादारी मे। आज की दुनियादारी कितनी गन्दी है यह वताने की जरूरत नही है। सभी जानते है। उस स्थिति मे लोग अपने मानस की कमजोरियो के कारण स्वयं को उन स्थितियों से नही वचा सकते।

उपदेश का सबसे बड़ा असर है उससे होने वाली दृष्टिकोण की शुद्धि। हमारे आदि गुरु भिक्षु स्वामीजी ने दृष्टिकोण की शुद्धि पर बहुत बल दिया। मनुष्य अपनी कमजोरियों के कारण कुछ करता है किन्तु बुरे को अच्छा समझ लेना दोहरी भूल होती है। दृष्टिकोण की विशुद्धता को जैन-दर्शन में सम्यक्त्व के नाम से पुकारा गया है। दृष्टिकोण की विपरीतता मिथ्यात्व है, जो आत्म-विकास में बाधक है। बुरे को बुरा समझने वाला व्यक्ति क्रमशः उस बुराई को छोड़ सकता है, किन्तु बुरे को अच्छा समझने की दोहरी भूल करने वाला व्यक्ति बुराई के पंजे से मुक्त नहीं हो सकता। कहा गया है—

पठितव्यं सोऽपि मर्तव्यं
अपठितव्यं सोऽपि मर्तव्यं
दन्तकटाकट किं कर्त्तव्यं

यह दृष्टि की भूल है। खुद नहीं पढ़ सकते, किन्तु इस प्रकार कहना पढ़ाई की विडम्बना करना है जो शोभाप्रद नहीं।

अणुव्रत संघ की स्थापना

जन-जीवन की बुराइयों को ध्यान में रखकर अणुव्रत का सूत्रपात किया गया। हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्मचर्य और लोभ इन पांचो में सब बुराइयों का समावेश हो जाता है। किन्तु आज के मानव इस प्रकार समझनेवाले नहीं हैं। जब चिलम का निषेध किया जाता है तो वे सिगरेट की मनाही नहीं समझते। इसलिए बुराइयों का अलग-अलग विश्लेषण करने की आवश्यकता हो गई अणुव्रत नियमों में ८४ बुराइयो का संकलन है तथा प्रत्येक मनुष्य को उनसे दूर रहने के लिए कहा गया है। चौरासी का चक्कर सभी जानते हैं। नियम भी ८४ ही हैं। बुराइयो के संकलन मे आजकल की मौजूदा बुराइयों का विशेष रूप से ध्यान रक्खा गया है। संघ से और कोई मतलब नहीं है, जो लोग इन नियमों को—अणुव्रतों को पालते है उनके समूह का ही नाम है 'अणुव्रती संघ'। यह एक असाम्प्रदायिक कदम है। जो कोई भी व्यक्ति इन बुराइयों से बचकर अपना नियमित जीवन बिताना चाहता है, वह बिना किसी जाति, वर्ग तथा धर्म के भेद-भाव से इस सघ का सदस्य हो सकता है। आचार्य विनोबा भावे से जब अणुव्रतों के बारे में बात हुई तो उन्होंने कहा—"आपने महाव्रत और अणुव्रत के रूप में धर्म के दो विभाग क्यों कर दिये ?" मैंने कहा—"ये कोई अलग विभाग नहीं हैं; किन्तु एक ही चीज के दो रूप है—पूर्ण और अपूर्ण। साधारण आदमी आदर्श की पूर्ण उपासना नहीं कर सकते। इसका मतलब यह तो नहीं कि आदर्श उनके लिए अव्यावहारिक हो जाता है। इसलिए उनके लिए अपूर्ण आदर्श का मार्ग है। वे भी अपने जीवन में

क्रमशः पूर्णता लाएं यह आवश्यक है।" मेरे इतना कहने के साथ ही विनोबा जी ने कहा—"अच्छा, मै समझ गया। यह मानवता की न्यूनतम मर्यादा है।" अणुवम के युग मे अणुव्रत और ज्यादा उपयोगी हैं। अणुबम विध्वंसक है। अणुव्रतो में निर्माण है। विध्वंस मे अशान्ति है, दुःख है। यह तो सभी जानते है। अणुव्रत योजना में सम्मिलित होने के लिए १२ महीनों की साधना करनी होती है। इससे व्यक्ति अपने आपको अच्छी तरह से तोल लेता है।

१४. वाणी की महत्ता

शब्द दो प्रकार के होते हैं—भाषा-शब्द और नोभाषा शब्द। भाषा-शब्द वे हैं जो भाषा-रूप मे बोले जाते हैं और नोभाषा शब्द में बिजली की गडगड़ाहट आदि नाना प्रकार के शब्दो का समावेश होता है।

कैसी सुन्दर रचना है! व्यक्ति बोलता है, सुनता है, देखता है और गध लेता है। इसके लिये अलग-अलग स्थान निर्मित है। मनुष्य आख से देखता है। थोड़ी दूरी से कानो से सुनता है और नाक से गन्ध लेता है। मुह से शब्द बोलता है। ताज्जुब यह है कि यह सब करनेवाला एक ही है और वह है आत्मा। ऐसा कभी नही होता कि कोई मुंह से सुन ले और कान से बोल ले।

शब्द मे ऐसी शक्ति है कि एक शब्द अच्छा लगता है और दूसरा अच्छा नही लगता। कोयल मृदु भाषा मे बोलती है, लोगो की इच्छा होती है कि एक बार और बोले। कौआ बोलता है, अप्रिय लगता है। उसे भगा दिया जाता है। क्यों? एक की बोली मृदु है, प्रिय लगती है; दूसरे की नही लगती। पक्षियो की बात छोड़िए। मनुष्य को लीजिये। वह एक समय बोलता है तो अच्छा लगता है; दूसरी बार वही बुरा लगने लगता है, जबकि वह मुह से अश्लील और गन्दा बोलता है। बोली ही ऐसी है जो टूटे दिलो को मिला देती है और मिले दिलों को अलग कर देती है। बोली विश्वास जमा देती है। बोली सन्देह पैदा कर देती है। बोली मे खार है और बोली मे ही प्यार है। विभीषण जब रावण से सम्बन्ध तोडकर राम के पास आ रहे थे, सुग्रीव ने राम से कहा—"महाराज! सावधान रहिए। यह राक्षस कौम है, छल प्रपंची है। कही रावण का गुप्तचर बनकर सारा काम चौपट न कर दे।" राम विभीषण से मिले, उससे पूर्व उनकी आंखें आपस मे मिली। राम ने समझा, आखो मे खार नही, प्यार है; शत्रुता नहीं, मित्रता है और जब उन्होने सारी बाते बताई तो राम के दिल में पूर्ण विश्वास पैदा हो गया। उन्होंने उसी समय प्रेमवश कह दिया—"विभीषण! तुम्हे लंका का राज्य मिलेगा।" उस समय उनकी लंका थी कहां। वहां तो अभी रावण ही राज्य करता था। जीतने से पूर्व वचन दे देना साहस का परिचय था। यह परिणाम था मृदु वचन का, जिसने राम के दिल मे विश्वास पैदा कर दिया।

मेरे कहने का तात्पर्य है कि वाणी मे ऐसी शक्ति है जो घर को स्वर्ग बना सकती है और अप्रिय वातावरण भी पैदा कर सकती है। प्रत्येक व्यक्ति को चाहिए कि वह कटुता को छोडे और फिर देखे सास-बहुओ के,

भाई-भाई के, पिता-पुत्र के बीच होनेवाले आपसी वैमनस्य कहां टिक सकते हैं? चारों ओर एक मैत्रीपूर्ण वातावरण नजर आयेगा। और सबसे बड़ी बात यह होगी कि व्यक्ति में बसनेवाला भूत क्रोध, जो कि सभी बुराइयों का मूल है, विदा हो जाएगा और मानव आत्मिक शान्ति की अनुभूति पाएगा।

कालू
१७ फरवरी, ५३

१५. शब्द की उत्पत्ति

शब्द कैसे उत्पन्न होते हैं ? इस प्रश्न पर दार्शनिको के अनेकमत है। कई दार्शनिक इसे आकाश का गुण मानते हैं। अन्य दार्शनिकों की भी अपनी-अपनी धारणाएं हैं। जैन-दर्शन वतलाता है कि पुद्गलों के मिलन और विछुड़न से शब्द उत्पन्न होता है। पुद्गल किसे कहते हैं, यह जान लेना भी जरूरी है। वे सव पदार्थ जो रूपवान हैं, जिनमे वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्श हैं, पुद्गल कहलाते हैं। विना पुद्गल के सांसारिक आत्मा का कार्य नही चलता। इंजन के लिये जिस प्रकार कोयला और पानी अत्यावश्यक है; आत्मा के लिए वैसे ही पुद्गल आवश्यक हैं। मनुष्य का शरीर और उसका खान-पान सव कुछ पुद्गलों का ही होता है।

पुद्गल के दो भेद है—पहला परमाणु और दूसरा स्कंध। परमाणु छोटे से छोटा पुद्गल है और स्कंध दो या दो से अधिक परमाणुओ के मिलने से होता है।

जव पुद्गल आपस मे मिलते या विछुडते हैं—उनका विघटन होता है तव शब्द उत्पन्न होता है। दोनो हाथो के टकराने से ताली वजती है—यहा उनका आपस मे मिलन होता है। लकड़ी तोड़ी जाती है तो शब्द होता है—यहां पुद्गलों का विघटन होता है। इसी तरह जव हम वोलते है तव पुद्गलों का मिलन-विघटन होता रहता है और शब्द उत्पन्न होते रहते है।

कालू
१८ फरवरी' ५३

१६. छात्रों का दायित्व

विश्व की प्रमुख शक्तियो मे छात्र-शक्ति भी अपना एक विशिष्ट स्थान रखती है। आज जो ये छोटे-छोटे वच्चे दीखते है वे कल के नौजवान होंगे, इनके कन्धो पर ही देश का भार होगा। ये छात्र ही आगे चलकर व्यापारी, किसान, मजदूर, डाक्टर, एडीटर, ऑडिटर आदि वनेंगे। कहने का तात्पर्य है कि भविष्य की नैया के खेवनहार ये ही है। इनका सुधार भविष्य का सुधार है।

छात्र कभी जाति-पाति के झमेले मे न पडे, ऊच-नीच की भावना न रखे। व्यर्थ की घृणा भरी भावना रखना, नीच कहकर किसी का तिरस्कार करना या दिल दुखाना ठीक नही। जव व्यक्ति स्वयं किसी भी तरह का दु:ख नही चाहता, अप्रिय शब्द सुनना नही चाहता तो वह दूसरों को दु:ख क्यों पहुचाए ? अप्रिय शब्द क्यो कहे ? क्योकि इनसे उसे भी वैसा ही दु:ख होता है जैसा तुम्हे होता है। कहने का तात्पर्य है कि सवको आत्म-तुल्य समझे। अहिसक वने। झूठ, चोरी आदि दुर्गुणो को त्याग दे और धर्म की रुचि वढाएं। धर्म कौन-सा ? अहिंसा, सत्य, अचौर्य, व्रह्मचर्य और अपरिग्रह। छात्रो का दायित्व है कि वे इन्हे अपनाए। अभिभावको का दायित्व है कि वे अपने वच्चो को सस्कारी वनाने के लिए स्वय का जीवन ऊंचा उठाएं। छात्र भी अपने माता-पिता को स्पप्ट कह दे—"यदि आप व्लैक करते है तो हम आपकी कमाई की एक कौडी भी नही खाएगे। यदि आप मिथ्याचार से पैसा कमाते है तो हम वह नही लेंगे। यदि आप धूम्रपान करते हैं या अन्य अवगुणो मे फसते है तो हमारा भविप्य अन्धकारमय वनाते है। मैं नही कहता कि इस काम के लिए छात्र उच्छृखल वन जाए, उद्दण्डता अपनाएं। यह इसका सही इलाज नही है। वे अपनी आत्मा पर संयम रखते हुए उन अवगुणो को छोडने के लिए अपने माता-पिता को संकेत करे। छात्र क्या नही कर सकते ? वे सव कुछ कर सकते है। जो छात्र स्वातंत्र्य-सग्राम मे इतना वलिदान कर चुके है; क्या वे आत्मसंयम कर अपने माता-पिता को ठीक रास्ता नही दिखला सकेंगे ? जो छात्र अपने देश को आजाद करने के लिए वलिदान हो सकते है, वे आत्म-संयम रखते हुए अपने घर की, अपने परिवार की बुराइयो को भी दूर कर सकते है। मैं फिर कहूगा कि छात्र सदाचारी बनें और उन दोपो को कभी न अपनाएं जिससे आज का जन-जीवन दुर्वह भार वना हुआ है।

कालू
२० फरवरी '५३ (छात्र-सम्मेलन)

१७. महावीर के चरण चिह्न

अनुस्रोत में चलना आसान है। दुनिया अनुस्रोत में चलती है। ऐसे समय में विवेकी जन प्रतिस्रोत मे चले। प्रतिस्रोत में चलना कठिन अवश्य होगा पर उसका भविष्य अच्छा होगा। अनुस्रोत मे वहने वाला समुद्र मे जाकर हमेशा के लिए समा जाएगा। प्रतिस्रोत मे चलने से कठिनाई अवश्य होगी पर वह उस धारा से छुटकारा पा जाएगा जिसके अनुस्रोत में वहने से समुद्र मे समाया जा सकता है। भगवान् महावीर स्वय प्रतिस्रोतगामी हुए और उन्होने प्रतिस्रोत मे चलने का पाठ पढाया। आज उन्ही भगवान् महावीर की जयन्ती मनाई जा रही है। जयन्ती की अपेक्षा दीक्षा-दिवस, वोधि-दिवस और निर्वाण-दिवस का विशेष महत्त्व रहता है। जन्म के सामने जीवन का सारा भविष्य रहता है और निर्वाण के समय सारा भविष्य अतीत हो जाता है। पर महापुरुपो के जन्म-दिन का भी महत्त्व होता है।

भगवान् महावीर ने दुनिया को अहिंसा का पाठ पढ़ाया। उस समय लोग धर्म के नाम पर हिंसा करने लगे थे। वे भूल वैठे थे विवेक को और उन्होंने समझ लिया था, धर्म के लिए हिंसा करना भी उचित है। ऐसे समय में भगवान् महावीर ने सही अहिंसा का सिंहनाद किया। उन्होंने कहा—"सवको आत्म-तुल्य समझो। किसी के वीच ऊंच-नीच की भेद-रेखा मत खीचो। जैसी तुम्हारी आत्मा है, वैसी दूसरों की भी है अत. किसी को भी दु.ख मत दो।" यह था अहिंसा का पाठ, जो भगवान् ने दुनिया को सिखाया। सिखाया ही नही, इससे पूर्व जीवन मे उतारा, पूर्णरूपेण अपनाया। उन्होने १२॥ वर्ष तप किया, नाना प्रकार के उपसर्गो को सहा और दुनिया को दिखाया कि अहिंसा के पथ पर वढ़ने मे कितने ही कष्ट क्यो न आएं उनका मुकावला अहिंसा मे किया जा सकता है। यहां तक कि भगवान् के एक कुशिष्य गोशालक ने भगवान् के सामने उनके दो शिष्यों को भस्मीभूत कर दिया, यही नही उसने अपनी तेजोलेश्या का भगवान् पर भी प्रयोग किया पर उन्होंने मन मे किसी प्रकार की दुर्भावना नहीं आने दी। यह था उनके पूर्ण अहिंसक होने का अनुपम उदाहरण। भगवान् महावीर की अहिंसा, दया और दान को समझना और उसे अपने जीवन मे उतारना वच्चो का खेल नहीं। साधारण शिष्टाचार और सामाजिक कार्यो को अहिंसा, दया और दान में घुसेड देना मामूली-सी वात है पर उसके सही स्वरूप को समझना और जीवन मे उतारना वड़ा कठिन है।

मैत्री-भाव वना. रहे इसलिए भगवान् महावीर ने स्याद्वाद का

आविष्कार किया। उन्होने वताया, "एक वस्तु मे समानता और असमानता दोनों विद्यमान है। केवल समानता या केवल असमानता को लेकर चलने से सही तत्त्व की जानकारी नही होती। दोनो को ध्यान मे रख कर ही सही तत्त्व को जाना जा सकता है। एक हाथ से विलौना नही होता और मक्खन भी नही मिलता। दोनो हाथ चलाने पर ही यह काम वन सकता है। यदि व्यक्ति असमानता की ओर ध्यान देगा तो उसे असमानता ही असमानता दृष्टिगत होगी। यदि वह समानता को दृष्टिगत रखेगा तो उसे समानता ही समानता दीखेगी।

मैत्री भगवान् महावीर को अभीष्ट थी। उन्होंने धर्म को मैत्री का पोपक वताया। धर्म कभी कैंची का काम नही करता। धर्म काटता नही—अलग-अलग नही करता; वह जोडता है—मिलाता है। समन्वय का तत्त्व समझे विना एकता के लिये डीग हांकना उचित नही है; उससे कुछ होनेवाला नही। आज भगवान् महावीर की जयन्ती है; लोग इस अवसर पर ऐसी अपील करते हैं कि मैत्री वढ़े पर वे इसके लिए करते क्या हैं? यह आवाज वाहर की न होकर अन्तर की आवाज होनी चाहिए। मैत्री इस तरह वढ़नी चाहिए कि पत्थर भी पिघल जाए। पर वह वढ़े कैसे? कांसे के वर्तन की हिम्मत नही कि वह अपने में सिंहनी का दूध टिका सके। ज्यों ही दूध की धार पड़ेगी वह फूट जाएगा। उसके दूध के लिए सोने का वर्तन चाहिए; उसी मे वह ठहर सकता है— टिक सकता है। सव लोग अपने आपको इस योग्य वनाएं कि महावीर के उपदेशामृत रूपी दूध को टिकाया जा सके—अपनाया जा सके। इसके लिये सर्वप्रथम साम्प्रदायिकता, संकीर्णता एवं ओछी वृत्तियो को छोड़ना होगा। यदि यह मल अन्दर रहा तो कोई भी दवा काम नही कर सकेगी। पेट ही खराव रहेगा तो दवा क्या कर सकेगी? जैन लोग इस योग्य वनकर भगवान् की वाणी के अनुकूल अपने जीवन को वनाएं इसी मे जयन्ती की और अपने जीवन की सार्थकता है।

बीकानेर
२८ फरवरी '५३

१८. विशुद्धि के स्थान

आज विश्व अशान्ति और दुःख की भट्टी मे जल रहा है। जन-जीवन निश्चेतन हो रहा है। वह अनेक बुराइयो से घिरा हुआ है। उसका विशुद्धीकरण आवश्यक है।

लज्जा दया सजम बंभचेरं
कल्लाणभागिस्स विसोहिठाणं

लज्जा, दया, सयम और ब्रह्मचर्य—ये चार कल्याण चाहनेवाले के लिए विशुद्धि के स्थान है।

लज्जा

प्रत्येक व्यक्ति के लिए लज्जा आवश्यक है। यह बात सुन कुछ लोग कहेगे कि हमारे यहां तो इतनी लज्जा रखी जाती है कि औरते पुरुषों के सामने मुह तक नही खोलती। वे अवगुठन भी रखती है। प्रस्तुत सदर्भ में लज्जा शब्द का प्रयोग दूसरे अर्थ मे हुआ है। लज्जा ऐसी होनी चाहिए जिससे आत्मोत्थान हो। आज लोगो को इसके लिए समय है नही या वे इस ओर ध्यान नही देते। जब भी कुछ कहा जाता है, वे कहते है अभी फुरसत नही है।" याद रहे—तुम करोगे तब ही सृष्टि का कार्य चलेगा, ऐसी बात नही है। यह कार्य यो ही चलता रहेगा जब तक ससार है। मनुष्य समय रहते सजग हो जाए अन्यथा कभी भी धोखा खा सकता है—

रात दिवस तो धन्धो करतो,
दो-दो एवड पातो।
कुआ मां स्यू चरस खीचता,
गयो गडिदा खातो॥

एक जाट रात-दिन कार्य करता था यदि कोई उसे विश्राम या धर्मध्यान के लिए कहता और यह भी कहता कि तुम्हारा काम मै कर दू तो वह कहता, "अपना कार्य मैं स्वयं ही करता हूं। मेरे विना वह नही हो सकता।" एक दिन वह भेडो को पानी पिलाने के लिए कुएं से चरस खीच रहा था कि डोरी टूट गई और वह उसके साथ कुएं मे गिर गया। वह मर गया, पर क्या उसके घर का कार्य वन्द हो गया।

लज्जा वैसी होनी चाहिए जो आत्मा का उत्थान करे। वैसी लज्जा जैसी मेघकुमार ने की थी। मेघकुमार दीक्षित हुए। प्रथम दिन था। रात्रि में कही दरवाजे के आगे सो गए। रात मे आने जाने वालो की ठोकरे लगी। सारी रात जागरण-सा हुआ। सुवह उठे—मन मे सोचा, "ऐसा साधुपन नही

पालना है ।" वे चले भगवान् महावीर के पास रजोहरण और मुखवस्त्रिका सौपने । भगवान् केवलज्ञानी थे, उन्हे जानते क्या देर लगती ? वे वोले—"क्यो मेघकुमार ! क्या वात है ?" मेघकुमार नतमस्तक हो गए । वे कुछ भी न वोल सके । भगवान् ने कहा, "तुम इस मामूली-सी तकलीफ से ऊवकर घर जाना चाहते हो । एक तुम्हारा वह पूर्वजन्म था जिसके फलस्वरूप तुम इस जन्म में राजपुत्र बने ।" मेघकुमार के मन मे आया कि अपने पूर्वजन्म की वात जानू । उसने भगवान् के आगे अपनी अन्तःकामना प्रकट की ।

भगवान् ने कहा—"तू पूर्वजन्म में हाथी था । अपने दल का तू मुखिया था । जिस जगल मे तू मुखिया था एक वार उसमे दावानल लगा । तेरे रहने का स्थान सुरक्षित था, अतः जंगल के सभी जीव-जन्तु भाग-भागकर तेरे यहां आ गए । वह स्थान उन जीवों से खचाखच भर गया । तूने खुजलाने लिए पैर उठाया । उस रिक्तस्थल की पूर्ति एक खरगोश ने कर दी । अव पैर नीचे कैसे रखे ? वेचारा खरगोश मारा न जाय ! हत्यारा होने का भय था । तूने पैरो को ऊचा उठाए रखा । एक-दो घण्टा या एक-दो दिन नही वल्कि उस समय तक उसे वैसे ही रखा जव तक कि दावानल शान्त न हो गया और सारे जीव-जन्तु वापिस न लौट गए । जगह खाली हुई तव सोचा पैर को नीचे रखू पर वात वश की न रही ? पैर अकड चुका था । तू उसी क्षण गिर पडा । इसी का फल है कि तू राजकुमार वना । अव तू इतनी छोटी वात के लिए साधुत्व को छोड़ने की वात सोच रहा है ! तू उस समय साधु नही था, श्रावक नही था, सम्यक्त्वी नही था, और इन सव गुणो को समझनेवाला भी नही था फिर भी तेरी आत्मा ने तुझे पैर के नीचे जीवो को दवोच कर मारने नही दिया । अव तू साधु है, त्यागी है और इतनी-सी तकलीफ के कारण इस शरीर का इतना मोह कर रहा है ।" मेघकुमार की आखे खुल गई । वह गिरते-गिरते वच गया । पतित होते-होते पावन हो गया । यह वह लज्जा है जो आदेय, उपादेय है ।

धर्म मे दया का एक वहुत वड़ा स्थान है । कहा भी जाता है—"दया धर्म का मूल है, पाप मूल अभिमान ।" भगवान् महावीर ने सव प्राणियों की दया के लिए, रक्षा के लिये प्रवचन दिये "किसी भी प्राणी को मत मारो" —यह उनकी दया का स्वरूप था । दया के दो प्रकार है—निषेधात्मक और विधेयात्मक । निषेधात्मक रूप जैसे—'मत मारो' । निर्विवाद ही इसमे किसी तर्क का स्थान नही । यह विशाल और पूर्णरूप है । विधेयात्मक रूप पूर्ण नही कहा जा सकता । किसी प्राणी को वचाने के लिए किसी का उत्पीड़न भी हो सकता है । इसी तरह 'वचाओ' दया का पूरा रूप नही हो सकता है । किसको बचाया जाए, वकरो को या कसाई की आत्मा को ? यहां 'वचाओ' का स्थान उठाओ ले लेता है । "जीओ और जीने दो" का स्थान "उठो और

उठाओ" ले लेता है। वास्तव मे वकरो को वचाना, पैसे देकर वचाना, वचाना नही है। इससे वकरे वच जाएं ऐसा नही लगता। मान लिया जाए एक वार वकरे वचा भी लिए गये तो क्या हुआ ? कसाई के व्यापार को प्रोत्साहन मिला इसके अतिरिक्त और क्या हुआ ? सही अर्थ मे कसाई का हृदय-परिवर्तन करना चाहिए। उसके अन्तःकरण मे इस जघन्य कर्म के प्रति घृणा पैदा होनी चाहिए। इस तरह एक वार के लिए नही वल्कि यावज्जीवन उसकी आत्मा उसके खूनी व्यापार से पतित होने से हमेशा के लिए वच जाती है। वकरों का वचना तो प्रासंगिक है ही। इस तरह सभी के प्रति आत्म-तुल्य दृष्टि रखते हुए उनकी आत्मा का उत्थान हो ऐसा प्रयास होना चाहिए।

संयम

सयम एक व्यापक शब्द है, इसमें सभी अच्छी वातो का समावेश हो जाता है। इन्द्रिय-सयम, खाद्य संयम, दृष्टि सयम, उपकरण सयम, व्यापार संयम, इच्छा संयम आदि सभी तत्त्व जीवन के लिए उपयोगी है। सयम का लक्ष्य और निरन्तर अभ्यास व्यक्ति को मंजिल तक पहुंचा देता है।

ब्रह्मचर्य

ब्रह्मचर्य एक वहुत वडी शक्ति है ब्रह्मचर्य का मतलव जननेन्द्रिय को जीत लेना ही नही है। इसका मतलव है सव इन्द्रियो को जीतकर आत्म-रमण करना। आज सर्वत्र ब्रह्मचर्य की कमी नजर आ रही है। प्रमाण सामने है—ये निस्तेज चेहरे। एक तरफ इन साधु-साध्वियो को देखिये, जिनके चेहरे पर ओज है दूसरी तरफ गृहस्थो की ओर देखा जाए तो गाढी मुर्दनी छाई हुई मिलेगी। यह ब्रह्मचर्य की कमी का प्रतीक है। आज व्यक्ति इससे दूर भाग रहा है। वह अपनी इन्द्रियों पर, काम पिपासा पर कन्ट्रोल करना नही चाहता। संतति-निरोध हो, पर उसकी काम-पिपासा का निरोध न हो। इसके लिये वह नाना तरीकों को अपना रहा है और असयम का परिचय दे रहा है। व्यक्ति ब्रह्मचारी वने, सन्तति निरोध तो स्वत. हो जाता है।

आज व्यक्ति को ब्रह्मचारी वनने के उपदेश के साथ-साथ व्यभिचारी न वनने के लिए भी कुछ वताना ठीक रहेगा। आज एक नही अनेक व्यक्ति ऐसे मिलेंगे जो व्यभिचार मे फसे है। वे अपने धन, यौवन और आत्मा के साथ मखौल कर रहे है। ऐसे लोगों को नीति का परामर्श यही है कि व्यक्ति ब्रह्मचारी न वन सके तो व्यभिचारी तो वने ही नही। स्वदारा के साथ भी उसे संयम रखना चाहिए। विशिष्ट तिथियों, त्यौहारो के दिन व दिवासंभोग से तो वचना ही चाहिए। मानव इसमे पशुता को भी मात कर गया है। पशुओ के पास घड़िया नही होती फिर भी उनका कार्यक्रम व्यवस्थित-सा मिलेगा। उनका विकार भी विना ऋतु के नही होता, पर मानव के अन्त.करण मे यह भट्ठी यो ही जलती है और पता नही कव तक यो ही जलती रहेगी। उसे चाहिए कि वह सयम का पथ अपनाए।

१२. त्याग बनाम भोग

मनुष्य का जीवन क्षणभंगुर है, फिर भी वह निश्चिन्त रहता है। ज्यो-ज्यो एक-एक क्षण बीतता है उसकी आयु घटती जाती है। फिर भी धर्म को भूल कर अभिमान करता है। सांसारिक बन्धनों मे बंधता जाता है, फंसता जाता है और उनमें सुख का, तृप्ति का आभास पाता है।

पतंगे दीपक मे पड़कर अपने जीवन को स्वाहा कर देते है। वे नही जानते दीपक की लौ मे उनकी मौत पल रही है। वे तो उसे अपने लिये सुखप्रद चीज ही समझते हैं और उसकी प्राप्ति के लिए जीवन भेंट कर देते है।

मछलियों के मुख मे पानी भर आता है जब वे मास के टुकडे को अपने आगे पाती है। वे नही जानती कि यह उनकी मौत है। जब वे स्वाद के लिए उस मास के टुकडे को मुंह मे दबाती हैं तो एक झटके के साथ मौत उसे अपने पजे मे पकड लेती है। दूसरे ही क्षण लोग देखते हैं उसका मृत शरीर मछुए की टोकरी का एक सदस्य बनने जा रहा है।

लोग दोनो को मूर्ख बताते है। पतंग लौ के लिये और मछली मास के लिए प्राण गवां देती है। वे यों ही प्राण गवा देते है इसमे कोई बडी बात नही; क्योकि उनका ज्ञान विकसित नही है। वे जानते नही कि उनकी यह सुख-लिप्सा मौत का कारण बनेगी। पर मनुष्य का ज्ञान विकसित है। वह जानता कि ये भौतिक सुख उसके आत्म-पतन के कारण है फिर भी छोडता नही। वह जान-बूझकर फसता जाता है। इसे क्या कहा जाए? इससे बढकर और कौन-सी मूर्खता होगी? मनुष्य को यह साफ समझना चाहिए—'त्याग सुख है, भोग दुःख है।' भिक्षु स्वामी ने इसे यों कहा—'त्याग धर्म है, भोग अधर्म।'

उदासर
१५ मार्च, १९५३

२०. थावच्चा-पुत्र

थावच्चा-पुत्र एक दिन अपनी अट्टालिका पर खडा था, उसके कानों मे मधुर-मधुर गीत सुनाई दिया। वह उसे सुनता गया। उसे वडा अच्छा लगा। पर यह नही जान सका कि गीत का भावार्थ क्या है और कहा से ऐसी स्वरलहरी आ रही है। वह अपनी माता के पास आया और पूछने लगा। पुत्र को माता से वढकर और होता ही कौन है? छोटी-छोटी और वडी-से-वडी बात का समाधान उसे माता से ही मिलता है। आगे चलकर पुत्र चाहे वदल पलट जाए पर माता का दिल तो सदैव गगा-सा रहता है। कुछ व्यक्ति तो ऐसे मिलते है जो माता को गाली दिए विना वोलते ही नही। यह उनकी नासमझी है। थावच्चा-पुत्र ने माता से उस मधुर स्वर-लहरी के वारे मे पूछा। माता ने वताया कि पडोसी के घर पुत्र उत्पन्न हुआ है, उसकी खुशी मे गीत गाये जा रहे है। वह वोला—"अच्छा! पुत्र उत्पन्न होने पर इतनी खुशी होती है!" "हां, वेटा"—माता ने कहा। "तो क्या जब मैं पैदा हुआ था तव भी इसी तरह गीत गाए गये थे?"—थावच्चा-पुत्र अपने स्वाभाविक भोलेपन के साथ पूछ वैठा।

वालक जव वोलता है तव व्यक्ति चाहता है कि वह एक वार फिर वोले। उसकी वाणी मे मधुरता भरी रहती है। युवक या वृद्ध की वोली वैसी अच्छी नही लगती जैसी वालक की लगती है। वालक की वोली अन्तर की आवाज होती है। वह निष्कपट होती है। दूसरो की आवाज ऊपरी आवाज होती है। उसमे शाब्दिक सजावट होती है, हृदय की भावना नही होती। एक वक्ता अच्छी से अच्छी शाब्दिक-सजावट कर सकता है। वह एक वार श्रोता-वर्ग को अपनी ओर आकर्षित कर सकता है; पर उसका असर स्थायी न होकर क्षणिक होता है। माता ने वताया—"वत्स! जव तुम्हारा जन्म हुआ तव एक दिन ही नही कई दिन तक ऐसे क्या, इससे भी ज्यादा अच्छे गीत गाये गए थे। खुशिया मनाई गई थी।" थावच्चा-पुत्र वोला—"मा मैं ऊपर जाता हू। मेरे कान उन गीतो को सुनने के लिए लालायित है।"

वह भागा और छत पर आया। ध्यान से गीत सुनने लगा; पर अव उन गीतो मे मधुरता नही थी। कान उन्हे सुनना नही चाहते थे। वह असमजस मे पड गया। क्या वात है? गीत वह नही है या गानेवाले दूसरे है? कुछ समझ मे नही आया। वह माता के पास पुन. दौडा हुआ आया और पूछने लगा—"माताजी गीतो मे इतना फर्क क्यो हो गया?" माता की आखों मे पुत्र की यह वात सुनकर आंसू आ गये। वह वोली—"हमारे उस पडोसी

का वह पुत्र पीछा हो गया है।" वह बोला "मैं समझ नही पाया—क्या वह पहले आगे था और अब पीछे हो गया ?" माता बोली—"अब वह मर गया है।" थावच्चा-पुत्र बोला—"ठीक, अब वह मर गया है इसलिये रोते हैं। अच्छा, मा ! एक बात बताओ व्यक्ति मरता क्यो है ?" माता बोली—"जब उसकी आयु पूर्ण हो जाती है, काल आ जाता है। थावच्चा-पुत्र ने उसी सरल भाव से पूछा—"तो मा ! यह काल कब आता है ? छोटे-बड़े का कुछ ख्याल रखता है क्या ?"

माता बोली —"नही, वह छोटे-बड़े का कोई लिहाज नही रखता। तू ऐसी बातें मत कर। छोड़ इन्हे।"

थावच्चा-पुत्र ने जिद्द भरे स्वर मे कहा—"नही-नही मा ! थोड़ा और बता दो। क्या मुझे भी इसी तरह मरना होगा ?"

माता बोली— 'अरे तुम्हे क्या सबको मरना पड़ेगा।"

थावच्चा-पुत्र ने पुन: पूछा—"अच्छा, क्या तुम्हे भी मरना पड़ेगा मां ? तो क्या इससे बचने का कोई उपाय है, दवा है ? यदि है तो उसे देने-वाले डाक्टर कौन है ?"

माता बोली—"इससे बचना बड़ा मुश्किल है। दवा अवश्य है और उसके डाक्टर अभी अरिष्टनेमि भगवान् है। उनके चरणो मे रहकर साधना करते हुए कर्मों को जो खपा दे, वही इससे बच सकता है।

थावच्चा-पुत्र ने पुन. प्रश्न किया "ऐसा कितने दिनो तक करना पड़ता है ?"

माता बोली—"जीवनपर्यन्त।"

थावच्चा-पुत्र को उसी क्षण ससार से विरक्ति हो गई। वह सोचने लगा—कब भगवान् पधारें और कब साधु बनू।

थावच्चा-पुत्र के दिल का वैराग्य-भाव उत्तरोत्तर बढ़ता गया। आखिर उसकी कामना सफल हुई। भगवान् अरिष्टनेमि शहर मे पधारे और यशस्वी बालक थावच्चा-पुत्र ने उनसे दीक्षा ग्रहण कर ली।

बीकानेर
२० मार्च १९५९

२१. आत्मोदय की दिशा

"आप्त पुरुष उपदेश क्यों देते हैं ?"—गौतम स्वामी ने भगवान् महावीर से पूछा। "क्या वे काम के लिए, बालक्रीड़ा के लिए, राजा के दवाव से या भय से उपदेश फरमाते हैं ?" भगवान् महावीर ने कहा—"नही।" गौतम ने फिर पूछा—"तो क्या कारण हैं ?" भगवान् ने फरमाया—"वे उपदेश फरमाते हैं, इसलिए कि स्वयं सिद्ध वने—अपनी आत्मा को उठायें और साथ ही साथ उस अमृतमयी वाणी से भवसागर तरें। वह वाणी तारने में सहायक वनें जिससे जनता अपनी आत्मा को उठा सके।"

आज महावीर-जयन्ती-सप्ताह का प्रथम दिन है। लोग भगवान महावीर के वारे मे सुनने के लिए एकत्रित हुए हैं। वैसे तो हमेशा ही भगवान् महावीर की वाणी सुनाई जाती है। हमारे पास उसके अतिरिक्त और है ही क्या ? प्रत्येक कार्य महावीर-वाणी से अनुप्राणित होता है। लोगो के पास रुपये, पैसे, जवाहरात, घर, मकान आदि होते हैं पर हमारा तो सव कुछ भगवान् की वाणी ही है। उसके सिवा कौडी भी पास मिलेगी नही। एकदम फकीर है। जव मैं ग्रामीणो के वीच होता हूं वे कहते—"महाराज ! धर्म कैसे करें ? रुपया पैसा है नही ! विना इनके धर्म कैसे हो ?" मैं उन्हे कहता हूं, भाइयो ! तुम्हारे पास कुछ तो धन है। यदि धन से ही धर्म होगा तो हमारी क्या हालत होगी ? हम सवसे पीछे रह जाएगे।" धन से धर्म नही होता, वह आत्मा की वस्तु है और आत्मा से ही होता है। आत्मा से ही आत्मा का उत्थान संभव है।

भगवान् महावीर ने लगभग १२॥ वर्ष तपस्या की। उन्होंने विश्व को अहिंसा और सत्य का पाठ पढ़ाया। उसका मार्गदर्शन किया। आज उनके नाम से सव परिचित है। पर ज्योही भगवान् महावीर का नाम आता है लोग कहते हैं वे जैनों के भगवान् थे। मुझे खेद होता है उन्हें केवल जैनो के साथ क्यों जोड़ा जाता है जवकि वे सम्पूर्ण मानव जाति के हितचिन्तक थे। वास्तव मे देखा जाये तो जैन शब्द पहले था नही। साधुओ के लिए निर्ग्रंथ शब्द का प्रयोग होता था और श्रावको के लिए श्रमणोपासक। यह जैन शब्द तो वाद मे प्रचलित हुआ है। निर्ग्रन्थ का भी वही मतलव है जो जैन का है। अव ऐसा प्रयास किया जाना चाहिए कि लोग यह समझे कि वे सवके थे। प्रयास का मतलव यह नही कि उन पर वल दिया जाये ताकि वे वाध्य होकर यह माने। लेकिन इसका मतलव यह है कि उनके सन्देश को जन-जन तक पहुचाया जाए, लोक जीवन मे उतारने का प्रयास

किया जाए, निरवद्य प्रचार किया जाए। उनकी वाणी को जीवन में उतारा जाए। एक दो दिन नही, महीना और वर्ष के लिए नहीं यावज्जीवन उसको अपनाया जाये और एक अनुकरणीय उदाहरण उपस्थित किया जाये।

लोगो की आवाज है—"सभी जैन एक हो जायें।" आज के इस पण्डाल मे लोग देखे तो उन्हे पता चले—जैन तो क्या जैन जैनेतर मे भी वे कोई भेद-रेखा नही पायेगे। एक हाथ मे पांच अंगुलियां है। सबका अस्तित्व अपना-अपना अलग-अलग है पर सब आपस मे एक-दूसरे की सहयोगी है। एक अंगुली के साथ ही दूसरी सहयोग के लिए तत्पर रहती है। मैं समझता हूं इस सहयोग का नाम ही एकत्व है। यदि एकत्व का मतलब यह किया जाये कि सब अंगुलियां आपस मे मिल जाये, यह तो ठीक नही।

हमारा अनेकान्तवाद समन्वयवाद है, जो विश्व के झगड़ों को मिटाकर मैत्री स्थापित करने वाला है। कई द्वैतवादी है तो कई अद्वैतवादी। पर जैन दोनो को ठीक मानते है। द्वैत भी ठीक है। वह इसमे 'ही' को स्थान नही देता उसके स्थान पर वह 'भी' प्रयुक्त करता है। लोग कहते है कि उनके देश के किसान सुखी है। किसान जाति की दृष्टि से एक है पर व्यक्ति की दृष्टि से अनेक है। इस सन्दर्भ मे भगवान् महावीर का एक जीवन प्रसंग वता देता हू।

भगवान् महावीर अपनी संत मंडली सहित कयंगला नगरी में पधारे। पास ही सावत्थी (श्रावस्ती) नामक नगरी थी। वहां एक स्कदक नामक संन्यासी रहता था। वह प्रकाण्ड विद्वान था। एक दिन पिंगल नामक निर्ग्रन्थ रास्ते में उनसे मिल गया। उसने उनसे पूरे पांच प्रश्न किये। लोक सान्त है या अनन्त? जीव सान्त है या अनन्त? सिद्धि सान्त है या अनन्त? वह कौन-सी मौत है जिससे जन्म-मरण वढ़ता है? संन्यासी तत्त्वदर्शी थे। पर एकाएक प्रश्नो का जवाव देते न वना। पिंगल ने दुवारा पूछा– प्रश्न तो आपने सुन लिए होगे। संन्यासी मौन थे। वह समझ गया कि जवाब नही मिलेगा। पिंगल वापिस लौट गया। शास्त्रार्थ विचारों के आदान-प्रदान की भावना से किया जाना चाहिए। जय-पराजय की भावना वाले शास्त्रार्थ तो मल्ल-कुश्तिया हैं।

स्कन्दक को रात मे नीद नही आती; दिन मे भोजन अच्छा नही लगता। उसने सारी पुस्तके टटोली पर प्रश्नो का कोई जवाव नही मिला। आखिर एक दिन उसने सुना—भगवान् महावीर आये हुए है। वे त्रिकालज्ञ है—भूत, भविष्य, वर्तमान की वात को जानते है। अवश्य उनसे जवाव मिल जाएगा।

स्कन्दक ने भगवान् महावीर के दर्शन करने के लिए प्रस्थान किया। भगवान् गौतम से वोले—आज तुझसे तेरा पुराना मित्र मिलेगा।

गौतम—पुराना मित्र कौन ?

भगवान्—स्कन्दक ।

गौतम—कब, कहां और क्यों मिलेगा ?

भगवान्—यहां और अभी आ रहा है। उसके मन मे ऐसे प्रश्न है। भगवान् गौतम स्कन्दक के सामने आये। उन्होने स्कन्दक से कहा—"तुम क्यो आ रहे हो, मैं बताऊं ? तुम्हारे मन मे ये प्रश्न है।"

स्कन्दक दंग रह गया। उसके मन की बात जाननेवाला यह कौन है ? —उसने पूछा। गौतम ने भगवान् महावीर के दर्शन कराये। पहुचते ही वह नतमस्तक हो गया। भगवान् ने उसके प्रश्नो का जवाब देते हुए कहा— "लोक सान्त भी है अनन्त भी। इसी तरह जीव और सिद्धि भी है। जन्म-मरण को घटाने वाला मरण पण्डित मरण है। जो साधु बधे कर्मो को खपाता हुआ अनशन कर मरता है वह भव भ्रमण को मिटाता है, यह है अनेकान्तवाद।

स्कन्दक वैराग्य भाव से भगवान् का शिष्य बन गया और उसने साधुपन पालते हुए अपना कल्याण किया।

स्कन्दक ने सही तत्त्व समझा, उसे जीवन मे उतारा और आत्मा से आत्मा का कल्याण किया। वह स्वदोषदर्शी था, पर-दोषदर्शी नही। वह क्या करेगा, जो परदोषो को ढूढेगा ? मैं तो यही कहूंगा कि व्यक्ति, अमुक ऐसा है, अमुक वैसा है, न कहकर, सोचे मैं कैसा हूं ? आज लोग स्वदोपदर्शी न बनकर परदोषदर्शी बनते जा रहे है। स्त्री और शूद्र को तो पढने का अधिकार ही नही है ! भला स्त्री पढ़े ! एक घर में दो कलम कैसे चले ! भगवान् महावीर जैसे महापुरुष नही होते तो न मालूम आज उसकी क्या स्थिति बनती ! भगवान् महावीर ने उसे मुक्ति प्राप्त करने की अधिकारिणी बताया। कहां एक तरफ उसे पैर की धूल माना जा रहा है और दूसरी तरफ समता की दृष्टि से देखा जाता है। रात-दिन का-सा अन्तर है। एक समय ऐसा माना जाता होगा पर आज वह समय नही है। जमाना बदल चुका है। जब मैं सुनता हूं कि मुझमे काफी परिवर्तन आ गया है तो मुझे खुशी होती है। हमारा तो यह सिद्धान्त रहा है—द्रव्य परिवर्तनशील है। जिसमें परिवर्तन न आए वह द्रव्य क्या ? हमे विशाल बनना है और इतना परिवर्तन करना है कि एक क्षण मे लोक से लोकान्त तक पहुच जायें। लोग सर्दी मे कपड़े पहनते है—कोट, बनियान और मोटे-मोटे कपडे। लेकिन ज्योही सर्दी गई, गर्मी आई, वे कपड़े सन्दूको मे रख दिये जाते है। आज तो महीन-महीन मलमल के ढीले-ढाले चोले नजर आ रहे है। ऊपरी कपड़ों मे परिवर्तन हुआ, पर अन्दर का यह शरीर नही बदला जाता। वह तो रोजाना यही रहता है। शरीर बदल जाए तो वह परिवर्तन नही, मृत्यु होती है। मेरे कहने का तात्पर्य है कि ऊपरी

व्यवस्थाओं मे चाहे जैसा परिवर्तन किया जा सकता है और वैसा परिवर्तन किया भी जाना चाहिये, जिससे तत्त्व व्यक्ति के दिल और दिमाग में उतारा जा सके। लेकिन मौलिक तत्त्वों को नही वदला जाता।

वीकानेर
२२ मार्च, ५३

२२. शान्ति का साधन

आज विश्व अशान्ति से संत्रस्त है, यह किसी से छिपा नहीं है; इसे सब व्यक्ति जानते है। जन-जन चाहता है उसे शान्ति व सुख मिले। चाहना भी चाहिये और मिलना भी चाहिए। पर विश्व अशान्त क्यो है? इस 'क्यो' की कसौटी पर जब तक कोई प्रश्न या विषय न कस लिया जाय तब तक आज के तार्किको को सन्तोष नहीं मिलता।

मानव पहले भी गुजर-बसर करता था, आज भी करता है। फिर ऐसा कौन-सा अन्तर उसमे आ गया कि पहले वह सुखी था और आज वह अपने आपको अशान्ति के झंझावातो मे लडखडाता पा रहा है? व्यक्ति की आवश्यकताएं उत्तरोत्तर बढती जा रही हैं। उसकी इच्छाए दिनोदिन तर से तम की ओर दौड रही है। प्रत्येक व्यक्ति चाहेगा उसे कम से कम एक 'कार' मिले। उसे कम से कम अपने कानो के पास रेडियो चाहिये, जिससे वह विश्व भर की खबरों को सुनता रहे, उसके मकान-हवेली नौकर चाकर सेवा में हाजिर रहे। कहने का तात्पर्य यह है कि वह चाहता है उसे हर तरह से शान्ति मिले, सुख मिले। चाहता अवश्य है, पर इस तरह शान्ति मिले—यह उसके वश की बात नहीं। एक तरफ इच्छाएं फैलती हैं और दूसरी तरफ अशान्ति। इस अशान्ति की भट्टी से जलता हुआ मानव विदेशी वादो की ओर आशाभरी दृष्टि से निहार रहा है, किसी तरह साम्यवाद आये। साम्यवाद आयेगा शान्ति मिलेगी। पर याद रखिये यह उसका स्थायी हल नहीं, क्षणिक हल है। इससे आत्मा को शान्ति मिलने की नही, और इस बात का तो बडा ताज्जुब होता है कि इन वादों के पीछे दो बड़ी शक्तियां भृकुटियां ताने काम कर रही हैं। व्यक्ति धन के लिए लड़ सकता है। जमीन के लिए झगड लेता है, पत्नी के लिए भी लड़ सकता है, यह सम्भव है। पर विचारों के लिए लडे, बडे-बडे महायुद्ध करे, लाखो व्यक्तियों के खून से होली खेली जाए, यह तो आश्चर्यचकित करनेवाली-सी बात है। आज वे भारतवासी जो संसार भर को शान्ति का सन्देश देते थे, सन्तप्तावस्था में शान्ति के लिए दूसरो की ओर आंखे फाड़ रहे हैं। उलटा नमक सांभर को जाता है। होता तो यह है कि सांभर से लोगों को नमक मिले। भारतवासी आज भी देखें-टटोलें कि उनके यहां कोई ऐसी चीज है क्या जो शान्ति दे सके। आज भी यहा अनेक अकिंचन धन को धूल के समान समझने वाले सन्त मिलेंगे, ब्रह्मचारी मिलेगे। उनके सम्पर्क से लाभ उठाएं। उनकी ज्योति मे अपने जीवन को ज्योतिर्मय बनाएं। जिस प्रकार एक दीपक से सैकडो, हजारों क्या,

चाहे जितने दीपको को प्रकाशमय वनाया जा सकता है उसी प्रकार साधु के संसर्ग से सैंकड़ो व्यक्ति अपनी आत्मा को ज्योतिर्मय वना सकते है ।

अशान्ति का मूल कारण आवश्यकताओ की वृद्धि। जन-जीवन इससे भारभूत वना हुआ है। विना इच्छाओं को सीमित किये सन्तोप और शान्ति मिलती नही। इनको चाहे जितना वढ़ाया या घटाया जा सकता है। जितनी आवश्यकताओ को वढ़ाया जाएगा लोभ वढ़ता जाएगा और एक तरह से मन उद्विग्न वन जायगा। ज्यो-ज्यों उन्हें घटाया जाएगा व्यक्ति को आत्म-सन्तोप और शान्ति मिलेगी। व्यक्ति अपनी इच्छाओ को सीमित वनाये, आत्म-उत्थान करे, इस उद्देश्य को लेकर अणुव्रती-संघ की स्थापना की गयी जो जनता का इस दिशा मे मार्ग दर्शन करेगा। लोग नही देखते कि हमारे पास में अच्छी चीज है। वे घर की चीज की उपेक्षा करते है। वाहर का कोई व्यक्ति यहा आकर नैतिकता का प्रसार करे, लोग वड़े ध्यान पूर्वक सुनेंगे, तारीफ करेंगे कि वडा भारी काम कर रहे है और ये पत्रकार वडे-वड़े पृष्ठो मे उनकी खवरे निकालेगे। लेकिन घर की चीज पर उस समय ध्यान दिया है जव विदेशी उनकी तारीफ करते है। लोगों की आखे खुलती है, "अच्छा जी, चीज तो अच्छी है!" पर इसके विना वे उधर ध्यान नही देते। जीवन को हल्का वनाएं, विना जीवन को हल्का वनाये शान्ति मिलने को नही। भोगो को छोडे, त्यागो को अपनाये। आडम्वर को छोडे, सादगी को अपनाए। जीवन हल्का होगा तभी शांति और सुख मिलेगा।

वीकानेर
२३ मार्च, ५३

२३. कल्याण अपना भी औरों का भी

अपनी आत्मा ही सब कुछ करती है। वही कर्त्ता है। वही विकर्त्ता है। 'अप्पा कत्ता विकत्ता य।' किसी दूसरे के करने से अनिष्ट या भला होता नही। फिर किसी के प्रति यह भावना रखना या ऐसा समझना कि अमुक व्यक्ति ने मेरा ऐसा किया या वैसा किया, व्यक्ति की भूल है। वह क्यों किसी के सिर दोप मढ़े ?

प्रश्न उठेगा सब सुख चाहते है, कोई दुःख नही चाहता और आत्मा सब कुछ करती है। फिर सबको सुख मिलता क्यों नही ? सब दुःखी क्यों हैं ? बात सही है सब दुःखी है; पर सुख पाने के लिए प्रयत्न नही किया जाता। मामूली से भौतिक सुखो मे—सुखाभासो मे मानव लिप्त हो जाता है। पर असली सुखो को पाने के लिए कटकाकीर्ण-पथ पर कौन चले ? वह थोड़े से कष्टो से घबरा जाता है और सुख पाने के पथ से विलग हो जाता है।

क्रोध आत्मा को दु.ख पहुचानेवाले दुर्गुणो मे अपना एक स्थान रखता है। इसका स्थान आत्मा है। इसके जैसा कृतघ्न भला और कौन मिलेगा ? यह जिस आत्मा, देह या शरीर मे उत्पन्न होता है, उसी को जलाता है। वह पनपे कैसे, भीतर ही भीतर क्रोध की भट्ठी जलती है और उसमें सब स्वाहा हो जाता है। क्रोध आत्मा का अध पतन करता है, उसे भव-भव में भटकाता है।

देखा जाए तो घर-घर क्रोध की अग्नि जलती मिलेगी। लड़ाई, कलह, वैमनस्य आदि इसके परिणाम हैं। इन पर अलग-अलग प्रकाश डाला जाए तो महिलाओं को देखिये—मामूली-सी बात के लिए चक्की, चूल्हा, कूडा, करकट, झाडू, बुहारी, बाल-बच्चो की छोटी-छोटी-सी बातो के लिए आपस मे लड़ लिया जाता है। हा, इनमे एक विशेपता है—इनकी लड़ाई चहारदीवारी के भीतर की लडाई है। वह घर से बाहर सामान्यत: नही जाती पर पुरुष जब झगडते है कचहरी या हाईकोर्ट तक पहुंच कर भी दम नही लेते वे प्रिवी कौंसिल तक पहुंच जाते है। जायज नाजायज तरीको को अपना लिया जाता है। होना जाना कुछ नही, दोनो तरफ नुकसान के सिवा और क्या है ? दो व्यक्ति एक रस्सी को ताने, होना क्या है ? वह टूट जायगी और उसके साथ ही साथ दोनो की हड्डिया पसलियां भी तोडेगी। पर उनमे एक धैर्य से काम ले तो वह तो इससे बच ही जायगा। वह उस रस्सी को न खीचकर छोड देता है तो वह बच ही जाता है पर जो खीचता है उसे उसकी सजा मिल जाती है।

आज ऐसे झगडे तो घर-घर मिलेगे। पर खेद के साथ कहना पड़ता

है धर्म पुरुष कहलाने वालो में भी यह चीज घर कर गई है। एक धर्म सम्प्रदाय दूसरे धर्म सम्प्रदाय को अपनी आखो से देखना नही चाहता। और जब शास्त्रार्थ के रूप में मल्लयुद्ध शुरू होता है रस्सी के टूटने या न टूटने का कोई ख्याल नही रखा जाता। यदि धर्म ही, जो विश्व को शान्ति प्रदायक है, इसका अखाडा वन गया तो फिर विश्वशान्ति की इच्छा किस से रखेगा ? धर्म-पुरुष जो विश्व-मैत्री के प्रचारक है, यदि ऐसा करेगे तो फिर विश्व किस से क्या आशा रखेगा ?

देखा जाता है किसी ने किसी के विरुद्ध कुछ कह दिया तो ईंट का जवाब पत्थर से दिया जाता है। किसी ने पैम्फलेट छपाया तो प्रत्युत्तर मे वुकलेट छपती है। कोई छोटी पुस्तक छपाता है तो उसके जवाव मे वड़ी पुस्तक निकलती है। मैं तो इस तरीके को हेय समझता हू। व्यर्थ की छापे-वाजी किस काम की ? 'तेरापन्थ' का उदाहरण लीजिए। उस पर कितने-कितने आक्रमण-प्रत्याक्रमण हुए और उसके वारे मे इतनी भ्रान्ति फैलाई गई कि वह मेवाड, मारवाड, पजाव, दिल्ली, मध्यभारत, दक्षिण, मद्रास, वंगलोर, वंगाल, वम्वई तक नही, जर्मनी तक पहुची, घृणा फैली। पर हमने सदा विरोध को विनोद समझा। लोग पैसा खर्च करते है सिनेमा, थियेटर, नाटक देखते है पर हम तो सोचते है यह विरोध विना पैसे देखने का तमाशा है। यदि किसी को शंका है तो वह मिटाये—पूछकर मिटाये। वह पूछता नही हैं फैलाता है तो हमारे प्रचार मे सहायता करता है। हमारा क्या लेता है ? हा; इसमे हमे कुछ कठिनाइया हुई। हम जहां भी गए हमारा पहला व्याख्यान तो भ्रान्तिया दूर करने के लिए हुआ और फिर जव लोगो की आंखें खुली, उन्हे उपदेश दिये गए जिन्हे उन्होने सहर्ष अपनाया। सत्य सत्य रहेगा वह छिपा रह नही सकता। चाहे एक वार आसमान घनघोर घटाओ से घिर जाए पर ज्योही हवा चली वह विखर जाता है और सूर्य अपने सम्पूर्ण तेज के साथ प्रकट हो जाता है। इसी तरह आज वे भ्रान्तियां मृतप्राय है। किसी को उनके वारे मे कुछ पूछते नही सुना जाता। लोग सम्पर्क में आते जाते है और सहर्ष उपदेश श्रवण करते है। यह सव होता है धैर्य से। क्रोध से क्रोध वढ़ता है, घटता नही। फिर शान्ति कैसे मिले ? आत्मा का उत्थान कैसे हो ? धर्म-पुरुष ही इसके लिए मार्गदर्शन कर सकते है। वे स्वयं क्रोध पर विजय पाये और दूसरो को भी ऐसा करने की प्रेरणा दे। स्वकल्याण के साथ-साथ जन-कल्याण करे।

वीकानेर
२४ मार्च, ५३

२४. जीवन को ऊंचा उठाओ

मैं कोई सामाजिक प्राणी नही; मेरा जीवन साधनामय है। मैं सिद्ध नही, साधक हूं। साधना-पथ पर बढ़ते जाना मेरा काम है। इस तरह मैं अपना उत्थान करता हुआ दूसरों का उत्थान करूं, यह भी मेरा एक काम हो जाता है। हमारा प्रत्येक कार्य साधनामय है। कोई हमारी वेष-भूषा देखकर भड़के नही। यह जो मुखवस्त्रिका है, इसके लगाने की भी सार्थकता है। जैनसिद्धान्तानुसार बोलने से जो तेज हवा निकलती है उससे वायुकाय के जीवों की हिंसा होती है और उस हिंसा से इस तरह बचा जाता है।

हमारा कार्यक्रम रहता है अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह आदि महाव्रतों की साधना करना। आज ६५० से अधिक साधु-साध्वियां इनकी साधना करते हैं। वे जगह-जगह पद-भ्रमण करते हुए इनके प्रसार तथा प्रचार में सतत प्रयत्नशील है। उनका स्वावलम्वी जीवन है। वे अपने धर्मोपकरण, वस्त्र, पात्र, पुस्तक इत्यादि सब वजन स्वयं लेकर चलते है। वे किसी भी जगह एक मास और ज्यादा से ज्यादा चातुर्मास के लिए यानी चार महीने से अधिक नही ठहरते।

हम पैदल यात्रा करते है; रेल आदि मे यात्रा नही करते। अत: देहातों मे ज्यादा रहना होता है। पैदल-भ्रमण से यात्रा पर्याप्त नही हो पाती पर जितनी भी होती है ठोस होती है।

हम कही भी जाएं, किसी पर भारभूत नही होते। आहार, पानी आदि दाता देना चाहे और हमारे लिए वह अग्राह्य न हो तो हम उसे ले सकते हैं। वह हमारे लिए बनाया हुआ भी नही होना चाहिए। इसी तरह वस्त्र भी लेते हैं। सन्तो को पढ़ाने के लिए किसी भी वेतनभोगी अध्यापक या पण्डित की कोई आवश्यकता नही। हम लोग किसी भी प्रकार का मठ, मन्दिर या चला-चल जायदाद नही रखते। मन्दिर और मठ एक तरह से बन्धन हैं। मैं किसी पर आक्षेप नही करता। पर देखिए, मन्दिरों और मठों से लाभ हुआ या नहीं, क्षति अवश्य हुई है। मन्दिर और मठो में परिग्रह को प्रोत्साहन मिलता है। न हमारे मन्दिर है, न मठ और न हम उनके पुजारी ही है इसीलिए तो इस पन्थ का नाम 'तेरापंथ' (God's path) रखा गया। हमारे आदि गुरु आचार्य भिक्षु थे। उन्होने ऐसे-ऐसे नियम-मर्यादाएं बांधी जो आज हमारे लिए एक गौरव की चीज है। उन्होने ऐसे समय में इस धर्म-संस्था की स्थापना की जब कि धर्म का ठेका धन से लिया जाने लगा था। धर्म मन्दिर और मठाधीशो की चीज बनने लगा था। धर्म धन बिना नही होता—ऐसी एक

धारणा बनने लगी थी। ऐसे समय मे भिक्षु स्वामी ने बताया, "धर्म धन से नही होता। वह आत्मा से हो सकता है। सब धर्माचरण करो।" उन्होने चेला बनाने की प्रथा बन्द की। चेला-प्रथा एक तरह से जागीरी-प्रथा है। शिष्यो का लोभ धर्म-कर्म सब भुला देता है। उन्होने मर्यादा बनाई—कोई किसी को शिष्य नही बना सकेगा। सब एक गुरु के शिष्य होंगे। पुस्तक-पन्नों आदि पर किसी का व्यक्तिगत अधिकार नही रहेगा। सब गुरु के तत्त्वावधान मे होगे। इस तरह उन्होने इस सस्था को सुसगठित एवं सुव्यवस्थित बना दिया। यही कारण है कि तेरापंथ के बाद आज तक जैनधर्म की ओर कोई सस्था न बनी।

इधर ३-४ वर्षो मे घूमते हुए हमने जयपुर, देहली और पंजाब की यात्रा की। सब जगह अच्छा प्रसार हुआ। अब राजस्थान आना हुआ है—एक ही उद्देश्य को लेकर—आत्म-साधना करते हुए आज के इस विश्रृंखल जन-जीवन को उठाना। आज जनता सरकार पर दोषारोपण करती है तो सरकार जनता पर। यह तो देखा जाए कि दोनो मे कोई दोषो से बरी भी है क्या ? ऐसी हालत मे जन-जीवन को उठाने के लिए अपरिग्रहवाद को महत्त्व देना पडेगा। पूजी को महत्त्व देने से प्रत्येक व्यक्ति की यह आकांक्षा रहेगी कि वह येन-केन प्रकारेण पूजीपति बने और यदि आचार और अपरिग्रह को महत्त्व दिया गया—आदर दिया गया तो व्यक्ति का दिमाग इधर दौडेगा कि वह आचारवान् और सतोषी बने। अपरिग्रहवाद व्यक्ति की लालसा को घटायेगा। जीवन को हल्का बनायेगा और यही जीवन का सही हल होगा। जीवन को सात्त्विक बनाने के लिये ही अणुव्रत-योजना बनाई गई। महाव्रत पालन करने कठिन है तो अणुव्रत तो कम से कम पालन किये जाये। पूर्ण अहिंसक न बन सके, तो यथाशक्ति अहिंसा को अपनाए। इसी तरह यथाशक्ति सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह आदि का पालन किया जाये। अणुव्रत-योजना के बाद ही उसका प्रचार करने से लोगों पर अच्छा प्रभाव पड़ता है। आज साधुओ का प्रभाव पडता है, क्योंकि वे त्यागी हैं उनका जीवन ऊंचा उठा हुआ है। आप भी अपने जीवन को ऊचा उठाइये।

बीकानेर
२५ मार्च, ५३

२५. आत्महत्या पाप है

किसी को मारना हिंसा है; स्वयं आत्महत्या करके मरना भी हिंसा है। इसीलिए जो व्यक्ति सम्यक्त्वी बनता है, सन्मार्गी बनता है उसके लिए निर्धारित प्रतिज्ञाओं मे आत्महत्या न करना भी एक है। बम्बई की बात है। एक व्यक्ति ने जब इस नियम को जाना तो साधुओं से बोला—"सन्मार्गी के लिए यह क्या नियम बनाया गया ? भला किसी को न मारने का त्याग हो सकता था पर स्वयं न मरे यह भी कोई नियम है ! ऐसा कौन मूर्ख होगा जो मरने की इच्छा रखता होगा और जो स्वयं आत्महत्या करेगा।" उसने ज्ञानी और ज्ञान के साथ मखौल किया। थोड़े दिन बाद उसके व्यापार में घाटा लग गया, घाटा भी इतना कि वह उसे चुकाने में असमर्थ था। उसका कलेजा बैठ गया। सोचा, आत्महत्या कर ली जाये। पास ही समुद्र था। वह चला, अपनी चिंता को लिए चला, उसे समुद्र मे विसर्जन करने का अरमान लेकर चला। वह समुद्र के पास आया और चिंता से मुक्त होने का उपक्रम करने लगा। उसे याद आया, "सन्तो ने बताया था—"आत्म हत्या करना महापाप है।" और मैं उस जघन्य काम को करने जा रहा हूं। धिक्कार है मुझे जो अपने आपको भूल गया हू। वह उन्ही पैरो सन्तो के पास वापिस आया, और लगा पूछने—"महाराज ! वह नियम किसने बनाया था?" उन्होने बताया, "हमारे आदि गुरु भिक्षुस्वामी ने इसे बनाया था।" वह कहने लगा, "धन्य है महाराज ! उनको, जिन्होने ऐसा नियम बनाया। एक बार नही करोड़ो बार धन्यवाद है।" सन्त आश्चर्यचकित रह गये। वे सोचने लगे —क्या बात है ? जो व्यक्ति कुछ दिनो पूर्व मखौल उडाता था वही आज प्रशसा करता है। अन्त में उसने बताया, "महाराज ! मैं आत्महत्या करने जा रहा था। पर जब मुझे वह नियम याद आया, मैंने उस विचार को छोड़ दिया।"

भाइयो ! इस सूत्र को याद रखें—कठिनाइयो से हिम्मत हारकर आत्महत्या की बात सोचना कायरता है, पलायन है और अपराध है। हो सकता है एक बार इस शरीर से पिण्ड छूट जाये, चिन्ताओ से भी एक बार मुक्ति मिल जाये पर आगे ननिहाल नही है। आत्महत्या महापाप है। आगे उसका फल अवश्य मिलता है। ऐसे महापाप से बचने वाला महान् होता है।

आत्महत्या पाप है पर संथारा आत्महत्या नहीं है। इसी प्रकार ब्रह्मचर्य की सुरक्षा के लिए किए गए देहत्याग को भी आत्महत्या नही माना गया। जैन साहित्य मे ऐसे अनेक उदाहरण मिलते है। उन उदाहरणों में महासती चन्दनबाला और उसकी मा धारिणी रानी का उदाहरण प्रसिद्ध है। चन्दनबाला भगवान् महावीर की शिष्या सतियो मे सर्वप्रमुख थी। धारणी उसकी माता थी। उसे बचपन से ही अच्छे धार्मिक संस्कार मिले थे। वह

चेटक की पुत्री थी। उसका विवाह दधिवाहन के साथ हुआ। शतानीक ने राज्य पर आक्रमण किया। दधिवाहन को शहर छोड़ जंगल में जाना पड़ा। राज्य शतानीक के अधिकार मे आ गया। सैनिक मद्य पीकर मदोन्मत्त राक्षस बन गये। शहर मे बड़े-बड़े अत्याचार हुए। खून की नदियां बह गईं। सैकड़ो स्त्रियां बलात्कार की शिकार हुईं। धन का भूखा रथिक राजप्रासाद मे गया। पर वहां धारणी और चन्दनबाला मिली। वह धन को भूल गया। मन मे विचारने लगा—इनसे बढ़कर और क्या कीमती रत्न होगा? उसने उनसे चलने के लिए कहा। महारानी क्या करती? चलने के सिवा कोई चारा भी नही था। महारानी धारिणी और राजकुमारी चन्दनबाला चली। चलते-चलते वे एक बीहड वन मे आ गये। रथिक ने अपनी काली करतूतो की शुरूआत की। वह अनर्गल बोलने लगा। रानी सोच रही थी—मै इसे ठीक रास्ते पर ले आऊगी। नारी और नर के बीच युद्ध था। देखे, कौन जीतता है? रथिक ने कुत्ते का-सा काम किया। कुत्ते को ज्यो-ज्यों दूर करने की चेष्टा की जाती है। वह काटने के लिए उतना ही नजदीक आता है। रथिक पास आया। धारणी नारी के रूप मे नाहरी-सी लगने लगी। उसने गरजती आवाज मे कहा—"क्या समझ रखा है? खबरदार, यदि पास में आया तो" पर वह क्यो मानने लगा? बोला, "तुम मेरी हो।" धारणी बोली "हां, मै तेरी हो सकती हू माता या बहिन। तू क्या चाहता है? मेरे से दूर रह अन्यथा मुझे जो करना है, वह करती हू।" चन्दनबाला डर गई। धारणी बोली "बेटी घबराने की कोई बात नही। मैं तुझे अन्तिम शिक्षा दे रही हूं।" ज्योही रथिक पास आया, धारणी सतीत्व की बलिवेदी पर बलिदान हो गई, उसने अपने सतीत्व की रक्षा के लिए जीभ खीचकर मृत्यु का आलिंगन कर लिया। उस मृत्यु को जिसका नाम सुनने मात्र से बड़ों-बड़ों के कलेजे दहल जाते है, उसने उसे सहर्ष स्वीकार कर लिया। रथिक अवाक् रह गया। उसकी अक्ल ठिकाने आ गई। हाय! मै जिसको अपनाने जा रहा था वह मेरी न बनी। चन्दनबाला ने सोचा कि यह मुझे भी छोडेगा नही। माता ने मुझे सबक सिखा दिया है बलिदान हो जाने का। उसने अपनी जिह्वा हाथ मे पकड़ी। रथिक की आत्मा रोने लगी। वह चिल्ला पड़ा और बोला "तू मेरी बेटी के समान है, मरना मत। मै तेरे साथ कुछ नहीं करूगा।"

धारिणी का यह बलिदान आत्महत्या नही है। उसने अपने सतीत्व की रक्षा के लिए विवेक पूर्वक शरीर का त्याग किया था।

बीकानेर
२ अप्रैल, ५३

२६. परिवार की धुरी महिला

सब गतियो मे मानवगति महान् मानी गई है। मानव शब्द मे स्त्री और पुरुप दोनो ही आ जाते है। मानव शब्द मे जितना महत्त्व पुरुप को दिया गया है उतना ही स्त्रियों को भी दिया गया है। कोई किसी से किसी वात मे कम नही ! स्त्रियां घरेलू कार्य करती है और पुरुष वाहर का काम करते है। इससे कोई ऊंचा या नीच नही हो जाता। यह उच्चता और नीचता की कसौटी नही है। फिर क्या कारण है कि स्त्रियां पिछडी हुई कहलाती है। इसमे कुछ दोष उनका भी होना सम्भव है। एक दृष्टि से हम कह सकते है कि वे दोपी है और वह दोष यह है कि वे अपने आपको हीन समझती है। वे अपने आत्म-वल को जागृत नही करती। वे अपने आपको पुरुपो के आश्रित समझती हैं। मेरे कहने का यह मतलब नही कि स्त्रियां स्वच्छन्द वने, क्राति करे और क्रान्ति के नाम पर भ्रान्ति को अपना ले, अपने आप को उच्छृङ्खल वना ले। मै तो इसलिए कहता हूं कि आज जिस आजादी के नशे मे राजनीतिज्ञो मे, पुरुपो मे, छात्रो मे जो उच्छृङ्खलता घर कर गई है उसका शिकार स्त्रियां न वन जायें। वे मानव है, उनमे मानवता रहे। दुनिया में चार चीजो की प्राप्ति होना अति दुर्लभ है। उनमे से एक मानवता है। मानवता को पाने के लिए उसे धर्म और आध्यात्मिक शिक्षा पाने की आवश्यकता है। धर्म और आध्यात्मिक शिक्षा पाने मे स्त्रियो का स्थान कम नही है। जिस प्रकार पुरुष इसमे स्वतन्त्र है, स्त्रियां भी स्वतन्त्र है। इसका एक ज्वलन्त उदाहरण सामने है। ये जितनी भी साध्विया है सव पढी-लिखी है और अपनी साधना मे लीन है। धर्म-प्रचार करने मे इनका भी एक वडा भाग है। धर्म-प्रचार के लिए ये दूर तक पैदल विहार करती है। ये आपके ही घरो की वहन-वेटिया है जो धर्म मे लीन है और आध्यात्मिक शिक्षा प्राप्त करने मे दत्तचित्त है। समाज मे स्त्रीशिक्षा पर ध्यान कम दिया जाता है। इसी कारण स्त्रियो में रूढ़ियां घर कर गई है। धर्म के नाम पर नाना प्रकार की रूढ़िया उन्हें पकडा दी गई है। कोई कह दे कि पीपल पूजो, उसे जल चढाओ, वडा पुण्य होगा, तो स्त्रिया वैसा ही करने लगती है। पता नही इससे कैसे धर्म होगा ? हो सकता है इसके पीछे कोई दूसरा रहस्य हो पर धर्म का नाम क्यो लिया जाए। इसी तरह धन, ऐश्वर्य, सन्तान के लिए देवी और देवताओ को पूजा जाता है। वे देवी देवताओ से लेकर पीर-पैगम्बर तक को पूजती है पर इस तरह होना-जाना क्या है। यही नही, धर्म के नाम पर पशुओ की वलि भी दी जाती है। वहिनो ! इससे धर्म होने का नही। धर्म होगा आत्म-शुद्धि से,

विना आत्म-शुद्धि के धर्म नही। आत्म-शुद्धि के लिए पांच महाव्रत है—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। इनका पूर्णरूपेण तीन करण तीन योग से साधु पालन करते है। तुम लोग गृहस्थ हो। इनका पूर्णरूपेण पालन न भी कर सको तो कम से कम इनके छोटे नियमों को—अणुव्रतो को तो अवश्य अपनाओ। हिंसा मात्र से पूर्णरूपेण न वच सको तो कम से कम निरर्थक हिंसा तो मत करो। ऐसा झूठ तो मत बोलो जिससे अनर्थ होता हो। ऐसा सत्य भी मत कहो जो अप्रिय हो, हिंसाकारी हो। इसी तरह चोरी को छोड़ो, अब्रह्मचर्य को छोड़ो। संचयवृत्ति को छोडो। आवश्यक वस्तुओं का संचय न छोड़ा जा सके तो कम से कम वेमतलव संचय तो मत करो। जहा एक साड़ी की जरूरत हो, पचासो साडिया मत खरीदो। जहां सादी साड़ी से भी काम चल सके वहां जरी और किनारी की वेशकीमती साड़ियो को तो काम मे मत लाओ। अपने जीवन मे सादगी लाओ और अपने परिवार को यह शिक्षा दो कि हमें सादा जीवन जीना है, नेकी का जीवन जीना है, ईमानदारी का जीवन जीना है। ब्लैक और भ्रष्टाचार से आने वाला पैसा परिवार को गलत रास्ते पर ले जाता है। हमे नही चाहिए वह ऐश और आराम जिसकी तह मे मानवता खतरे मे हो।" मै समझता हूं इससे वहुत कुछ नैतिक उत्थान होगा और इसके साथ-साथ सामाजिक उत्थान होना भी सम्भव है।

वीकानेर,
४ अप्रैल, ५३

२७. श्रद्धा और चरित्र

मानव सुख और दु.ख का स्वयं निर्माता है। उसकी अच्छी और बुरी प्रवृत्तिया ही उसके लिए अच्छा और बुरा होने का कारण है। दूसरे शब्दो मे ये अच्छी और वुरी प्रवृत्तिया ही उसके शुभ और अशुभ कर्म है। इन कर्मो का वन्ध मानव के जीवन मे क्षण-क्षण होता रहता है। ये कर्म मानव मे उसके मूल आत्म-गुण को विकसित नही होने देते।

ज्ञानावरणीय कर्म उसको कहते हैं जिसके कारण ज्ञान पर पर्दा पड़ जाता है। आख पर पट्टी वाधने से कोई चीज देखने में नहीं आती और पट्टी खुलते ही सव पदार्थ स्पष्ट नजर आते है वैसे ही ज्ञान पर आवरण रहता है और उस आवरण के हटते ही ज्ञान अपने मूल रूप मे प्रकट हो जाता है। ज्ञान सव पुरुषो मे समान नही होता। ज्ञान को ग्रहण करने की योग्यता भी सव मे एक जैसी नही होती। किसी मे विकसित और किसी मे अविकसित रूप मे रहती है। कई पुरुप चतुर कहे जाते है; कई मूर्ख भी कहे जाते है। कारण यही है कि कर्मो का आवरण हल्का, भारी होता है। एक ही समय मे कही हुई एक वात सब लोगो के हृदय-पटल पर एक-सा प्रभाव नहीं डालती तथा एक ही सी समझ मे भी नही आती। यद्यपि मानव के समझने के इन्द्रिय साधन सव के एक से है, फिर भी समझने मे बहुत अन्तर पड़ जाता है।

श्रवण नयन अरु नासिका।
है सबके इक ठोर॥
वो कहनो सुननो समझवो।
चतुरन को कछु और॥

चतुर पुरुप का कहने, सुनने और समझने मे वड़ा अन्तर रहता है। यह सव ज्ञानावरणीय कर्म का प्रभाव है। इसी के कारण ज्ञान ग्रहण करने की शक्ति न्यूनाधिक है। कोई समझ ही नही पाता, कोई थोडा-सा समझता है और कोई स्पष्ट समझ पाता है। एक स्थिति में होते हुए भी योग्यता की कमी के कारण सब पुरुप समान रूप से ग्रहण करने मे असमर्थ है।

पानी एक ही होता है। उससे एक पुरुप आम को सीचता है, दूसरा नीम को, तीसरा आक को, चौथा धतूरे को। पानी का गुण एक होते हुए भी सब का फल समान नही। आम मे मिठास पैदा होती है, नीम मे कड़वाहट है, आक और धतूरे मे जीवन-संहारक फल उत्पन्न होते है। एक ही पानी की यह वहुविध परिणति वृक्षो की अपनी योग्यता पर निर्भर है।

वर्पा का पानी तवे पर पड़ने से भस्म हो जाता है, अकूरड़ी (घूर) पर पड़ने से कृमि या गंदगी बढाता है, साप के मुह में पड़ने से जहर हो जाता है और सीप के मुह मे पडने से मोती हो जाता है। यह गुण-दोप पानी का नही, उसे झेलने वालो का है।

जन-सभा मे दिया हुआ उपदेश भी सबको एक-सा लाभ नही पहुंचा सकता। निष्पक्ष ज्ञानी श्रोता बहुत बडा लाभ ग्रहण करते है। सार-सार को हृदयंगम कर लेते है। ये चतुर पुरुप निष्पक्ष चलनी की तरह के हैं जो सार-सार को ग्रहण कर लेते है और थोथे असार तत्त्व को छोड देते हैं।

आम की मजरी खाकर कोयल का कंठ सुरीला हो जाता है और सुननेवाले को प्रसन्नता होती है और कौए का कठ पक जाता है। यह मजरी का दोप नही, योग्यता का अन्तर है।

चित्रकार सुन्दर भीत्ति पर अपनी तूलिका से मनमोहक तथा हृदयस्पर्शी चित्र तैयार कर देता है। लेकिन गोबर की भीत्ति पर वही चित्रकार अपनी तूलिका को तोड दे तो भी सुन्दर चित्रकारी नहीं कर सकता। यह चित्रकार का दोप नही भीत्ति की योग्यता मे अतर है। इसी तरह चतुर पुरुपो के कहने, सुनने और समझने में अन्तर है।

ज्ञानावरणीय की तरह ही दर्शनावरणीय कर्म को समझना चाहिए। इससे देखने की शक्ति पर आवरण आता है।

मोहनीय कर्म—मोह से बढ़कर दूसरी चीज है नही, यह आत्म-पतन का खुला मार्ग है। इसी मोह मे सारी दुनिया इस तरह ओत-प्रोत है कि उसको होश तक नही रहता। मैं जो कुछ कर रहा हूं वह अच्छा है या बुरा। इसका ज्ञान नहीं रहता। मदिरा मे उन्मत्त हुए मानव की तरह बेहोश होकर वह नाचता है और अपनी आत्मा को निर्बल एव नि.सहाय बना कर आत्मपतन की ओर अग्रसर होता है।

नियम बनाना मुश्किल होता है। सबकी सुविधाओं को ध्यान मे रखकर नियम बनाना तो और भी कठिन है, लेकिन उनको तोडना अति सरल है। प्रजापति जानता है कि घडा कितनी मेहनत से बनता है लेकिन एक छोटे-ककर से तोडा जा सकता है। जीवन निर्माणकारी नियमो को बनाना तो और भी कठिन है। मोह की प्रेरणा से भटकने वाले व्यक्तियो को वे ही त्राण दे सकते है। मोहान्ध व्यक्ति को यह भान ही नही रहता कि मैं कौन हू ? कहां हू ? कैसी स्थिति में हू ? ऐसे व्यक्ति मनुष्यता से सर्वथा दूर हो जाते है। जो शराबी की गति, वही मोहयुक्त मानव की है। मोहकर्म के वशीभूत मनुष्य श्रद्धा, और चरित्र भी खो देते है।

बहिनो और भाइयों के ध्यान रखने की चीज है कि वे श्रद्धा और चरित्र को कायम रखे। अन्यथा मानवता से हाथ धो बैठेंगे। अगर मानवता

गंवाई तो फिर भर्तृहरि के शब्दों में—"ते मर्त्यलोके भुवि भारभूताः मनुष्य-रूपेण मृगाश्चरन्ति" वाली वात चरितार्थ होगी।

आज के इस भौतिकवादी युग में मानव में इन दोनो तत्त्वों की कमी मालूम पडती है। मानव स्वयं को नही देखता। वह दूसरो के गुणावगुण तुरंत देखता है और आक्षेप करने में भी नही सकुचाता। यह दृष्टिकोण का अन्तर है। सन्तजनो का अनुभव कहता है—

वुरा जो देखन मैं चला।
वुरा न दीखा कोय॥
जो दिल खोजा आपना।
मुझ सा वुरा न कोय॥

मनुष्य अपनी कमियों को देखे। उसे दूसरे के अवगुण नही देखने चाहिये। लेकिन आज का मानव दूसरो के अवगुणो को ढूढने मे चतुर होने का दावा करता है। पीलिये के रोगी को सारी चीजे पीली दिखाई दें तो यह चीजो का नही उसकी आखो का दोष है। कोई भी चीज उसे सफेद नही दीखती। इसी तरह आज का मानव दूसरे के दोषो को ढूढ़ता है। अतः घर मे कलह, लड़ाई, झगड़े हो रहे है।

वाप रु वेटा चढै अदालत
वालम वनिता वीच वकालत
भ्रा-भगिनी री आ ही हालत
सादत पड़दायत मां वहना री इजहार में रे
हा! हा!! फस्या सकल संसारी यू संसार मे रे॥

एक तरफ पिता का वकील, दूसरी तरफ पुत्र का वकील। एक तरफ पति का वकील, दूसरी तरफ पत्नी का वकील। एक तरफ वड़े भाई का वकील दूसरी ओर छोटे भाई का वकील।

इस तरह आपसी कलह ज्यादा दिन चल जाए तो घर को खत्म कर दे। एक पुराना किस्सा है। जाट जाटनी आपस मे रूठ गए, चौमासे की मौसम, खेती खडी, निनाण की जरूरत, दोनो मौन, आपस मे वोलते नही। क्रोध आता है तव सवसे पहले खाना छूटता है। दिन चढा, गाव के लोग खेत जाने लगे। तव चौधरानी वोली—

लोग चाल्या लावणी
ए लोग क्यू नी जाय?
जाट—लोग चाल्या खाय-पीय
ए लोग कीनै खाय?
छीके पडी रावडी,
उतार क्यो नी लै

अबे आपां बोल्या-चाल्या
घाल क्यू नी दें ॥

पुराने जमाने का कलह इस तरह आसानी से मिट जाया करता था। पानी की लीक, वालू की लीक टिकती नही। इसी तरह सरल प्रकृति के मानव का कलह टिकता नही था। वे कर्मो मे भारी नहीं थे। आजकल का ढंग विपरीत है। इसे पत्थर में दरार की तरह समझना चाहिए। इस कलह से पति-पत्नी, भाई-भाई, पिता-पुत्र का प्रेम खत्म हो गया। घर खत्म हो गये। दुनिया सिनेमा देखने जाती है और हसती है। घर-घर के बोलते सिनेमा से बढ़कर है क्या कोई जड चल-चित्र? वहिनो मे भी सास-बहू, देवरानी-जेठानी मे आपसी कलह की अधिकता देखी जाती है। इसका कारण इन दोनो तत्त्वों, श्रद्धा और चरित्र की कमी है। जीवन को उच्च करना है तो इन दोनों को अपनाना होगा। सब झगडा मिट जाएगा। श्रद्धा और चरित्र दोनों मे बड़ा कौन? दोनो ही अपने-अपने स्थान पर बड़े। फिर भी तुलनात्मक दृष्टि से श्रद्धा का स्थान बड़ा है। प्रश्न है, श्रद्धा किसके प्रति हो? कम से कम इन तीन तत्त्वो के प्रति तो श्रद्धा होनी अत्यन्त जरूरी है—देव, गुरु और धर्म। देव कौन? देव, वीतराग, परमात्मा या केवली, इनमे श्रद्धा रखकर माला फेरने मे लाभ होता है। विना श्रद्धा माला फेरना हाथ घिसना है। कुछ फायदा नही। वहिनें—भैरुजी, रामदेवजी, हनुमानजी इन देवों को पूजती हैं। इनके लिये सवा मन की कडाही करके थोडा-सा प्रसाद चढाकर सारा घर वाले बैठकर खा जाते है। इनमे अन्ध विश्वास नही रखना चाहिये। अपने सच्चे देव वीतराग हैं उनका ध्यान करो। सिर्फ फूल चढाने मात्र से कुछ नही होगा। श्रद्धारूपी फूल चढ़ाओ। उन वीतराग देवो मे अपने आपको अर्पण कर दो। उन वीतराग देवो के बताए मार्ग पर चलने से ही मनुष्य शान्ति का अनुभव कर सकता है। वहुत से लोग आकर साधु से अक पूछते हैं। साधु अगर अंक बता दे और ठीक निकल जाए तो बाबाजी की प्रतिष्ठा हो जाती है; धूम मच जाती है और बाबाजी जगतपूज्य हो जाते हैं। ये सच्चे साधुओ के लक्षण नही। साधु अंक न बताकर पास आये हुए व्यक्ति की ज्ञानरूपी आख खोल दे। वही सच्चा साधु है। अक बताने वाले साधुओं की साधना निस्तेज हो जाती है।

साधु होवे सो साधे काया,
कोडी एक रखे नही माया,
लावे सोही देय चुकाय,
बासी रहे न कुत्ता खाय ॥
"चोर को चाहिए धन, कुत्ते को चाहिए अन्न,
साधुजी को चाहिए निश्चिन्त मन"

कुम्हारी आनन्द से सोती है। उसके विशेष परिग्रह नही होता। धनाढय व्यक्ति को अच्छी नीद नही आती। धन की अधिकता के कारण उसे चोर का भय निरन्तर सताता है।

धनी बनना मुसीबत को मोल लेना है। जरूरत जितना मिल जाए तो अधिक संचय करके करना क्या है? अधिक संचय करके करोगे क्या? दुनिया की परिस्थिति देखकर धनकुवेर बनने की चेष्टा मत करो। संतोष रखो।

संतोष रखने की बात सुन आप कहेंगे क्या सब साधु हो जाएं? सब साधु हों यह असंभव है; अगर हो जाएं तो सुख का कारण है। हमारी भावना तो यही है कि सब साधु हो जाएं। गहस्थों से कुम्हारी सुखी और साधु-साध्वी अत्यन्त सुखी।

गृहस्थ 'हाय-हाय' करके मर जाते है। खाते-पीते रात-दिन सब समय 'हाय'। चौवीस घण्टे मन अशान्त। यह क्या जीवन है? मनुष्य जन्मता है तब रोता है। जिन्दगी भर रोता है और रोते-रोते ही मरता है। क्या रोना ही मानव का लक्ष्य या धर्म है? मनुष्य के समान विवेकशील कोई प्राणी नहीं, इसके समान ऊंचा अब भी कोई नही, क्योकि वही मोक्ष प्राप्त कर सकता है। अन्य कोई भी मोक्ष प्राप्त करने मे समर्थ नही।

रे नर तू सब से बड़ा।
तू सब से स्वाधीन॥
करना है सो कर्म कर।
उत्तम बन या हीन॥

वीतराग प्रभु का ध्यान करो और अपने को उन्ही में अर्पित कर दो। यही सच्ची भक्ति है।

दूसरी बात है-गुरु के प्रति श्रद्धा।

गुरु कौन—'कानिया मानियां कुर्र, तू चेलो हूं गुर' ऐसे लोग गुरु नही हो सकते। यह तो लोग-ठगाई है। गुरु वही जो पांच महाव्रत का पालन करे। प्रथम महाव्रत है अहिंसा।

पूर्ण अहिंसक होता है वह जो सबके साथ मैत्री-भाव रखता है। अमीर-गरीब का वहां भेद नही होता। सबका दर्जा समान होता है।

माया सू माया मिले,
कर-कर लम्बे हाथ।
तुलसीदास गरीब की।
कोई न पूछे बात॥

साधुओ का एक जगह से दूसरी जगह विचरते रहने का एक ही कारण

है कि जन-जन का जीवन उनके जीवन की तरह ऊंचा उठे। साधु किसी एक के नही, सबके है। साधु वही जो अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, और अपरिग्रह का पालन करे। इनको जो पूर्णतः पाले, वही साधु है। वे कामिनी और कंचन के त्यागी है। कौडी एक रखते नहीं। यह धूल तो हाथ धोने में काम आती है पर पैसा कोई काम नहीं आता।

गुरु की पूरी परीक्षा करके उसकी शरण में जाना चाहिए। कुगुरु को गुरु बनाने से तो बिना गुरु रहना अच्छा है। छिद्रवाली नाव में बैठने की अपेक्षा न बैठना ही ठीक है।

गुरु धीर, गम्भीर होता है। सबकी सुनता है। किसी की निन्दा या प्रशंसा नही करता। जो साधु होता है वह समता-भाव रखता है। ये ही साधु के लक्षण है। सात हाथ की सोड (लिहाफ) मे चाहे जैसे सोओ। कोई डर नही। सच्चे साधुओं के पास भय है ही नही। देव, गुरु और धर्म के प्रति श्रद्धा रखने वाला निर्भय हो जाता है। धर्म-गुरु वही है, जो त्यागी है। चाहे हिन्दू-मुस्लिम, ईसाई कोई भी हो उसे त्यागी होना चाहिए। गांजा-भाग पीने वाला ढोंगी गुरु नही हो सकता। तीसरा तत्त्व है धर्म। धर्म के प्रति श्रद्धा रखो। श्रद्धा और चरित्र ये दो तत्त्व ही संसार मे तारने वाले हैं।

२८. तीन वृत्तियां

सव व्यक्ति सुखी वनना चाहते है। किसी तरह सुख मिले इसका हर हालत मे प्रयत्न किया जाता है। पर सुख विना सही रास्ते पर आए मिलता नही। व्यक्ति ज्यो-ज्यों सुख के भ्रम मे दौड़ता है, त्यों-त्यों उसे दुख मिलता है। वह हर तरह से सुख पाने की चेप्टा करता है पर उसे हर तरह का सुख मिल जाए यह उसके वश की वात नही है। रास्ता सही होगा तो सुख अवश्य मिलेगा, इसमे सन्देह नही। वह आज मिले, कल मिले या भविष्य के गर्भ मे चाहे जव मिले, पर मिलेगा अवश्य। उसका सही प्रयास असफल नही जा सकता। विना उसके सुख के स्थान पर कष्टो से स्वागत हो जाए तो कौन वडी वात है!

जितने दिमाग हैं उतनी ही वुद्धि है। जितने कुएं है उतने ही प्रकार का पानी है। जव वुद्धि अलग है तो सुख पाने के उपाय भी अलग-अलग दिमागों मे अलग-अलग मिलेगे। वे एक कैसे हो सकते हैं? आज राजनीतिक क्षेत्र के व्यक्ति कहते हैं—'सव खेती करो, अनाज पैदा करो, खूव अनाज होगा, खाये न खूटेगा तव चारो ओर अमन-चैन की वशी वजेगी। सव सुखी नजर आयेगे।' यह अपनी-अपनी धारणा है। खूव खेती करो, यह मनुप्य के वश की वात है। चप्पे-चप्पे भूमि पर खेती की जा सकती है। पर मौके से वर्पा हो जाए यह उसके हाथ की वात नही है। अनावृप्टि, वाढ़ उसके हाथ में नहीं है। मनुप्य, वन्दर, सियार, मोर जैसे पशुओ को मार सकता है, क्योंकि वे उसके अनाज का हिस्सा वंटा लेते है। पर फाके का क्या? उसको मार-मारकर ढेर लगा दिये जाए तो भी उसका अन्त नही। मानव करे तो क्या करे?

रोटी और कपड़े की समस्या क्षणिक समस्या है, स्थायी नही। कभी उलझती है तो कभी सुलझती है। योंही चलती रहती है। राजनीतिज्ञो का यह हल कामयाव होता हुआ नही लगता।

धार्मिक पुरुषों का कहना है—शान्ति और सुख का उपाय है 'सुधरो' और 'सुधारो'। निज का जीवन उठे और दूसरो का उठाया जाए। आज वहुत वडी सख्या में लोग इसके लिए प्रयत्नशील है। वडे-वडे नेता, साधु, सत, पादरी आदि धर्मगुरु इसके लिए प्रयत्न करते है पर जीवन उठता नही। कान पर जू तक नही रेंगती। वह टस से मस नहीं होता। इसका क्या कारण है? ऐसा क्यो होता है? क्या धार्मिको का यह प्रयास भी नाकामयाव रहेगा? नही, मुझे ऐसा नही लगता। फिर भी सुधार का क्रम शिथिल-सा प्रतीत होता है? इसका कुछ भी कारण हो सकता है। मुझे तो ऐसा लगता है—

सुधारक दुनिया को सुधारने चले है पर वे खुद सुधरे नही । जो खुद नही उठे वे दुनिया को क्या उठायेगे ? जो स्वयं पतित हैं वे दुनिया को पवित्र वना देगे, यह कैसे मुमकिन हो ? वे कण्ठ फाडते है पर उनकी आवाज में ओज नही मिलता । वे कहते है पर करते नही । मुह की आवाज हृदय की आवाज हो तव वह दूसरों के हृदय तक पहुंच सके । अन्यथा कण्ठो की आवाज मिनटों मे हवा हो जाए तो कौन वडी वात है । पहले वे खुद सुधरें और दूसरो के लिए एक आदर्श वनें ।

आज जन-जीवन बुराइयो से भरा पडा है । उन बुराइयों की गणना भी मुश्किल है । उनमे से तीन को यहा वताया जाएगा । (१) संग्रह-वृत्ति, (२) हिंसा-वृत्ति, (३) स्वार्थ-वृत्ति ।

संग्रह-वृत्ति

बुराइयो में सग्रह-वृत्ति का अपना एक खास स्थान है । अर्थ सग्रह की जो दौड चल रही है, वह किसी से अज्ञात नही है । यह मानव का एकमात्र लक्ष्य वन गया है, ऐसा लगता है । वैसे तो कपडा, जमीन, अन्न सभी का सग्रह किया जाता है । आवश्यकता थोडी, सग्रह अधिक । पूरे भविष्य का चिन्तन किया जाता है । यहां तक कि धन को तो धर्म मे भी स्थान दिया जाने लगा है । कह दिया जाता है विना धन धर्म नही हो सकता । याद रखिये, धन से कभी धर्म नही हो सकता । धर्म आत्मा की चीज है वह आत्मा मे होगा । धन अनर्थ का मूल है । इससे व्यक्ति का दिमाग विकृत हो जाता है । इसके लोभ मे व्यक्ति हिताहित को भूल जाता है ।

दो भाई परदेश कमाने गये । वे गरीव थे, पर दोनो मे मेल था । परदेश गए, धन कमाया । देश आने लगे । एक भाई के मन मे लोभ आया—इस धन के दो विभाग होगे । यह छोटा भाई भी उसका हकदार होगा । यह मौका अच्छा है । नीद मे सोये भाई को मारकर नदी मे वहा दू फिर तो मैं ही इस धन का मालिक होऊंगा । उसने हाथ वढाया, गले तक ले गया और ज्योंही चाहा कि कण्ठ दवा दू, उसे आत्म-ज्ञान हुआ । उसकी आत्मा ने प्रेरित किया—तू क्या करता है, धन के लोभ मे भाई की हत्या ! यह धन तेरे साथ नही चलेगा । वह चेत गया । उसने सोचा—ऐसा धन काम का नहीं, जो व्यक्ति की मति भ्रष्ट कर दे । उसने नौली (रुपया रखने की थैली) नदी मे वहा दी । पानी मे थैली गिरने से आवाज हुई तो भाई जागा । उसने पूछा "क्या वात है ?" "धन को नदी में वहा दिया" जवाव मिला । उसने कहा "ऐसा क्यों किया ? इतने दिन कमाया ।" भाई ने वतलाया—"इसे न वहाता तो तुझे ही वहा देता ।" वह वोला—"मेरे मन मे भी ऐसा विचार आया था । आप धन न वहाते तो मै भी आपको मारने की तजवीज

करता।" दोनो ने सोचा कि धन का नदी मे बहाना अच्छा ही हुआ। घर पर आये। लोग मिलने आये। वहन भी आई। वह भोजन बनाने वैठी। मछलियो को चीरने वैठी और ज्योही एक वडी मछली को चीरा, उसके पेट मे से एक नौली वाहर निकल पडी। उसकी आवाज पास मे सोई बुड्ढी मा ने सुनी। जिसके लिए उठ सकना भी वड़ा मुश्किल था, आवाज सुनते ही पूछ वेठी—"वेटी आवाज कैसी आई ?"

वेटी ने कहा—"चाकू गिर गया था वरतन मे।"

माता ने कहा—"नही यह तो रुपयों की आवाज थी।" और धीरे-धीरे माता उसके पास आने लगी। पुत्री ने सोचा—ये रुपया कैसे हजम हो ? उसने 'आव देखा न ताव' माता के सिर पर मूसल दे मारी। और वह रुपयों की नौली लेकर भाग चली। उधर माता के मुह से एक चीख निकली और उसकी जीवन-लीला समाप्त हो गई। वाहर वैठे पुत्रो ने जव यह आवाज सुनी तो वे भीतर आये। उन्होने देखा—माताजी मरी पडी है। वे वहन के पीछे भागे। उसे पकडा और पूछना चाहा। वह वोली—"मुझ पर झूठा इल्जाम लगाया गया है।" भाइयो ने पूछा, "कैसा इल्जाम ?" वे उसे घर लाये, तलाशी ली, उसके पास वह नौली मिली। उस पर दोनो भाइयो का नाम लिखा था और जिसे एक भाई ने नदी मे विसर्जित कर दिया था। उनके मुह से अनायास ही निकल पडा—यह परिग्रह ऐसा ही होता है। हमे नही ले माता को ले वैठा।

मेरे कहने से सव लोग विलकुल परिग्रह को छोड देगे यह सभव नही लगता पर उसे अधिक प्रश्रय तो न दें, सव कुछ तो न समझे।

इसी तरह हिंस्रवृत्ति और स्वार्थ-वृत्ति भी खतरनाक है। अशाति की जड़ ये तीनों वृत्तिया है। आज इनको लेकर क्या नही होता ? जायज-नाजायज सब कुछ किया जाता है। इस बात पर ध्यान केन्द्रित कर अध्यात्म को समझना आवश्यक है। कोरा भौतिकवाद व्यक्ति को पतन के गर्त मे धकेल देता है। सोच समझकर आत्म-तत्त्व को समझिए। सिर्फ भौतिकता के गहरे गढ्ढे मे मत पडिये।

वीकानेर
८ अप्रैल, ५२

२१. अभयदान

दान ऐसा देना चाहिए जिससे अहिंसा का पोषण हो। दया ऐसी करनी चाहिए जिसमे हिंसा का समावेश न हो। वह दान, दान नही, जिससे अहिंसा का पोषण न होता हो, वह दया, दया नही, जिससे हिंसा हो।

दान कई प्रकार के होते है। इनमें अभय दान का विशेष महत्त्व है। स्वयं निर्भय बनना और दूसरो को निर्भय बनाना यह अभय दान है। इसका दायरा विशाल है पर लोग इसे कितनी संकुचित दृष्टि से देखते हैं! वे लोग किसी जीव को कुछ समय के लिए भय से मुक्त कर देने को ही अभयदान समझ बैठे है। रुपये देकर कसाई से एक बार बकरा छुडाया जा सकता है पर इसे अभयदान कैसे कहा जाए? अभयदान तो वह होगा जिसमे कसाई का हृदय परिवर्तित कर, उसके मन मे खूनी पेशे के प्रति विरक्ति पैदा की जाय। बकरे तो स्वत. बच जायेंगे और फिर वह भी हमेशा के लिए उनकी हिंसा से बच जाएगा। मैं अभयदान का एक उदाहरण बताता हूं। यह उदाहरण, उदाहरण ही नही है, भगवद्वाणी में वर्णित है।

एक राजा था। उसका नाम संयति था। नाम सयति था। लक्षण और काम संयति जैसे नही थे। वह हत्यारा था—एक नम्बर का शिकारी था। जब तक दस-बीस प्राणियो का शिकार न कर लेता, उसे शान्ति ही नही मिलती। वह ऐसा नृशस था। जब वह जंगल मे जाता, भगदड़-सी मच जाती। जीव दौडते-भागते जान बचाने का प्रयास करते। राजा को बड़ी खुशी होती। वह अपने एक तीर से हरिण आदि वन्य पशुओं को मार देता।

एक दिन राजा शिकार खेलने गया। वह पशु-पक्षियो को मारने लगा। बडा खुश हुआ, उसे कौन-सी पीड़ा होती थी? उसने एक तीर मारा वह जाकर एक हरिण को लगा। हरिण मर गया लेकिन तीर के वेग से वह पास मे खड़े एक ध्यानस्थ ऋषि के पैरो पर जा गिरा। राजा उसके पास आया और जब ऋषि को वहा देखा, वह थर-थर कांपने लगा। सोचा—हो न हो यह हरिण ऋषि की था अब मुझे ऋषि के शाप से भस्मीभूत होना पड़ेगा। न जाने ऋषि मेरा क्या करेगे। कही मुझे जान से न हाथ धोना पड़े। वह राजा, जो सैकड़ो भोले-भाले पशुओं को नृशंसतापूर्वक मारते थोडा भी भय नही खाता; आज अपनी मृत्यु की कल्पना मात्र से सिहर उठा। वह नही जानता था कि घायल को कितनी पीड़ा होती है? घायल की पीड़ा तो घायल ही जान सकता है। मरना क्या इतनी मामूली बात है?

राजा को मरने का डर था। वह हाथ जोड़े ध्यानस्थ ऋषि के आगे

खड़ा था। थोड़ी देर वाद ऋषि ध्यान से विरत हुए। आगे का दृश्य देखा तो उन्हें समझते देर न लगी कि वात क्या है।

राजा ने कहा—"महाराज ! मैं वड़ा नीच हूं। पापी हूं। मैंने वडी गलती की। आपका हरिण मार दिया। कृपया मुझे जीवन की भीख दीजिए।"

ऋषि का कौन क्या होता है ? यह तो हरिण मरा और प्रलय भी हो जाए तो वे किसी पर क्यो नाराज होगे ? उन्होने कहा—"राजन् ! तू क्या करता है, तेरा कार्य रक्षा करना है। तू रक्षक है, भक्षक नही। फिर ऐसा काम क्यो करता है ? तेरी आत्मा आज तक कितनी कलुषित हुई होगी ? इसके वारे मे भी कुछ सोचा ?" राजा की आंखें खुल गईं। उसका मस्तक नत हो गया। उसने हाथ जोडे और हमेशा के लिए पशु-हिंसा का त्याग कर दिया। यह है अभयदान का अनुपम उदाहरण। राजा ने हिंसा से अपनी रक्षा की उससे कितने जीवों की जान अपने आप वच गई। सही अर्थ मे यही अभयदान है।

वीकानेर
६ अप्रैल, ५३

३०. धर्म की व्यापकता

बीकानेर हिन्दुस्तान की एक प्रमुख रियासत रहा हुआ क्षेत्र है। इसके रीतिरिवाज और भाषा का लहजा अपने ढंग का है। गंगाशहर, भीनासर, उदासर, देशनोक नोखा आदि इसके समीपवर्ती गाव-कस्बे हैं। उदासर पहुंचते ही यह अहसास हो जाता है कि अब बीकानेर चोखले में प्रवेश हो गया है। बीकानेर पहुंचने के बाद तो गंगाशहर और भीनासर का विभाग करना कठिन हो जाता है। ग्यारह बजे प्रवचन की समाप्ति होती है। इस कड़ी धूप मे लोग यहा से पैदल चलकर गंगाशहर, भीनासर जाते हैं। यह उनकी आन्तरिक भक्ति का प्रतीक है। हम लोग प्रात: शौच के लिए गंगाशहर की ओर जाते है। टिगो (टिब्बो) के पास वहा के सैकड़ों लोग दर्शन करने के लिए खड़े रहते हैं। बिना भक्ति ऐसी भावाजाही कौन कर सकता है! आप लोगो की श्रद्धा-भक्ति बढे और उसके साथ-साथ आचरण भी सुधरे, यह मेरी आकाक्षा है।

जीवन को अन्तर्मुखी बनाने का माध्यम है धर्म। धर्म जीवन के कण-कण मे उतरेगा तभी आज के इस भौतिकवादी युग से लोहा लिया जा सकता है। उसे चेलेज दिया जा सकता है। ऐसे समय मे जब कि लोग भौतिकता के प्रवाह मे तिनके की भाति बहे जा रहे है। फिर भी धर्म की जड हरी-भरी है। धर्म एक सुहावना शब्द है। स्वार्थी-धार्मिक ने इसे दायरे में बांधना चाहता है पर यह तो आकाश की भाति विशाल और व्यापक है। इसे बांधा भी कैसे जा सकता है। धर्म मे जाति-पांति, लिंग, रंग, निर्धन, धनिक का कोई अन्तर नही हो सकता। धर्म सब के लिए शान्ति और सुख देने वाला है। उसमे भेद-रेखा हो ही नही सकती। तो भी कुछ लोग यहां आकर धर्म-प्रवचन सुनने मे हिचकिचाते हैं। अन्दर जाने देंगे या नही, प्रवचन सुनने देंगे या नही, ऐसा सशय उनको आने से रोकता है। यह दुर्बलता है। इससे छूट-कारा पाना आवश्यक है। मैं तो यह चाहता हू धर्मलाभ सबको मिले। इससे कोई अछूता न रहे। इस पर भी किसी को सकोच रहे तो ऐसा प्रोग्राम रखा जाए जिसमे सिर्फ अलग-अलग जातियो के लोगों को उपदेश दिया जाए, धर्म का प्रचार किया जाय, लोग जो कि धर्म को भूल गये है उन्हे उसकी याद दिलायी जाए।

धर्म का प्रचार होगा पर वह उसी हालत मे संभव है जब कि धार्मिक व्यक्ति अपना व्यक्तिगत आचरण ऊंचा उठाये। वे दूसरो को एक ऐसा आदर्श दिखाएं, जिस पर हर व्यक्ति बखूबी चल सके। उनका कार्यक्रम ऐसा होना चाहिए, वे ऐसे धर्म-प्रिय बनें जिनका प्रभाव अपने घर, पड़ौस और गांव पर पड़े, धर्म का अधिक से अधिक प्रसार और प्रचार हो।

गंगाशहर,
१० अप्रैल, ५३

३१. विश्वमैत्री

धर्म की मूल भित्ति है विश्व-बंधुता, विश्वमैत्री। व्यक्ति अपने परिवार के प्रति, अपने इष्ट मित्रो के प्रति मैत्री-भाव रखता है, यह कोई खास बात नही है। पशु-पक्षी भी अपनी संतान के प्रति मैत्री-भाव रखते है। धर्म की भित्ति यहां तक ही सीमित नही रह जाती। उसका दायरा तो व्यापक और विश्व भर मे व्याप्त है। उसकी भित्ति है—प्राणी मात्र के प्रति मैत्री-भाव। प्रत्येक प्राणी को आत्म-तुल्य समझना। किसी को घृणा की दृष्टि से नहीं देखना यही धर्म का तत्त्व है। धर्म प्रचार के पन्थ चाहे अलग-अलग हो पर मैत्री का तत्त्व किसी को अमान्य नही है। जैन आगमों मे बताया गया है—

खामेमि सव्वजीवे सव्वे जीवा खमंतु मे।
मित्ती मे सव्वभुएसु वेरं मज्झ न केणइ ॥

मै सब जीवो से क्षमा-याचना करता हूं, सब जीव मुझे क्षमा करें। सब जीवो से मेरी मैत्री है, मेरा किसी से वैर नही है। यह है धर्म की भित्ति। विश्व-मैत्री और विश्वबंधुत्व की शुरूआत इन दो पक्तियो मे अन्तर्निहित है। सबसे क्षमा-याचना की जाए यह ठीक है पर वह इकतरफी नही होनी चाहिये। इकतरफी क्षमा-याचना गुलामी की निशानी है। खुद क्षमा मागे और दूसरो को क्षमा करे यह एक तत्त्व है जिसे प्रत्येक व्यक्ति अपनाये, जीवन मे उतारे।

आज इसकी कमी के कारण ही घर-घर में भाई-भाई, सास-बहू, पिता-पुत्र, ननद-भौजाई आदि मे वैमनस्य प्रकट मे दीखता है। मैत्री का मंत्र ऊपर से दिखाने मात्र के लिए नही, अन्तर मे सही अर्थ में उतरेगा, तभी संसार मे सुख और शान्ति का साम्राज्य स्थापित हो सकेगा।

गंगाशहर,
२१ अप्रैल, ५३

३२. वृत्तियों का परिष्कार

अप्पा चेव दमेयव्वो ।
अप्पा हु खलु दुद्दमो ॥
अप्पादन्तो सुही होई ।
अस्सि लोए परत्थ य ॥

आत्मा का दमन करो, आत्मा का दमन बहुत मुश्किल है, आत्मा का दमन करने वाला इहलोक और परलोक मे सुखी होता है ।

मनुष्य अनुशासक बनना चाहता है—दूसरों पर अनुशासन करना चाहता है । सास अपनी बहुओ को अपने इशारे से चलाना चाहती है । पिता अपने पुत्र को अपने काबू मे रखना चाहता है । अनुशासन अच्छा है । किन्तु उसको दूसरों पर सभी थोपना चाहते हैं अपने पर नही । अनुशासक बनने की भूख रखने वाले खुद अनुशासित बनें, ऐसा नहीं सोचते । शासक बनने के लिए सब अपने-अपने अधिकार बताते हैं । साफ-साफ कहें या चिकनी चुपड़ी बातों में कहें, आखिर लक्ष्य एक ही रहता है । पहला कहता है—इस पद के लिए हक तो मेरा है । दूसरा कहता है—हक तो चाहे किसी का हो सबमे बड़ा तो मैं ही हूं । तीसरा कहता है—सबमे योग्य तो मैं हूं, चौथा कहता है—पद चाहे किसी को मिले, आखिर हक तो जिसका है उसका है अर्थात् मेरा है । इस प्रकार सब अपने अधिकार की बातें करते हैं, किन्तु यह कोई नही कहता कि हक तेरा है या उसका है । सब कुर्सी पर बैठना चाहते हैं कोई नीचे नहीं बैठना चाहते ।

मनुष्य का चुनाव

एक राजा को पांच सौ मनुष्यों की आवश्यकता थी । मंत्री को हुक्म दिया गया । पांच सौ का एक जत्या राजा के पास आया । राजा ने उन्हें मंत्री को सौंपा । मंत्री बड़ा होशियार था । उसने उनकी परीक्षा करने की ठानी । बात ही बात में सबको एक बन्द मकान मे ले गया । मकान मे एक पलंग रख दिया । मंत्री ने कहा—तुम सबको रात भर इस मकान में रहना है । तुम्हारे में जो बड़ा है—नायक है उसके लिए यह पलंग है, बाकी तुम सब जमीन पर लेट जाना । रात भर विश्राम करो । सुबह तुम्हारी व्यवस्था कर दी जाएगी । सोने का समय आया । प्रश्न था पलंग पर सोने का, सबको ऊपर सोने की चाह थी अतः अपने-अपने अधिकारों की दुहाहियां दी जाने लगी । वे आपस में झगड़ते रहे । सारी रात बीत गई । किन्तु कोई निर्णय नही हो पाया । मंत्री

समय-समय पर सारी सूचना लेता रहा। सूर्योदय हुआ। मंत्री कमरे के भीतर आया। सबको पदलिप्सु देखकर उसको जो निर्णय करना था वह कर लिया और सबको मकान से बाहर निकालने का आदेश दे दिया। दूसरी बार एक जत्था फिर आया। मत्री ने उसी तरह उन लोगो की भी परीक्षा ली। रात को सोने के समय समस्या थी। पलंग पर कौन सोए ? सब कहने लगे—मैं इस बड़प्पन के योग्य नही हूं। एक-दूसरे से मनुहारे होने लगी। किन्तु किसी ने भी पलग पर सोना स्वीकार नही किया। सब बड़े समझदार थे। सोचा—नीद क्यो नष्ट की जाए। कोई पलग पर सोना नही चाहता। बडा बनना नही चाहता। अपन सब समान है। पलग को बीच मे रखकर इसके चारों ओर सबको सो जाना चाहिए। मत्री बाहर खड़ा-खडा सब कुछ देख रहा था। सबके पारस्परिक व्यवहार व बुद्धिमत्ता को देखकर वह बडा प्रभावित हुआ। सब अपने-अपने स्थान पर लेट गए। सूर्योदय होते ही मंत्री वहां पहुंचा और सबको राजा के पास ले गया। मत्री ने राजा को सारी घटना सुनाई। फलतः सभी वहा रख लिये गए।

अणुव्रती बनने की कसौटी

आत्म-सुधार के लिए हम उपदेश देते है। लोगो के शिथिल जीवन मे एक स्फूर्ति का संचार होता है। वे अपने जीवन की बुराइयो को छोडने के लिए तैयार होते है। कोई जुआ खेलने का, कोई मद्य-मांस सेवन करने का, कोई झूठ बोलने का तो कोई दूध में पानी मिलाने का प्रत्याख्यान करता है, और हम कराते है। उस समय हमे यह सोचने की आवश्यकता नही कि यह सम्यक्त्वी है या मिथ्यात्वी। क्योकि इस प्रकार के त्याग करने में सम्यक्त्वी और मिथ्यात्वी के बीच मे कोई भेद-रेखा नही हो सकती। सम्यक्त्व के साथ त्याग करना सोने से सुगन्ध है। किन्तु सम्यक्त्व की सीढ़ी तक विरले ही पहुंच पाते है। हम अनेक देहातो मे जाते है। वहा के लोग सम्यक्त्व को कुछ नही समझते। क्या उस स्थिति में उनको त्याग-प्रत्याख्यान नहीं करना चाहिए ? अणुव्रती बनने का उद्देश्य भी यही है, अणुव्रतो मे निर्दिष्ट अपनी जीवन-गत बुराइयो को छोडना। फिर चाहे वह मिथ्यात्वी हो या सम्यक्त्वी। यहां अणुव्रती का अभिप्राय पचम गुणस्थान वाले श्रावक से नही है किन्तु अहिंसा, सत्य आदि अणुव्रतो की अणु—आंशिक मर्यादा को ध्यान मे रखते हुए यह 'अणुव्रती' सज्ञा दी गई है। अणुव्रती बनने की कसौटी सम्यक्त्व या मिथ्यात्व नहीं, किन्तु जीवन-शोधन है। जीवन-शोधन की इच्छा रखने वाला व्यक्ति अणुव्रती बन सकता है। भगवान् महावीर के उपदेश सुनने वाले करोडों। थे, किन्तु सम्यक्त्वधारी श्रावक केवल १५६००० ही थे। सम्यक्त्व रत्न की प्राप्ति बहुत मुश्किल है। जैसा कि कहा गय। है—

दृढ़ समकित धर थोड़ला, समकित बिन शिव दूर
समकित समकित कर रह्या, पामे विरला शूर ॥

आज भी लाखो श्रावक कहलाते है किन्तु सम्यक्त्वी तो विरले ही हैं। धर्म के वातावरण में रहने से, त्याग प्रत्याख्यान करने से यह तो निश्चित ही है कि मनुष्य सुलभ-वोधि बनते है, सम्यक्त्व के नजदीक आते है। त्याग प्रत्याख्यान करने के लिये सव स्वतन्त्र है।

आज की दुनिया दोहरी चोट खा रही है। वह वैयक्तिक और सामूहिक बुराइयों से वहुत जकडी हुई है। इनसे मुक्त होना उसके लिये मुश्किल हो रहा है। इन बुराइयो के कारण उसका अध्यात्मिक पतन हुआ है। साथ-साथ मे सामाजिक जीवन भी कितना वोझिल वना है, यह भी किसी से छिपी हुई वात नही। गृहस्थी मे हिंसा परिग्रह आदि से सर्वथा वचना कठिन हो जाता है। किन्तु जीवन को भारी वनाने वाले हिंसा, परिग्रह आदि का पोषण तो किसी तरह की समझदारी नही है। समय वदल गया। फिर भी मानव शताब्दियो पूर्व की वातो का स्वप्न देख रहा है। इसे सव महसूस भी करते है किन्तु पहल कौन करे ? प्रतिश्रोत मे चलना कठिन होता है। हमारा उपदेश आध्यात्मिक पतन से वचने के लिये है। किन्तु जो सामाजिक पतन का कारण वनता है उसके लिये विशेष हो सकता है। दुनिया समझे और दोहरी चोट न खाए।

अणुव्रती-संघ

कई मनुष्य अणुव्रती-संघ को सामाजिक या राजनीतिक संघ कह देते है। अणुव्रती-संघ का समाज व राजनीति से सम्बन्ध, उनमें परिव्याप्त बुराइयों को निकालने तक ही है। इससे आगे नही। संघ का मतलव समूह से है। अनेक अणुव्रतियो का समूह है—अणुव्रती-संघ साधु भी जिसका नेतृत्व कर सकते है। इसमे हमारे कल्प मे कोई वाधा नही है। लोग पूछा करते हैं इस संघ का प्रधान कार्यालय कहां है ? कोई निर्णीत स्थान मे तो है नही कि इसका चलता फिरता प्रधान कार्यालय है। जहां अणुव्रती है या हमारे साधु-साध्वियो का जाना होता है वही इसकी शाखाएं-उपशाखाएं है और इसी तरह नई-नई स्थापित भी होती रहती है। इस प्रकार इसका प्रचार-प्रसार हो रहा है।

मत घबराओ

पतनोन्मुखी जीवन मूल्यों की स्थिति मे अणुव्रती बनने मे वहुत तरह की कठिनाइयां आती है। किन्तु उनसे घवराने से काम नही होगा, एक नये उत्साह के साथ आदर्श मंजिल की ओर वढना है। दुर्वलता जीवन के लिए अभिशाप है। दूसरो को डराना हिंसा है। उसी प्रकार डरना भी हिंसा है। डर डरनेवालों को डराता है। उसके सामने डट जाने वाले के लिये वह कुछ

भी नही है। धन-सम्पत्ति अशाश्वत है, क्षणभंगुर है इसके लिए पागल क्यो वनते है ? हमें अणुव्रतियो की संख्या मे वृद्धि नही करनी है। चाहे अणुव्रती थोड़े ही हों, होनेवाले सव आत्म-साक्षी से शब्द और अर्थ दोनो दृष्टियो से अणुव्रत नियमों का पूरा-पूरा पालन करें। अपने आत्मवल को जगाएं और कष्टों को चीरते हुए आगे वढ़ें।

गंगाशहर
१६ अप्रैल, ५३

३३. दुःख का हेतु ममत्व

मूर्च्छा का दूसरा नाम ममत्व है, मोह है। यह बुरा है। इसको हम अपनापन या प्रेम भी कह सकते हैं। इस प्रेम का मतलब मैत्री नही है। विश्व-वन्धुत्व दुनिया भर के जीवों के प्रति भाईचारे का व्यवहार है। वह कुछ सीमित व्यक्तियों के प्रति होता है या स्वार्थ की प्रेरणा से होता है, उसका नाम मूर्च्छा है। इसी तरह द्वेष भी ममत्व है। कहने का तात्पर्य है मूर्च्छा के दो प्रकार हैं—द्वेष-मूर्च्छा और राग-मूर्च्छा। व्यक्ति किसी से ईर्ष्या रखता है यह द्वेष मूर्च्छा है। और जव उसका कोई इष्ट मित्र इस संसार-सागर से चल वसता है, वह उसके लिए रोता है, झूरता है, छाती-माथा पीटता है यह राग-मूर्च्छा है। पर यह रोना लोगो की दृष्टि में ठीक माना जाता है। यदि ऐसा न किया जाए तो उलटे सुनना पड़ता है कि वह इसका क्या लगता था! यह चाहता है था कि वह मरे आदि-आदि। पर कोई व्यक्ति रोता है तो लोग कहते हैं—वड़ा दु:ख हुआ है विचारे को। ये दोनो मूर्च्छा है। द्वेष-मूर्च्छा लोगों की आंखों मे खटकने लगती है, अत: लोक-व्यवहार में बुरी मानी जाती है। पर राग-मूर्च्छा लोक-व्यवहार में खटकती नही, अत. इसे बुरी नही मानते। पर वास्तव मे दोनों ही ठीक नहीं है। द्वेष को जीतना राग की अपेक्षा सरल है। राग मीठा जहर है। इसे जीतना वड़ा कठिन है। इसीलिये तो 'वीतराग' शब्द का मूल्य है। उसे 'वीत-द्वेष' तो नहीं कहा जाता। आज इसी राग-द्वेष के प्रवाह मे दुनिया वहती जा रही है। दुनिया मे कोई भारी चीज है तो वह मूर्च्छा है। मूर्च्छा से वढ़कर कुछ भारी नही है। एक व्यक्ति एक तालाव में या समुद्र मे काफी देर तक ठहर सकता है उसे पानी का विल्कुल भार मालूम नहीं देता। जव कि उस पर सैकड़ो, हजारों मन पानी होता है। क्योंकि उस पानी के प्रति अपनापन नहीं। उसकी इच्छा यह रहती है कि मैं स्नान कर लूं और चला जाऊं। लेकिन यदि वही व्यक्ति एक घड़ा जिसमे पन्द्रह-वीस किलो पानी समाता होगा लेकर चले तो उसे वड़ा भार महसूस होगा क्योंकि उस पानी के प्रति उसका अपनापन है। वह पानी अपने घर ले जाना चाहता है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि भार पानी में नही, अपनापन मे है, ममत्व में है, मूर्च्छा में है।

मूर्च्छा व्यक्ति के लिए दु.खप्रद है। जितने भी दु.ख होते हैं उनके मूल कारणों में प्राय: एक कारण मूर्च्छा भी होती है। व्यक्ति को जव तक किसी से मूर्च्छा नही होती वह उसके दु.ख को देखकर व्याकुल नही होता। उसके

प्रति उतनी सहानुभूति नहीं होती जितनी अपने कहे जाने वाले व्यक्ति के प्रति होती है।

ममत्व से दुःख

एक सेठ जी को परदेश से तार मिला—जल्दी आओ। वे सेठानी को शीघ्र आने का आश्वासन देकर रवाना हो गए। सेठ जी परदेश जाकर व्यापार में लग गए। धन कमाया, खूब कमाया और वे उसके लोभ मे सेठानी से किये हुये वादे भूल गए। धन का प्रभाव ऐसा ही है। व्यक्ति एक अग्नि से दूसरी अग्नि जलाना चाहता है। वह चाहता है कि अवकी वार इस अग्नि में लकड़ी, घास या घासलेट डाल कर शांत कर दूगा पर वह शांत होने के स्थान पर और अधिक प्रज्वलित होती है। सेठ जी धन से धन की इच्छा शान्त करने का प्रयास करने लगे। पर इच्छा वढ़ती गई। आखिर वे लखपति की सीमा को लांघकर करोड़पति वन गए।

इधर सेठानी गर्भवती थी। उसे पुत्र हुआ। सेठजी को लिखा गया। उनका जवाव आया—"मैं नाम-संस्कार पर आ रहा हूं।" पर आना-जाना क्या था, वे धन के लोभ मे सब कुछ भूल गए। सेटानी के पत्र जाते तव सेठ जी को अपना वादा स्मरण आता। वे उस पर विचार करते हुए सोचते—क्या है जाकर मना लेंगे और इससे भी ज्यादा हुआ तो माफी मांग लेंगे।

उधर पुत्र वडा होते-होते सगाई के योग्य हो गया। माता झुर-झुर कर पिंजर हो गई। उसे न भूख लगती, न प्यास। मन उदास रहता। एक दिन उसकी आंखो से अश्रुधारा वह निकली। पुत्र ने देखा और कारण पूछा। उसने सारी वात कह सुनाई।

पुत्र ने कहा—"मां मैं जाता हूं पिता जी को लाने। माता ने कहा—"नही वेटा—मैं तुझे देखकर ही जी रही हूं।" पर पुत्र नहीं माना। वह साथ मे एक-दो नौकर, मुनीम आदि को लेकर उस पिता को लाने परदेश चला, जिसे उसने कभी आंखो से देखा तक नही था।

उधर सेठ जी ने विचारा वहुत पत्र आये पडे हैं, अव देश जाना है। वे रवाना हुए। साथ मे लश्कर था। ठाकुर, नौकर मुनीम, गुमाश्ते काफी थे। चलते-चलते वे एक शहर में ठहरे। भाग्य से कुवर साहव भी वही आ गये। सेठ और पुत्र—कोई किसी को जानते न थे। मुनीम भी नये रखे गये थे और उनके ठाट के आगे इनकी विसात भी क्या थी। वेचारे कही किसी कमरे मे ठहर गए।

रात हुई सेठ जी वड़े ठाट से सो गये। उधर कुंवर साहव भी अपने कमरे मे सोये। एकाएक उसके पेट मे दर्द हुआ और वह वढ़ता गया। कुवर रोने-चिल्लाने लगा। सेठ जी की नीद टूट गई। कड़कती आवाज में

आदेश दिया—" कौन आवाज कर रहा है ? चुप करो।" पैसे के चाकर दौड़े। उन्होने उसे चुप हो जाने के लिए कहा। पर चुप हो जाना वश की वात नही थी। वह जानवूझकर तो नही रो रहा था। एक वार वह चुप हुआ। थोड़ी देर वाद वही रोना-चिल्लाना फिर होने लगा। इस तरह सेठ जी की दो तीन वार नीद टूटी। वे क्रोध और धन के मद में अन्धे वन गए। आदेश दिया—कौन वेवकूफ है यहां ? इतनी देर हुई, मानता नहीं। निकाल दो वाहर यहां से। हुक्म मिलने की देर थी। वोरिया-विस्तर वाहर फेंक दिए गए। मुनीम की आंखो से आंसू वह निकले। कुंवर तो वच्चा ही था। वे सव क्या करते। सड़क पर पड़े रहे। कुवर के पेट का दर्द वढ़ता गया, अधिक वढता गया और अन्त में वह हमेशा के लिए मिट गया। दर्द नही मिटा, कुवर मिट गया। सेठ जी सुवह जल्दी उठे। नौकरो से पूछा—"रात में कौन रो रहा था ?" उन लोगों ने कहा—"एक वच्चे का पेट दर्द कर रहा था।" "अच्छा ! अव कहा है वह ?" "गली में।" देखो अव उसकी हालत कैसी है ? ठीक न हो तो अपने पास दवा है उसे दे दो।" नौकर पता लगाकर आया और वोला—साहव! वह तो मर गया।" "है ! मर गया !! वह कहां का था !" "अमुक नगरी का" "अच्छा ! वह मेरी नगरी का था, चलो देखू वह कौन था ?" सेठ जी उसके पास आये। उन्हें सन्देह होने लगा। कही मेरा लड़का तो नही है। नाम व पिता का नाम पूछा। सेठ जी का सन्देह सच्चा निकला। वे रोने लगे। छाती पीटने लगे। लड़के को छाती से चिपकाया। अव रोना क्या था ? मुनीमजी दंग रह गए। क्या वात है उसने नौकरो से पूछा—ये सेठ जी कौन हैं ? जव उसे यह पता चला ये मेरे ही सेठ हैं तो उन्होने रोते-रोते सारी कथा सुनाई। सेठ जी विचार रहे थे मैं किस मुंह को लेकर घर जाऊं। खैर ! इस किस्से को यही छोड़िये इसे आगे जितना भी चाहें वढ़ाया जा सकता है। कहने का तात्पर्य इतना ही है कि ममत्व दुःखप्रद है। ममत्व से राग-द्वेप वढ़ते हैं। सेठ जी को लड़के के प्रति पहले ममत्व नही था अतः दुःख भी नही हुआ। जव उन्होने उसे अपना जाना उन्हे महान् दु:ख हुआ।

गंगाशहर
१९ अप्रैल, ५३

३४. विद्यार्थी का चरित्र

तत्त्व शब्दों में नही आचरण मे रहता है। विकास की रट से विकास नही होता। उसके अनुकूल आचरण होना चाहिये। शास्त्रों मे विकास के लिए चार सूत्र कहे गये है—

लज्जा दया संजम वंभचेरं,
कल्लाणभागिस्स विसोहिठाण।

लज्जा एक विशिष्ट गुण है। इसका अर्थ भय या कायरता नही। यह अन्याय एवं दुराचार से वचने का सुन्दरतम उपाय है। सात्त्विक भय या अनुशासनात्मक भय सवके लिए आवश्यक है। विद्यार्थियों के लिए तो अत्यन्त आवश्यक है। क्रूर, संयमहीन और विलासी विद्यार्थी अपना लक्ष्य नहीं साध सकता।

विद्यार्थी-जीवन टेढ़ी खीर है। वहां साधना का जीवन व्यतीत करना होता है। विद्यार्थियो के लिए कई नियम आवश्यक हैं। उनका पालन किये विना विद्या का अर्जन नही हो सकता। वे हैं—खाद्य-संयम, ब्रह्मचर्य, इन्द्रिय-निग्रह और अनुशासन। जीभ पर नियंत्रण किये विना दमन का पाठ अधूरा रहता है। ब्रह्मचर्य और इन्द्रिय-निग्रह से खाद्य-संयम पृथक् नही है। फिर भी उसे उनसे पहले और पृथक् वताना आवश्यक है। क्योंकि वह उनका मूल मंत्र है। अनुशासन की कमी से आज क्या घटित रहा है, यह किसी से अज्ञात नहीं है। विद्यार्थी को सात्त्विक वृत्ति रखनी चाहिए। आत्मानुशासन उसका जीवन-स्तम्भ होना चाहिए। विद्यार्थी का चरित्र उन्नत होना चाहिए। विनय उसके चरित्र का प्रधान तत्त्व है। मितभाषण और सत्यभाषण उसके गुण है। सत्य भी प्रिय हो, इस वात का ध्यान रखना आवश्यक है। क्रोध पर विजय तथा अनुकूल और प्रतिकूल परिस्थिति को समभाव से सहना। इन छोटी-छोटी वातो को आत्मसात् कर विद्या को अधिक सार्थक वनाया जा सकता है।

३५. मानवता

शास्त्रो मे मानव जीवन को दुर्लभ बताया गया है। एक ओर दुर्लभता की बात, दूसरी ओर बढ़ती हुई जनसंख्या को नियन्त्रित करने की बात। विसंगति-सी प्रतीत होती है। पर इसमे भी सचाई है। मनुष्य जन्म पाना कोई बडी बात नहीं है। बड़ी बात है मनुष्यता का विकास। देखना यह है कि आज मनुष्य मे मनुष्यता कितनी है।

मानवता अच्छे रूप और रङ्ग में नही होती। मानवता चटकीली, भडकीली पोशाक और सौन्दर्य से परिपूर्ण शरीर में नही रहती। मानवता बडी-बडी अट्टालिकाओ और आलीशान भवनों मे नही रहती। मानवता सुन्दर निबन्ध और लच्छेदार भाषा मे दिये जानेवाले भाषणो में नही रहती। मानवता बडे-बड़े कल-कारखानो और उद्योग धन्धो मे नही रहती। मानवता बाहर के आडम्बरो मे नही रहती। वह तो अन्तर की वस्तु है। उसका स्थान आत्मा है।

मानवता आत्मा मे होनी चाहिए। यहां प्रश्न उठता है—आखिर मानवता है क्या? मानवता कहते किसे है? मानवता संयम और सदाचार है। मानवता त्याग और प्रत्याख्यान है। मानवता सत्य और अहिंसा है। मानवता ब्रह्मचर्य और अचौर्य है। मानवता अपरिग्रह है। मानवता सन्तोष और क्षमा है। मानवता सबको आत्मतुल्य समझने में है। वह क्रोध और मान मे नही हो सकती, ईर्ष्या और मत्सर मे नही होती, राग और द्वेष मे नही होती। वह सद्‌गुणों को संजोए मानव के अन्तःस्थल में रहती है।

आज का जन-जीवन कैसा है? कहने की आवश्यकता नही है। उसमें अनेक बुराइयां घर करती जा रही है। जीवन स्तर गिरता जा रहा है। आज मानव मानवता की जगह दानवता अपनाने लगा है। वह अपने मौलिक तत्त्वों को भूल, धन की धुन मे भटक रहा है। उसके दिल में आग धधकती है—हाय धन! हाय धन!! उसके पास धन आये। जैसे-तैसे आये। चाहे उसके लिये शोषण करना पड़े, किसी के मुंह का ग्रास छीनना पड़े। जो कुछ हो, धन आये। जिससे उसे अधिक से अधिक सुख-सुविधाएं मिले। समझ मे नही आता कि आखिर धन का करना क्या है? उसके नीचे दबकर मरना शायद ही कोई पसन्द करता होगा। मनुष्य को खाने के लिए रोटी, पीने के लिए पानी और पहनने के लिए कपड़ा चाहिए। फिर धन की यह भूख क्यो? पहले भी धनवान होते थे और आज भी होते है। वे अनाज की जगह हीरे-पन्ने तो

नही खाते है। यदि अन्न ही खाना है तो फिर संग्रह की इतनी भूख क्यों ? पूजी और पूंजीपति आज भी है और पहले भी थे। पर संभवत. 'पूजीवाद' पहले नही था। पूजीपति आज निर्धनो की आंखो मे कांटे से खटकते हैं। मुझे इसका एक ही कारण दीखता है—पहले लोगो मे पूजी के प्रति ममत्व नही होता था। वे पूजी को पूजी समझते थे, आज उसे 'सब कुछ' समझा जाने लगा है। पूंजीपति सोचते है उनकी पूजी बनी रहे। निर्धन सोचते है कि ये उन पर अन्याय करते है, शोषण करते है। इस स्थिति के बावजूद निर्धन व्यक्ति भी धनवान बनना चाहता है। उसकी भी यह इच्छा रहती है कि उसे ज्यादा से ज्यादा धन मिले। यदि आज वह धनवान होता तो किस धनवान से कम रहता। क्या वह किसी का शोषण नही करता ? वह भी ऐसा ही करता और चाहता कि जैसा हू वैसा बना रहू। आखिर निष्कर्ष यह निकलता है कि सबको पूजी की भूख है और पूजी की भूख से दानव बने मानव मे मानवता लाने का तरीका यह नही है कि उसकी पूजी छीन ली जाए या निर्धन पूजीपति बने। उसका तरीका है मानव का हृदय-परिवर्तन किया जाए। उसे संयम और संतोष का पाठ पढाया जाए। यह पूजी से आनेवाली विषमताओ को शात करेगी और उससे पनपनेवाली दानवता से बचाकर मानव मे मानवता लाएगी।

मानवता के लिए चरित्र का उत्थान आवश्यक है। मानवता की कमी का एक कारण चारित्रिक-पतन भी है। आज के मानव मे चरित्र की कमी है। उसका ध्यान आचार से हटता जा रहा है। आज वह शराब का स्वाद चखता है तथा उसमे सुख और शांति की अनुभूति करना चाहता है। आज वह चोरी, दुष्ट वृत्ति और व्यभिचार मे फसता जा रहा है और—

दुनिया की जूठन वह खाता,
वेश्या से प्रेम किये जाता।
पर नारी जिसको प्यारी है,
व्यभिचारी वंश लजाना है ॥
ऐ मानव ! मानव जीवन मे
कुछ किए बिना क्या जाना है ?

वह व्यक्ति, जो जूठन के लगने मात्र से अपने को अपवित्र मानता है यदि वेश्या से प्रेम करता है तो दुनिया भर की जूठन खाता है। वह उस गंदी नाली मे गिरता है जिसमे सारे शहर का मैला आकर गिरता है।

व्यक्ति अपने जीवन की बुराइयों को खत्म कर दे तो मानवता उससे दूर नही रहेगी। मानव और मानवता एक दूसरे के सन्निकट हों, इसी में मानव-जीवन की सार्थकता है। मानवता का विकास करने वाला मानव ही

सही अर्थ मे सुख और शान्ति का वरण कर सकता है। यह सुख पदार्थ के भोग से नही मिलता, अन्तर्मुखता से मिलता है। पदार्थ निरपेक्ष सुख का अनुभव ही मानव जीवन की सार्थकता है।

गंगाशहर
२५ अप्रेल, ५३

३६. शत्रु-विजय

मनुष्य शत्रुओं के वीच में खड़ा है। उसके सभी शत्रु आक्रामक मुद्रा में उसे परास्त करने के लिए खड़े हैं। शत्रु उसे परास्त करे, उससे पहले ही वह अपने शत्रुओं को प्रतिहत कर दे तो वह निर्वाध रूप से आगे वढ सकता है। प्रश्न होगा कि मैं किसी शत्रु को प्रतिहत करने की वात कैसे कह सकता हूं। मेरे अभिमत से शत्रु वाहर नही, अन्दर ही है। वह एक नही, दो नही, दस हैं। उनमें से एक को जीत लिया तो वस पांच को जीतने में देर न लगेगी और पांच को जीता तो दसो का खात्मा होगा ही। समस्या है कि पहले किस पर हमला किया जाए—किसे जीता जाए ? व्यक्ति भोजन करने वैठता है। गरम-गरम भोजन थाल मे परोसा जाता है। उस गर्म भोजन को खाने के लिए वह वीच मे हाथ नही डालेगा, जहा खिचडी आदि और ज्यादा गर्म रहती है। वह एक किनारे से पहले-पहल एक अंगुली से उसे चाटता है, फिर दो, तीन और इस तरह क्रमशः पूरा ग्रास लेता हुआ थाली सफाचट कर देता है। इसी तरह हमे पहले थोडे मे शुरू करना चाहिए। सिर्फ एक को जीतना चाहिए और वह एक है मन। मन को जीता फिर पांचो इंद्रियों को जीतने में देर नही लगेगी। पाचों इन्द्रियों को जीतने के वाद चार कषाय-क्रोध, मान, माया और लोभ को जीतते देर नही लगेगी और इनको जीतने पर यही समझिए कि शत्रुओ का नाश आ गया उसके वाद असली आजादी की प्राप्ति मे विलम्व नही होगा।

अणेगाणं सहस्साणं, मज्झे चिट्ठसि गोयमा !
ते य ते अहिगच्छन्ति, कहं ते निज्जिया तुमे ?

गौतम ! तू अनेक सहस्र शत्रुओ के वीच मे है। प्रहार करने के लिए तेरे सन्मुख आते हैं। तूने उन्हें कैसे जीता है ?

एगे जिए जिया पंच, पंच जिए जिया दस।
दसहा उ जिणित्ताण, सव्वसत्तू जिणामह ॥

केशि ! एक को जीतने से पांच को जीता जाता है। पाच को जीतने से दस को जीता जाता है और दस को जीत कर मैं सव शत्रुओ को जीतता हूं।

वीकानेर
२५ अप्रैल, ५३

३७. धर्म की शरण

विश्व मे झूठ और हिंसा का वोलवाला है। वड़ों की तो वात ही क्या, वच्चो की जवान पर भी झूठ और व्यवहार मे कपट है। मानो वह ग्रीष्म ऋतु की लू है। जो सव जगह व्याप्त मिलेगी। यही कारण है कि आज का जन-जीवन दुर्वह होता जा रहा है। पृथ्वी वही है, सूर्य वही है, उदय और अस्त वही है, सव वाते वैसी ही है जैसी पहले थी। पर आज का रंग-ढग वैसा नही है जैसा पहले था। अहिसक और सत्यवादी देखने मे नहीं आते, फिर पतन हो तो कौन वड़ी वात है! वह तो स्वयं का आमंत्रित होता है। किसान, जो पहले धनवान तो नही होते थे पर सुखी होते थे आज न तो धनवान है और न सुखी ही। इसी तरह सभी को सुख नाम के लिए भी नही मिलता। धनवान तो और भी ज्यादा दुःखी है।

आज की सवसे वड़ी समस्या है चरित्रवल की। जव तक मनुष्य का चरित्र उन्नत नही होगा, जीवन सात्विक नही होगा, वह सुख-समृद्धि का वरण नही कर सकेगा। जीवन को उन्नत बनाने वाला तत्त्व है धर्म। मनुष्य उसकी शरण स्वीकार करके ही सुखी हो सकता है। यहां एक प्रश्न उठेगा— धर्म कौन-सा अपनाया जाए? तलवार उठाना क्षत्रिय का धर्म है। तिलक छापा करना व्राह्मण का धर्म है। व्यापार करना वणिक् का धर्म है। पूजा आरती करना पंडो का धर्म है। शूद्र को धर्म के लिए अनधिकारी माना गया है। इस प्रकार की भेद-रेखाए धर्म में नही हो सकती। वे समाज और समाज-व्यवस्था मे हो सकती हैं। धर्म एक है और वह सवके लिए है। उसके दरवार मे ऊंच-नीच का भेद-भाव नही हो सकता। उसमे जाति-पांति की लकीर नही होती। उसका दरवार प्रत्येक व्यक्ति के लिये खुला है, और खुला रहेगा। धर्म के लिये धन की जरूरत नहीं होती। वह तो आत्मा की चीज है, आत्मा से होता है। यदि धर्म में धन की आवश्यकता हो तो उसे फिर धनवान ही कर सकेंगे, गरीवों के लिए उसमें कोई स्थान नही रहेगा। अपने इस धर्म में धन की कोई आवश्यकता नही। ज्यादा से ज्यादा अहिंसा, अचौर्य, व्रह्मचर्य और अपरिग्रह को अपनाएं और अपने जीवन मे उतारे, वस शाति और सुख व्यक्ति के साथ-साथ रहेगे।

नाल
३० अप्रैल, ५३

३८. मनुष्य लड़ना जानता है

प्रथम महायुद्ध के बाद व्यापार मे इतनी मंदी आई कि लोगो ने जितना कमाया लगभग उतना ही खो दिया। द्वितीय महायुद्ध के बाद इतनी तेजी आई कि कौड़ी के मूल्य का सामान सैकड़ो रुपये का हो गया। लोग उस पुरानी मंदी को भूल गये। वे सोचने लगे होगे अब मदी आयेगी क्या ? पर बनावटी भाव कब तक टिक सकते है ? फौरन एक ऐसी मंदी आई जिसकी कल्पना तक नही की गई थी। नतीजा लोगो के सामने है। यह मन्दी एक समस्या बन गई। समस्याए मनुष्य के सामने ही आती हैं। वे पशुओ के सामने नहीं आया करती। पशुओ के सामने जब समस्या आती है तो वे मर जाते है। वे समस्या से लड़ना नही जानते। जब वर्षा नही होती है, घास नही होती है, खाने को नही मिलता है, पशु मरने लगते है। वे समस्या को हल करना नहीं जानते। मनुष्य मरना नही चाहता, वह समस्या से लड़ता है। आज उसके सामने अनेक प्रकार की समस्याए है। आर्थिक, सामाजिक आदि समस्याएं गौण हुआ करती है, मुख्य नही। इस समय मुख्य समस्या, जो लोगो के सामने है, वह नैतिकता की है। आज मानव का नैतिक स्तर गिरता जा रहा है। मानवता नाम की वस्तु आंखो से ओझल होती जा रही है। ऐसे समय में अणुव्रत-योजना ही एक ऐसी योजना है जो खोयी हुयी मानवता से मानव को मिलाती है और उसे नैतिकता का पाठ पढ़ाती है। उसे गिरने से बचाकर उठाती है। अणुव्रतो को अपनाने से व्यवसाय की दौड मे कुछ कठिनाई आ सकती है पर उसका परिणाम शुभ होगा। उसके सामने आर्थिक लाभ की बात भी तो नैतिक लाभ के सामने गौण है, तुच्छ है। आप प्रसन्नता से अणुव्रतो को अपनाए और दूसरो के लिये अनुकरणीय बने।

नाल
२ मई, ५३

३९. धर्म की आत्मा अहिंसा

अहिंसा सब प्राणियों के लिए क्षेमकरी है। उसे जीवन में उतारें। उसको आचरण मे लाएं। अहिंसा को आदेय और उपादेय माननेवाले लोगों के सामने ऐसा उपदेश देते समय कुछ विचार आता है। जो लोग जन्मकाल से ही अहिंसा को मानते है, जिनकी पीढ़ियां अहिंसा को मानती आई हैं, अहिंसा का नाम सुनने मात्र से जिनकी छाती फूल जाती है, जो अहिंसा को अपना ध्रुव सिद्धान्त मानते है, जिनके साधु-सन्त और दूसरे शब्दो में धर्म-गुरु अहिंसा के रंग मे रगे हुए हैं, मजीठ-सा रंग जिनके रग-रग मे चढा हुआ है, उनके अनुयायियो के सामने अहिंसा का उपदेश देते चिन्तन होना चाहिये। देखना यह है कि जिस अहिंसा का साधु-सन्त पालन करते हैं, वह गृहस्थो के जीवन में क्या स्थान रखती है? उन्होने उसको अपने जीवन मे कहां तक उतारा है? उनको अहिंसा का गर्व मात्र है या सच्चा गौरव है? धर्म का प्रचार साधु-सतो की अपेक्षा उनके अनुयायी कुछ अधिक कर सकते हैं। रुपये पैसे के द्वारा प्रचार करना गौण बात है। मेरे कहने का यह तात्पर्य है कि अनुयायियो का जीवन, धर्म से ओत-प्रोत होना चाहिए। उनमे धर्माभिरुचि होनी चाहिए। उन्हे धर्म के प्रति जागरूक रहना चाहिए। उनके जीवन पर धर्म की गहरी छाप होनी चाहिए। उनके आचार-विचार और व्यवहार को देखने मात्र से लोगो पर धार्मिक प्रभाव पड़े। हर व्यक्ति अपने जीवन को उठाए और अन्य लोगों के लिये भी एक प्रशस्त मार्ग तैयार करे।

अहिंसा धर्म का गौरव है। धर्म मे से एक अहिंसा को निकाल दिया जाय तो फिर और कुछ नही बचेगा। सिर्फ अस्थि-कंकाल रह जाएगा। जैसे आदमी का शरीर होता है— मृत शरीर और आत्मा चली जाती है। इसी तरह धर्म की आत्मा अहिंसा है। अहिंसा नही तो धर्म नही। धर्म है तो उसमे अहिंसा रहेगी।

धर्म पर सबका अधिकार है। धर्म का आचरण कोई भी कर सकता है। इसी तरह अहिंसा की साधना भी सब कर सकते है। वह किसी वर्ग या व्यक्ति विशेष के लिये नही, सबके लिये है इसका सिद्धान्त है 'वसुधैव कुटुम्बकम्'—विश्व भर को आत्मतुल्य समझना। आप लोगो ने यदि इस सिद्धांत को अपना लिया तो न वैमनस्य रहेगा, न आपसी कलह। चारों और सुख शांति होगी।

बीकानेर
३ मई' ५३

४०. अहिंसा

धार्मिक क्षेत्र में अहिंसा का सबसे पहला स्थान है। अन्य व्रत तो अहिंसा को पुष्ट करने के लिये हैं। अहिंसा शाश्वत सत्य है। इसका स्वरूप व्यापक है।

किसी के प्राण न लेना मात्र ही अहिंसा नही है। अहिंसा है 'स्वयं का हिंसा से वचना'—पग-पग पर जागरूक रहना। दुःख से अपने आपको वचाने के लिये तो सभी सचेष्ट रहते हैं; पर हिंसा से अपने आपको वचाने वाले विरले ही मिलेगे। सब्जी छीलनेवाला व्यक्ति ध्यान रखता है कि उसका हाथ न कट जाए। पर यह ध्यान कौन रखता है कि चलते-फिरते उठते-वैठते मुझसे किसी प्रकार की हिंसा नही हो जाए, मैं हिंसा का भागी न वन जाऊं।

संसार के सभी प्राणी जीना चाहते हैं, कोई मरना नही चाहता। चीटी तक मरने का अन्देशा पाते ही भाग खड़ी होती है। उसे जीवन प्रिय है। उसे क्या सभी को जीवन प्रिय है। चाहे कोई व्यक्ति कितना ही दुःख मे क्यों न हो, वह मरना नही चाहेगा। शब्दो से मरने की इच्छा व्यक्त की जा सकती है; पर वास्तव मे मरा नही जाता।

एक बुढ़िया वड़ी दुखियारी थी। उसके कोई सन्तान नही थी। काम-काज, सेवा सुश्रुपा करनेवाला भी कोई नही था। कानों से पूरा सुना नही जाता था आंखो से देखा नही जाता था। सारा शरीर शिथिल हो चुका था। उठने तक की शक्ति नही रही चलना तो दूर की वात। वह वहुत वार कहा करती थी—"विधाता मुझे मौत नही देता, वह भूल गया है।" एक दिन बुढ़िया खाट पर पड़ी थी। एक काला नाग झोपड़ी में निकल आया। बुढ़िया को नाग दिखाई दिया कि वह उठी और हल्ला मचाती हुई भागी—"मुझे नाग काट खाएगा, वचाओ, मैं मरी'। अड़ोसी-पड़ोसी इकट्ठे हुए। वात का पता लगने पर वे बोले—"वुढ़िया ! तेरी प्रार्थना पर विधाता ने तेरे लिए मौत भेजी थी।" वुढिया वोली—"मौत ऐसी है तो मैं मरना नही चाहती।"

कहने का तात्पर्य यह है कि कोई भी मरना नही चाहता। ऐसी स्थिति मे मनुष्य किसी को क्यो मारे, वह अपने आपको हिंसा से वचाये। कोई दास वनना नही चाहता। फिर जवरन किसी को दास क्यों वनाया जाए ? वलात्कार करना हिंसा है। आज कुछ व्यक्ति चाहते हैं कि जैनो मे एकता आये। मैं भी चाहता हू कि अनेकता न रहे। इसके लिये मुझे एक उपाय दिखता है—'कोई सम्प्रदाय किसी भी संप्रदाय पर आक्षेपात्मक आरोप न लगाए।' अपनी मान्यता का प्रतिपादन करना, उससे लोगों को परिचित

करना एक वात है, तथा किसी का खंडन करना और वात । कम से कम ऐसा कोई कार्य न किया जाए जिससे किसी के मन में क्षोभ पैदा हो। यदि ऐसा वातावरण वना तो सद्भावना वढ़ेगी और हिंसा के लिये स्थान मिलना मुश्किल होगा ।

किसी भी प्राणी को मारना हिंसा है, सताना हिंसा है और उसके प्रति असत् चिन्तन करना भी हिंसा है। हिंसा से वचने के लिए सावधानी की अपेक्षा है। इस सावधानी के लिए उपयोग शब्द का प्रयोग होता है। उपयोग रखने से कितने ही पापों से वचा जा सकता है। उपयोग परम धर्म है। एक साधु उपयोग पूर्वक देख-देख कर चलता है। वह हिंसा के प्रति सचेष्ट रहता है। ऐसी हालत में यदि संयोगवश कोई जीव पांव के नीचे आकर दव भी गया तो वह उसके लिये हिंसक नही होगा। लेकिन एक साधु असतर्कता पूर्वक चलता है, उससे कोई जीव न भी मरे तो भी वह हिंसक है, क्योंकि वह अहिंसा के प्रति लापरवाह है। उसने इसका ख्याल नही रखा कि मुझ से किसी प्राणी का नाश न हो जाए। व्यक्ति इस मानव-जीवन का उपयोग करे, त्रस तथा स्थावर सभी प्रकार के जीवों के प्रति समभाव रखे, यह धर्म की साधना है। एक गृहस्थ को अपने आवश्यक कार्यों के लिये हिंसा करनी पडती है। पर वह उसे हिंसा समझे। उसके लिये अनुताप करे और निरर्थक हिंसा से तो अवश्य ही वचे ।

मारना हिंसा है इसी तरह किसी को मरवाना या इस तरह का अनुमोदन करना भी हिंसा है, पाप है। चोरी करनेवाला चोर है; करवाने वाला भी चोर है। चोर, चोरी करने आये और घर में घुसने के लिए किसी से मदद मागे, इस तरह की मदद देनेवाला भी चोर है। धार्मिक व्यक्ति न किसी को मारे, न तकलीफ पहुंचाए और न किसी को मरवाए या तकलीफ पहुंचाए। पूर्ण रूपेण सचेष्ट रहे। उपयोग रखे, आवश्यकता वश जो हिंसा करनी पडे तो उसके लिए अनुताप करें।

वीकानेर
४ मई, ५३

४१. सद्गुरु की पहचान

जम्मं दुक्ख जरा दुक्खं, रोगाय मरणाणि य ।
अहो दुक्खो हु ससारो, जत्थ कीसंति जंतवो ।।

संसार दु:खो का घर है । वह अशांति का भण्डार है । इसमे सबसे भीषण दु:ख है जन्म का । फिर जरा, रोग, शोक, सन्ताप और मृत्यु के दु:ख है। इन दु:खो के रहते उसे सुख है क्या ? आज मानव इन सब दु.खों से क्लान्त है, त्रस्त है । ऐसी हालत मे उसे शांति कैसे मिले ? वह अत्राण है, किसकी शरण में जाये ?

पहले प्रत्येक मोहल्ले और गांव मे एक मुखिया हुआ करता था जो अपने घर की ही नही गांव भर की देखभाल करता था । उनके झगडो को सुलझा देता था । लोग भी उससे एक तरह से त्राण पाते थे । उसकी बात को आदर पूर्वक मानते थे । आज गांव की देख-रेख तो दूर, घर के लोग तक कहना नही मानते । ऐसी स्थिति मे कोई क्या करे ?

सद्गुरु की पहचान

भाइयो ! सद्गुरु की शरण स्वीकार करे, उनके निर्देशित मार्ग पर चले । क्रम से व्यक्ति को त्राण मिल सकता है । इस मार्ग पर चलने से ही सुख-शाति मिलेगी । पर सद्गुरु है कौन ? उसकी पहचान क्या है ? जैनी साधु सद्गुरु है या सनातनी, आदि-आदि प्रश्न सहसा उठ सकते है ।

सद्गुरु किसी जाति विशेष या वर्ग विशेष से सम्बन्धित नही होते । जाति, वर्ग आदि भेदरेखाओ मे गुरु का विभाजन नही हो सकता । गुरु पथदर्शक होता है, धर्म का रास्ता दिखाने वाला होता है । धर्म एक है और सबका है । वह धर्म है सत्य और अहिंसा । किसका धर्म नही है यह ? झूठ बोलने वाला भी सत्य की प्रशसा करेगा । वह अपने आपको झूठा मानने के लिए कभी तैयार नही होगा । इस तरह सत्य और अहिंसा सबका धर्म है । जो लोग यथाशक्ति इसका पालन करते है वे अणुव्रती कहलाते है । कुछ इनका पूर्णरूपेण पालन करते है । जो सत्य, अहिंसा, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह आदि व्रतो का पूर्णरूपेण पालन करते है वे ही सच्चे साधु है । वे राग-द्वेष से परे रहते हैं । वे साधु है, सद्गुरु है, सच्ची राह बताने वाले है । उनकी शरण मे जाने से मानव त्राण पाता है । पतनोन्मुख मानव उठता है । दु.खी मानव को शाति मिलती है । जिनके दर्शन मात्र मंगल है । जिनके संसर्ग से पापी पवित्र और पतित पावन बन जाते है, विपथगामी स्वपथगामी या सत्पथगामी बन जाते है, ऐसे सद्गुरु की शरण स्वीकार करे । उन्हे पहिचानें, फिर वे किसी भी सम्प्रदाय या धर्म मे हो, उनका शिष्यत्व स्वीकार करने मे कोई आपत्ति नही है ।

बीकानेर
५ मई, ५३

४२. सद्गुरु की शरण

सद्गुरु की शरण मे जाकर किस तरह दिग्भ्रमित मानव सही रास्ते पर आ जाता है इसका एक अनुपम उदाहरण है। राजा सौदास अयोध्या में राज्य करता था। राजा होने मात्र से कोई वडा नही हो जाता, वड़ा होना चरित्र की उज्ज्वलता से ही संभव है। व्यक्ति के जीवन मे कोई पूज्य तत्त्व है तो वह है उसका त्याग और चरित्र। बिना चरित्र के उसका कोई मूल्य नही। आज भारत स्वतन्त्र है फिर भी यहां स्वार्थतन्त्र का वोलवाला है। स्वार्थ के लिए धन को प्रश्रय दिया जाता है, धन को प्राथमिकता मिलती है। जब तक त्याग और चरित्र को प्राथमिकता नहीं दी जाएगी, व्यक्ति सही अर्थ मे स्वतन्त्र नही होगा। लोगों की दृष्टि में वह स्वतन्त्र है, उस पर विदेशी सत्ता का शासन नही। केवल विदेशी सत्ता नही, इतने मात्र से कोई देश स्वतन्त्र नही हो जाता। देश की स्वतन्त्रता निर्भर करती है देश-वासियों के चरित्र पर, उनके नैतिक उत्थान पर, उनकी संयम-वृत्ति और त्याग पर। सौदास मे ये तत्त्व देखने तक को नहीं थे। वह अभ्यस्त थे शराब और मांस का। वह शराबी था और उसमे यही खराबी थी। उसे ऐसी लत पड़ गई थी कि बिना मांस और पतझर के पानी के एक दिन भी नही निकल सकता।

अठाई पर्व आया। देशभर मे राजाज्ञा घोषित कर दी गई—'आठ दिन तक कोई पशु न काटा जाए।' पर राजा का आहार किस प्रकार चले। मांसखोर मांस न खा सके, यह कैसे संभव हो ? राजा के लिए शिकार आया। एक दिन आया, दो दिन आया, तीन दिन आया। आखिर मन्त्रिमण्डल को पता चल गया। बात छिपी कैसे रह सकती थी। मन्त्रिमण्डल ने विचार किया —राजाज्ञा को यदि राजा ही भंग करेगा फिर पालेगा कौन ? बनाने वाला ही यदि न पाले तो क्या वह सिर्फ जनता के लिए ही है ? उन लोगों ने राजा को समझाया। वह आदत से लाचार था। मन्त्रिमण्डल ने सारी सत्ता अपने हाथ में ले ली और अर्द्ध-रात्रि के अन्धकार मे राजा को शहर के बाहर कर दिया। राजा गहरी निद्रा मे सोया था। उसे क्या पता कि वह पूर्वकृत कुकर्मो का फल पाने जा रहा है।

सुवह हुई। राजा जगा। चारों ओर दृष्टि डाली। वह स्वप्न-सा महसूस करने लगा। मै कहा हूं ? सोया हूं या जागृत हूं ? यह राजमहल है या शहर के वाहर की गन्दगी से परिपूर्ण मैदान ? समझते देर नही लगी कि क्या बात है ? राजमहल छूटा, राजसी ठाट और सुख-सुविधाएं छूटी, यहां तक

कि सारा राज्य छूटा। सुख-शय्या पर सोने वाला राजा दर-दर भटकने लगा। बीहड जंगल, संकरी पगडण्डियां सब जगह भटकता रहा, शान्ति के लिए, सत्पथ की प्राप्ति के लिए। आखिर कव तक भटकता रहता ? वह थक गया। ज्यों ही वह थोड़ी दूर और चला होगा उसे एक मूर्ति दिखाई पड़ी। मूर्ति नहीं—मूर्ति की तरह ध्यानस्थ एक वृद्ध साधु दिखाई पड़ा। देखने मात्र से उसे शाति मिली। शांति के चिह्न मालूम दिये। वह साधु के सामने सत्पथ दिखाने के लिए प्रार्थना करने लगा। साधु ने आंखे खोली और देखा—सामने एक मनुष्य खड़ा है जिसकी आंखें लाल सुर्ख है। उन्हे समझतें देर नही लगी—यह कोई नशेवाज है।

राजा बोला—"महाराज ! मैं अयोध्या का राजा था। अव दर-दर का भिखारी हूं। आप उद्धारक है तो मै अधम हूं। आप तारक है तो मैं डूबा हुआ हू। मुझे उवारिये।"

साधु वोले—"शराव और मास को छोड़ सकते हो ?"

राजा बोला—" महाराज ! अव फिर इस जीवन में इन्हें नही रख सकता।"

वह राजा जो मास और शराव का अभ्यस्त था, साधु—सद्‌गुरु कें सदुपदेश से हमेशा के लिए उससे मुक्त हो भव-भव से मुक्ति पाने का उपाय सोचने लगा।

निष्कर्ष यही निकलता है कि आज का वित्रस्त मानव सद्‌गुरु के सहारें से त्राण पा सकता है, शांति को प्राप्त कर सकता है। आज की व्याख्या का साराश यह है कि व्यक्ति सकीर्णता को छोड़ सद्‌गुरु की शरण मे जाए और अपने जीवन को उठाए।

वीकानेर
५ मई, ५३

४३. सत्य की साधना

अहिंसा के बाद सत्य का क्रम आता है। अहिंसा सब व्रतो का सिरमौर है तो सत्य का पालन सब व्रतों से ज्यादा कठिन है। हिंसा के साथ झूठ और झूठ के साथ हिंसा का सनातन संबंध-सा रहता है। यदि हम हिंसा को बहन कहें तो झूठ उसका भाई है। जहां झूठ को प्रश्रय मिलेगा वहा हिंसा बहन कही न कही से आ ही टपकेगी। वह अपने भाई को अकेला छोड़ने को तैयार नही है। ऐसा लगता है इनमें जो भाईचारे का सम्बन्ध है, उस पर कलियुग की कोई छाप नही लगी। आज भाईचारे का सम्बन्ध जुड़ते और टूटते देर नही लगती, पर इनका यह सम्बन्ध कभी नहीं टूटने वाला है।

सत्य बोलो। पर ऐसा सत्य कभी मत बोलो जिससे हिंसा हो अथवा जो कटु हो। मान लें कोई शिकारी शिकार के पीछे भागता है। शिकार आगे निकल गया। किसी साधु ने उसे देखा। शिकारी साधु से पूछता है—"शिकार किधर गया?" उस समय साधु क्या कहे? यदि वह कहता है कि इस ओर गया तो सम्भव है शिकारी उसे मारेगा। यदि वह कहता है—'मैंने नही देखा है' तो सत्य महाव्रत का भंग होता है। आखिर वह करे क्या? एक तरफ कुआ है तो दूसरी तरफ खाई। जिस ओर गिरता है उस ओर ही खतरा है। अजीब-सी समस्या बन जाती है। साधु ऐसी हालत में नहीं कह सकता कि 'मैंने उसे नही देखा।' वह मौन ही रहता है। उसे कुएं या खाई मे गिरने की आवश्यकता नही। लोग कहेगे—'मौनं स्वीकृतिलक्षणम्'—इस लोकोक्ति से शिकारी समझ जाएगा कि शिकार इधर गया है। शिकारी कुछ भी समझे, इससे साधु को कोई प्रयोजन नही। साधु मन, वचन और काया—किसी तरह भी उस हिंसा में साथ नही देता। वह अपने आप पर अपना कंट्रोल रखता है। ऐसी हालत में उसे चाहे मार खानी पड़े या बलिदान होना पड़े वह अपनी सीमा से न हटे। यदि वह हटता है तो उसका साधुत्व खत्म हो जाता है।

मौन और ध्यान की कसौटी पर महापुरुषों को कितनी यातनाएं सहन करना पडती है। इसके उदाहरण है—भगवान् महावीर। भगवान् महावीर का जीवन साधनामय था। तपस्वी जीवन था। वे बोलते नही थे। घोर तपस्या करते और मौन साधते। कोई उनके पास आकर त्याग करना या दीक्षा लेना चाहता तो भी वे नही बोलते, न दीक्षा और त्याग दिलाते।

एक बार वे ध्यानस्थ खड़े थे। एक ग्वाला उनके पास आया और

बोला—"ऐ मुण्ड ! मेरे बैलों की निगरानी रखना। मैं शहर से अभी लौटता हूं।" वे कुछ न बोले—उन्होने 'हां' या 'नही' कोई प्रत्युत्तर नही दिया। ग्वाला बैलो को उनके पास छोड कर शहर चला गया। बैलों को आजादी मिल गई। वे चरते-चरते दूर निकल गए। थोडी देर बाद जब ग्वाला आया और बैलों को नही देखा तो उसने समझा—इस बकध्यानी ऋषि ने उन्हें पार कर दिया है। उसे क्या पता ये भगवान् महावीर हैं। मेरे "बैल कहा है।" उसने उनसे पूछा। वे अब भी पहले की तरह अडिग थे। ग्वाला क्रोध में आ गया। उसने निर्दयतापूर्वक भगवान् के कानों मे कीले ठोक दी। फिर भी वे विचलित नही हुए। लोग कहेगे—वे कमजोर थे। उन्होने कायरता दिखाई। एक मामूली ग्वाले ने उन्हे पीट डाला। यह कायरता नही, वीरता है। मार सकने पर भी जो मारता नही, वह वीर है और सच्चा सिंह है। वह वीर की तरह निडर खडे रहे। उन्होने अपने मौन को भंग नही किया। जो व्यक्ति तपस्या और ध्यान के रंग मे तल्लीन हो जाता है उसे अपने-पराये का ध्यान नहीं रहता, वह आत्मरमण में लीन रहता है।

नमी राजा का उदाहरण है—वे ऋषि बने। उनकी आंखों के सामने मथुरा नगरी जल रही थी। इन्द्र ने आकर कहा—"महाराज ! आपकी मथुरा नगरी जल रही है, उसे बुझाया जाए।" नमी ऋषि ने कहा—इन्द्र ! तुझे मालूम है ? मैं साधु हूं। मेरा मथुरा से कोई सम्बन्ध नही। मैं किस-को जलने से बचाऊंगा ? मथुरा क्या, आज सारा विश्व बुराइयो की आग में जल रहा है।" कोई कह सकता है कि वे निर्दयी थे। अध्यात्मदृष्टि बतलाती है कि वे निर्मोही थे। वास्तव में साधु-सन्त लौकिक कार्य क्यों करेंगे ? कल कोई कहेगा—महाराज! लडके की शादी करनी है आप ही मुहूर्त देख दीजिए। साधु ऐसे कार्य क्यो करेंगे ? वे तो अपनी साधना, त्याग और तपस्या मे लव-लीन रहेंगे। खुद तरेंगे, दूसरों को तारेगे। भगवान् महावीर पर कितने ही कष्ट आए पर वे अडिग रहे। ग्वाले को किसी तरह मालूम पड़ गया कि ये भगवान् महावीर है। वह उनके सामने माफी मागने लगा। भगवान् अब भी उसी तरह अडिग थे, जैसे पहले थे। उन्हे न प्रशंसा से मतलब था, न निन्दा से और न मार से ही। ग्वाला थोडी दूर गया होगा कि उसके बैल चरते हुए मिल गए। उसे अपने कृत्य पर बडा दुःख हुआ। पर अब हो भी क्या सकता था।

साधु सत्य के उपासक है। वे कभी झूठ नही बोल सकते और झूठ बोलते है तो फिर साधु नहीं रहते। इसी तरह गृहस्थ—श्रावक भी सत्य के उपासक होते है। साधु और गृहस्थ मे फर्क इतना ही होता है कि जहां साधु पूर्णरूपेण सत्य का पालन करते है वहां श्रावक उसे यथाशक्ति अपनाता है। वह गृहस्थ है; उसे झूठ भी बोलना पड़ता है अतः उसे पूर्णरूपेण नही अपना

४४. परीक्षा रत्नत्रयी की

कवियो ने खाने को रोटी, पीने को पानी ओर वोलने को मीठी वाणी —इन तीन वस्तुओ को सवसे अधिक आवश्यक तथा उपादेय वताया है। पर मैं कहूंगा ये सव तो वाह्य वस्तुएं है। जीवन मे इनसे भी अधिक आवश्यक तीन वस्तुएं हैं, वे है—(१) देव (२) गुरु (३) धर्म।

देव उपास्य है, आराध्य है, आदर्श है। व्यक्ति उस आदर्श को सामने रखकर अपने जीवन का लक्ष्य निर्धारित करता है। गुरु पथ-प्रदर्शक है, वह सही राह दिखाने वाला है। धर्म आत्मा की शुद्धि का साधन है।

एक व्यक्ति समुद्र को पार करना चाहता है पर यदि वह जहाज का सहारा न ले तो क्या यह सभव है कि वह समुद्र को पार कर सकेगा ? इसी प्रकार संसार-समुद्र को पार करने के लिए इन तत्त्वो के अवलम्वन की महती आवश्यकता है। देव, गुरु और धर्म की सम्यक् परीक्षा भी आवश्यक है। ये सही होते है तो आलम्वन वनते हैं आगे वढने मे अन्यथा डूवने के अलावा और है ही क्या। इसलिए प्रत्येक व्यक्ति का यह कर्त्तव्य है कि वह परीक्षा पूर्वक इनको स्वीकार करे। दो पैसे की हांडी खरीदते वक्त भी वह अच्छी तरह वजाकर जांच कर उसे खरीदता है तो फिर जिनसे डूवने और तिरने का सम्वन्ध है, उनको ग्रहण करते वक्त वह उपेक्षा वरते यह कहां तक शोभनीय है ?

इन तीन तत्त्वों की विशेष व्याख्या न करता हुआ संक्षेप में इतना ही कहूंगा कि देव वही है जो राग-द्वेषादि शत्रुओं को सर्वथा मिटा चुके हैं, जो सर्वज्ञ है। उन्हे चाहे किसी नाम से पुकारिए। सर्वज्ञो द्वारा प्ररूपित धर्म की राह दिखानेवाले, कनक-कामिनी के त्यागी, अहिंसा आदि पांच महाव्रतो के पालक साधु गुरु हैं और आत्मा की शुद्धि का साधन अर्थात् आत्मा को उत्थान की ओर ले जाने वाला धर्म है। लोग इन सही तत्त्वो को समझें, ग्रहण करें, तभी उनके जीवन की सार्थकता है।

वीकानेर
७ मई, ५३

४५. अचौर्य व्रत

व्यक्ति अपने अधिकार की वस्तु पाने की चेष्टा करता है। कोई उसे मना नही करता। यदि वह किसी वस्तु के लिए अधिकार चेप्टा करता है तो लोगो की दृप्टि मे प्रशंसनीय कार्य नही करता। आखिर वह अनधिकार चेप्टा करता ही क्यो है ? उसे उतना ही तो चाहिए, जितना उसके पात्र में समा सके। वह उससे अधिक पाने की चेप्टा क्यो करता है ? गागर में सागर भरा नही जा सकता और यदि भर भी दिया गया तो आखिर होगा क्या ? उससे शान्ति मिलने से रही। शान्ति सन्तोप से मिलेगी। विना सन्तोष के शान्ति नही। आत्मा पर नियंत्रण रखने से ही यह संभव है। आत्मा पर नियत्रण किये विना तृष्णा की आग भभकती ही रहेगी और उसमें परमशाति स्वाहा होती रहेगी।

साधु की दृप्टि से दन्त शोधनार्थ अदत्त तृण का लेना भी चोरी कहलाता है। गृहस्थ इतनी वारीकी तक न भी पहुंच सके तो कम से कम ऐसी चोरी न करे जिससे 'राज डण्डे, लोक भण्डे'। साधु अचौर्य व्रत का पूर्ण रूपेण पालन करता है। वह सन्तोषी है। उसे जैसा मिल जाए उसी मे संतुष्ट रहता है। गृहस्थ उनका अनुसरण करे। कहा भी है—

'रूखा-सूखा खायके, ठण्डा पानी पीव।
देख पराई चोपडी, क्यू ललचावे जीव ?'

व्यक्ति किसी दूसरे की थाली में चुपड़ी रोटी देखकर क्यों जले ? जैसा मिले उससे वह सन्तोष करे। पर अनधिकार चेष्टा न करे। पर चिन्ता तो इस वात की है कि साधु नामधारी भी कंचन के फेर में पड़ कर क्या से क्या करने लग जाते है ! उनके पास से चोरी का माल वरामद होता है फिर भी वे साधु कहलाते हैं। ऐसे व्यक्ति साधु के नाम पर कलङ्क हैं। उन भेषधारियों के पीछे असली साधु को वट्टा लगता है। इसमे उनका भी क्या दोष हो सकता है ? दोष उनका है जो उन्हे साधु मानते है, गुरु मानते है। लोगों की एक धारणा है—वाप और गुरु दो नही हो सकते, जो हो गए वही रहेंगे। कितनी वडी भूल कर देते है। गुरु वही हो सकता है जिसमे गुरुता हो, जिसमें गुरु के लक्षण हो। विना सद्‌लक्षण के गुरु कैसा ?

साधु किसी मकान मे कसमकस की स्थिति में नही ठहर सकता। मकान मालिक नही चाहता कि साधु मकान में ठहरे और ऐसी हालत में कोई साधु वहां ठहरता है तो वह चोरी का भागी है।

चोरी के प्रकार

चोरी दो प्रकार की होती है—सचित्त और अचित्त। सचित्त—जैसे किसी को बहका कर, डराकर, धमकाकर शिष्य बना लिया। धन के प्रलोभन मे आकर किसी का अपहरण कर लिया। किसी कन्या का अपहरण कर उसके साथ शादी कर ली। जबरन किसी को दास-दासी बना लिया। यह सचित्त चोरी है। इसी तरह पशु आदि चुरा लेना भी सचित्त चोरी मे आ जाते है। अचित्त चोरी मे रुपया, सोना-चादी आदि की चोरी का समावेश होता है।

चोरी सर्वथा वर्जनीय है। साधु इससे पूर्णरूपेण बचते हैं। गृहस्थों के लिए उसकी सीमा है। आदर्श तो उनका भी अचौर्य व्रत है। गृहस्थ जीवन में इस व्रत का परिपूर्ण पालन बहुत बडी बात है। पर लक्ष्य बड़ा हो तो असंभव भी संभव बन जाता है। चोरी करना, कराना और उसका अनुमोदन करना सब चोरी मे परिगणित कर लिये जाते हैं।

आज लोगों के चोरी का धन्धा बढता जा रहा है। छोटी-से-छोटी और बड़ी-से-बडी वस्तु ब्लैक मे खरीदी और बेची जाती है। खाने-पीने का सामान भी ब्लैक बिना नही मिल पाता। ऐसी हालत में जो व्यक्ति ईमानदारी से जीता है, वह धन्यवाद का पात्र है।

बीकानेर
८ मई, ५३

४६. ब्रह्म में रमण करो

चोरी के बाद अब्रह्मचर्य का स्थान आता है। ब्रह्मचर्य जीवन का तत्त्व है। शरीर और आत्मा—दोनो का सौष्ठव इसमे निहित है। भौतिक चकाचौंध मे चुंधिया रहा मनुष्य इसके महत्त्व को नही समझता है। इसी कारण वह वासना का दास बनकर भटक रहा है।

एक समय था जब लोग ब्रह्म मे रमण किया करते थे। सामान्यतः चार आश्रम की व्यवस्था थी। प्रथम पच्चीस वर्ष तक पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन किया जाता था। आज पच्चीस वर्ष की अवस्था तक व्यक्ति कई बच्चो का पिता बन जाता है। दूसरे पच्चीस वर्षो मे गृहस्थ जीवन, फिर वानप्रस्थ और सन्यास जीवन विताया जाता था। इस तरह जीवन में लगभग ७५ वर्ष ब्रह्मचर्य का पालन किया जाता था। जैनमत के अनुसार व्यक्ति जीवन भर ब्रह्मचारी रह सकता है। इतनी समता न हो तो वह जब चाहे ब्रह्मचर्य का पालन करे। आज हम देखते है कि २५ वर्ष की अवस्था तक ब्रह्मचर्य का पालन करने वाला व्यक्ति अपवाद रूप मे कोई मिल जाए वरना न वानप्रस्थ है और न सन्यास ही। मनुष्य रोटी की तरह काम-वासना को भी आवश्यक मानता है। ब्रह्मचर्य का पालन करना भी कठिन है। शरीर से ही संभोग होता तो शायद मनुष्य बच भी पाता लेकिन दृष्टि, श्रवण; स्मृति आदि दोषो से वह कैसे बचे? विद्वानो ने इसके लिए नववाड़ बनाई जिससे ब्रह्मचर्य रूपी वृक्ष सुरक्षित रह सके। नववाड़ ही नही उसकी सुरक्षा के लिए एक कोट फिर बनाया है। मूल बात यह है कि अब्रह्मचर्य से बचने के लिए मन पर नियन्त्रण रखना पड़ता है। विना आत्मा को जीते ब्रह्म मे लीन हो सकना सम्भव नही। जब भी विकार आए, ईश्वर का भजन करो, स्मरण करो, आत्मा को उस ओर से हटाने का यह सुगम उपाय है। उलटी गिनती करने से भी उस ओर ध्यान नही रहता।

धर्मशास्त्रो मे स्त्रियो को राक्षसी आदि विशेषण दिये गए है, वे वास्तव मे स्त्रियो को लेकर नही, काम को लेकर है। जो व्यक्ति काम के वशीभूत हो अब्रह्मचारी ही नही व्यभिचारी बन जाता है; उसके लिये वह राक्षस के समान है। मानव यहां कितनी नीचता पर पहुच जाता है। काम की भी एक सीमा होती है। व्यभिचार का सेवन करना मानवता को खोना है। पता नही, मानव की यह काम-पिपासा कभी शान्त होगी या इसी तरह जलती रहेगी? यह रात-दिन सुलगती रहती है। पशु इस सन्दर्भ मे मनुष्य के शिक्षक है। वे विना ऋतु के सभोग नही करते। पर मनुष्य उन्हे भी मात

कर गया है।

कहने को आज का मनुष्य विवेकशील है, शिक्षित है, पर ऐसे कितने घर होगे जिनमे सात्विक साहित्य मिलता हो। जीवन-प्रद तथा नैतिक उत्थानकारी साहित्य पढने वाले व्यक्ति बहुत कम मिलेंगे। आज युवक और युवतियो के पास अश्लील साहित्य मिलता है। वे उसे छिप-छिपकर पढ़ते हैं इससे अब्रह्मचर्य को प्रोत्साहन मिलता है और वे पतंग की तरह इस ज्वाला मे स्वाहा हो जाते हैं, ये सांसारिक नाते रिश्ते और कामभोग मिथ्या है। इनमें न उलझ कर ब्रह्मचर्य को स्वीकार करने से ही व्यक्ति स्वस्थ और प्रशस्त जीवन जी सकता है।

बीकानेर
८ मई, ५३

४७. जीवन बदलो

कुसग्गे जह ओसबिन्दुए थोवं चिट्ठइ लम्बमाणए।
एवं मणुयाण जीविय समयं गोयम ! मा पमायए॥

मानव जीवन क्षणिक है। अनित्य है, क्षण भगुर है। इसका कोई भी भरोसा नही। वह कुश के अग्रभाग पर अवस्थित ओस बिन्दु की भांति बड़ा ही सुन्दर प्रतीत होता है पर उसे विनष्ट होते देर नही लगती। भगवान महावीर ने कहा—गौतम ! एक क्षण के लिये भी प्रमाद मत करो, एक क्षण भी प्रमाद मे मत गंवाओ। उसे छोडते जाओ और अपने आपको वदलते जाओ। तुम्हारा कल्याण हो जाएगा।'

भगवान की वाणी को आधार वनाकर मैं भी आपको यही कहना चाहता हूं कि आप अपना जीवन वदले। जीवन मे जो बुराइयां और रूढियां घर कर गई है उन्हे छोडे। आज सपूर्ण जीवन को वदलने की अपेक्षा है। जीवन के नवनिर्माण से ही भविष्य उज्ज्वल होगा।

जीवन मे व्याप्त सारी बुराइया खत्म हो जाए, यह सभी चाहते है। जीवन की उन्नति कौन नही चाहता ? पर आज इस दिशा मे चलना सरल नही, लोग सांप को नही, लकीर को पीटते हैं। ब्राह्मण कहेगे—हम जगद्गुरु है, पूजनीय हैं, हमारा जीवन क्या वदलेगा ? महाजन कहेंगे—हम महाजन है। "महाजनो येन गतः स पन्थाः" फिर हमें जीवन वदलने की क्या आवश्यकता है ? क्षत्रिय कहेगे—हम रक्षक हैं, राजा है। हमारा जीवन वदलना क्या मतलव रखता है ? फिर शूद्र कहेंगे—"वाह जी हमारा जीवन क्या वदले, हम तो सेवा-भावी-प्राणी है।" ऐसी स्थिति मे किसका जीवन किस प्रकार वदला जाए ?

ब्राह्मण उच्च है, जगद्गुरु है, यह प्रसिद्ध बात है। पर ब्राह्मण सिर्फ जाति से ही उच्च नही हो जाते। सिर्फ वेप वना लेने से कोई साधु-श्रमण नही हो जाता। ब्राह्मण वह है जो ब्रह्म मे लीन रहता है। श्रमण वह है जिसमे ज्ञान है, चरित्र है। तपस्वी वह है जो तपस्या करता है। महाजन कहलाने भर से कोई महाजन नही हो जाते और क्षत्रिय कहलाने मात्र से शूर-वीर नही हो जाते। शूद्र कहलाने मात्र से कोई नीच नही हो जाते। एक शूद्र स्त्री का कथन कितना मार्मिक है—

कर खप्पर सिर श्वान है, लहुजु खरडे हत्थ।
छटकत मग चडालिनी ऋषि पूछत है बत्त॥
हे ऋषि ! तुम भौरे भये नही जानत हो भेव।
कृतघ्नी की चरण रज, छटकत हूं गुरुदेव॥

इस सन्दर्भ मे किसे कहेगे नीच, कृतघ्नी को या चण्डालिनी को ? यदि जाति से कोई नीच है तो चण्डालिनी नीच है और गुणावगुण से कोई नीच है तो फिर कृतघ्नी नीच है। ऊच और नीच का मानक जाति न होकर गुण हो तो किसी समस्या को उभरने का अवसर ही नही मिलता।

जब गुणावगुण से व्यक्ति उच्च और नीच होता है तो फिर लोगो में संकीर्णता क्यो ? वे संकुचितता की सीमा में क्यो घिर जाते है ? जाति और धर्म आदि को आधार बनाकर मनुष्य को क्यो बांटते है ? धार्मिक लोगो का दायित्व है कि वे बंटने और बांटने की बात से ऊपर उठकर बुराइयों के प्रतिकार मे शक्ति लगाएं। मानव बुरा नही होता, बुरी होती हैं उसमे घर बनाकर रहनेवाली बुराइयां। वे सारी बुराइया मिटे, आपको ऐसा रास्ता खोजना है फिर वह रास्ता कोई सनातनी बताये या जैनी, कोई आपत्ति नही होनी चाहिये। नाम के झंझट मे पडना भी नही चाहिये। फर्क क्या है जैन और सनातन में ? कौन धर्म है, जो झूठ को धर्म मानता है ? चोरी को अच्छा मानता है ? आपको कोई ऐसा धर्म नही मिलेगा जो इन्हे धर्म मानता हो। वैदिक जिन्हे पांच यम कहते है, जैनी उन्हे पाच महाव्रत कहते है। इसमे फर्क है क्या ? हा, दो एक बातो मे अन्तर है जिसे आंखो से ओझल नही किया जा सकता। दुनिया किसने बनाई ? ईश्वर सुख-दु ख का कर्ता है या नही ? ईश्वर एक है या अनेक ? यहां पर मतभेद है। पर मतभेद के लिए लडा जाए, अखाड़ेबाजी हो, दगल हो, यह ठीक नही। मतभेद तो रहता ही है। जितने दिमाग, उतनी सूझ। आज दुनिया में जितने व्यक्ति हैं, सब के दिमाग एक नही हो सकते। और एक नही हो सकते इसलिए लडा जाए यह मानवता के परे की बात है।

हमारी नीति कही खण्डनात्मक नही रहती। पर वास्तविक तत्त्व को तो समझना है। किसी पर व्यक्तिगत आक्षेप नही रहते। पर बुराइयों पर तो चोट करनी है। आज धर्म के नाम पर भ्रम फैलता जा रहा है। धर्म के नाम पर पेट पलते है। धर्म के नाम पर बहुत सारे पाप किये जाते है। साधु के वेष मे ठगी चलती है। पेट पालने के लिये साधु का वेष बना लिया जाता है। ऐसे गुरु किसी का क्या उपकार कर सकते है, जिन्हे कचन और कामिनी की भूख है, जो स्वयं इसके दलदल में कमर तक फसे हुए है। साधु को रुपयो से क्या वास्ता ? उसे कम से कम इनसे तो अछूता रहना ही चाहिए। जो इनसे मुक्त नही उसमें और गृहस्थ में फर्क ही क्या रह जाता है ? जमीन-जायदाद गृहस्थ के पास होती है और साधु के पास भी। पैसा गृहस्थ भी रखता है और साधु भी रखता है। स्त्री-बच्चे साधु के भी होते है और गृहस्थ के भी। दोनों एक से हो जाते है। किसे साधु कहा जाए और किसे गृहस्थ ? वे किसी को कैसे तार सकेंगे जो स्वयं डूबे जा रहे है। वास्तव मे वे ही तर सकते है

और तार सकते है जिनका स्वयं का जीवन उठा हुआ हो। पानी से स्नान करने मात्र से आत्मा उज्ज्वल नही हो सकती। व्यक्ति आत्म-रमण करे, त्याग और सयम रूपी जल से स्नान करे। नदी के जल से ऊपरी शुद्धि हो सकती है, आन्तरिक नही।

महाभारत का एक प्रसंग है। युद्ध मे भाई-बन्धुओ का सहार करने के बाद पाण्डवों ने सोचा—हमने वहुत पाप किया है, अब तीर्थ कर आएं। पापो को धो आएं। वे कृष्ण के पास आये। उनके सामने अपने विचार प्रकट किए। कृष्ण ने कहा—"ठीक है, मेरी भी एक तूम्वी ले जाओ। उसे भी स्नान करा लाना।" पाण्डव जहा एक बार स्नान करते तूम्बी को तीन बार नहलाते। वे वापस लौटे। कृष्ण के पास आये। कृष्ण ने पूछा—"स्नान कर आये?" उत्तर मिला—"हा।" "मेरी तूम्बी?" कृष्ण ने पूछा। पाण्डवों ने तूम्बी उन्हे दी। कृष्ण ने उनके सामने उसे काटा, पीसा और सबको थोडी-थोडी दी। पाण्डवो ने कहा—"क्यो मुख खारा करवाते है।" कृष्ण ने कहा—"मुख खारा थोडा ही होगा।' पाडवो ने तूम्बी मुह मे डाली। खारापन महसूस हुआ। उन्होने कृष्ण से कहा। कृष्ण बोले—"तूम्बी तीर्थ करके आई है फिर भी खारी है, क्या तुमने इसे स्नान नहीं कराया?" पाण्डवो ने कहा—"इसके अन्दर का खारापन कैसे जाएगा।" कृष्ण ने कहा—"तीर्थ स्नान तो कर आये पर भीतर के पाप कैसे मिटेंगे?" पाण्डव समझ गए। उन्होने कहा—"पहले ही यह रहस्य खोल देते तो हम तीर्थ करने जाते ही नही।" कृष्ण ने कहा—"यह उस समय मुमकिन नही था।" तो अव क्या करना चाहिये?" पाण्डवो ने पूछा। कृष्ण ने कहा—"सयम, तप, इन्द्रिय-दमन। जिस प्रकार ऊपर से रगडने से मैल साफ हो जाता है उसी तरह ये अन्दर के कालुष्य को साफ कर देते है। मनुष्य सदाचार और संयम की ओर बढे। सत्य और अहिंसा को अपनाए। चोरी छोडे, आत्मरमण करे, किसी को गाली न दे, किसी के साथ क्रूर व्यवहार न करे, सबको आत्मतुल्य समझे। जीवन मे जमी हुई बुराइयों को मिटा दे। जीवन की दिशा बदल दे, उसे एक नये सांचे मे ढाल दे। जीवन के बदलाव की यही एकमात्र दिशा है।

बीकानेर,
१ मई, ५३

५८. अपरिग्रह व्रत

आज का युग विषमताओ का युग है। संघर्ष का युग है। एक ओर पूंजी और श्रम के वीच संघर्ष है। दूसरे शब्दो मे कहे तो पूजीपतियों और श्रमिको के वीच सघर्ष है। पूजीपति चाहता है उसकी पूजी सुरक्षित रहे। कोई छीन न ले। श्रमिक का कहना है—अट्टालिकाओ मे रहने वाले लोगो ने हमारा शोपण किया है। हमारे खून से वनी है इनकी हवेलियां। दोषी कौन है, कहा नही जा सकता। पूजी के सामने आते ही सव झुक जाते हैं। कल तक विरोध में नारे लगानेवाला व्यक्ति भी जव यह देखता है कि आज पूंजी मिलने वाली है तो वह मौन हो जाता है और विना डकार लिए पूजी को निगल जाता है। श्रमिक हो या पूजीपति, धन के सामने सव झुक जाते है। यह एक संघर्ष है। यह सघर्ष कैसे मिटे, इस विपय मे विचार भेद है। पूजी को श्रमिको में वांटने की वात सामने आती है तो पूजीपति नाराज होते हैं। श्रमिको की आवाज दवाई जाती है तो श्रमिक नाराज होते हैं। आखिर ऐसा कौनसा तरीका हो सकता है जिससे न श्रमिक नाराज हो और न पूजीपति। मेरी दृष्टि में वह उपाय है—अपरिग्रहवाद। अपरिग्रह की शरण लिए विना सघर्प मिटने का नही।

मनुष्य परिग्रह के प्रति आसक्त है। वह येन केन प्रकारेण उसे वटोरना चाहता है। यद्यपि गृहस्थ जीवन के लिए परिग्रह भी आवश्यक है। उसके विना उसका काम नही चल सकता। पर परिग्रह को ही सव कुछ मान लेना, उसका दास वन जाना भूल है। अपेक्षा है वढती हुई इच्छाओ की वाढ़ को रोकने की, उस पर कावू करने की। यह इच्छाओं का सीमाकरण ही अपरिग्रह है।

अपरिग्रह विषमता की समस्या का सवसे वडा समाधान है। अपरिग्रहवाद के सामने सत्ता भी वौनी हो जाती है। अपरिग्रही व्यक्ति सत्ता की शक्ति के सामने झुकता नही। अपरिग्रही व्यक्ति कितना सुखी रहता है, इसका वर्णन नही किया जा सकता, अनुभव किया जा सकता है। वास्तव मे जितना सुख इच्छाओ पर अकुश रखनेवाला निर्धन पा सकता है, उतना सुख इच्छाओ को विस्तार देने वाला पूजीपति नही पा सकता। निर्धन कहा जाने वाला व्यक्ति किस तरह सत्ता के मद से पागल वने सत्ताधीश को चुनौती दे सकता है, इसका आगमो में एक अच्छा प्रसंग आया है।

राजा उदाई सोलह देशों पर शासन करता था। चारो ओर उसका वहुत प्रभाव था। सहसा राजा का मन कामभोगो से विरक्त हो गया। उसने

संन्यास लेने का निर्णय लिया और राज्य का भार पुत्र को सौंपना चाहा। पर अगले ही क्षण मन में आया—मैं जिस चीज को हेय समझ कर छोड़ रहा हूं उसमे अपने पुत्र को क्यों फंसाऊं ?" मन ही मन इस सम्बन्ध में निर्णय किया और अपने पुत्र को विना सूचित किए भानजे को राजगद्दी सौंप दी। वह स्वय माहवीर के पास जाकर दीक्षित हो गए। पुत्र के दिल मे गांठ पड गई। उसने सोचा—पिताजी ने मेरे साथ शत्रुता की है। वे साधु वन गये हैं। केवली वन जाएं तो भी मैं उन्हे वन्दन-नमस्कार नही करूंगा। हाथ नही जोडूगा।

इधर राजा उदाई साधना करने लगे। एक दिन वे भगवान महावीर के पास आये और वद्धाञ्जलि होकर वोले—भंते ! मैं अपने भूतपूर्व देशवासियो को उपदेश देना चाहता हू। वहां के छोटे वड़े सव लोग मुझे जानते हैं। अच्छा उपकार हो सकता है। भगवान ने उन्हें आज्ञा दी। राजर्षि उदाई ने अपने नगर की ओर प्रस्थान किया। भानजे को इस वात का पता चला उसे प्रसन्नता हुई।

चुगलखोर कहां चुकते है ! राजा के पास भी वे पहुंचे। खुशी का कारण पूछा। राजा ने कहा—'राजर्षि पधार रहे है।' चुगलखोरों ने कहा—हू ! पता चल जायेगा'। राजा ने पूछा—'क्या वात है ?' 'राज वापस लेने आ रहे हैं'—चुगलखोरो ने कहा। राजा सन्न रह गया। चुगलखोरो ने कहा—'पता है, आपके ये मन्त्री और अफसर सव उनसे मिल गए है। देखते नही, वे हरदम उनके पास दौड़े-दौड़े जाते है।'

वड़े आदमियो के कान कच्चे माने जाते हैं। वह कच्चा ही निकला। खुशी का स्थान रोष ने लिया। ढिंढोरा पिटवा दिया गया—'मुनि को ठहरने के लिये कोई पूरे शहर मे स्थान न दे। जो व्यक्ति स्थान देगा उसकी जमीन-जायदाद जब्त कर ली जाएगी और उसके परिवार को कोल्हू में पीस दिया जाएगा।'

साधुओ के आगमन पर कई मीलो तक श्रावक सामने जाते थे। पर अव कौन जाए ? राजाज्ञा जो थी। राजर्षि जिस रास्ते से आए, रास्ता सूना था। घर वन्द थे। कोई राह चलता सामने मिला तो जगह मांगने पर किसी ने कहा—घर मे ठहरे हुए है। कोई कहता—मकान खाली नही है। कोई कहता—दरवाजे वन्द है, खोलकर देने से तो आप ठहरेंगे नही। राजर्षि आगे चलते गये। शहर को पारकर वाहर की उस वस्ती मे आए, जहां कुम्हार वसते थे।

गर्मी के दिन थे। राजर्षि के शरीर से पसीना चू रहा था। कन्धो पर वोझ था और जमीन गर्म तवे की भांति तप रही थी। फिर भी शान्त। चेहरे पर क्रोध की झलक तक नही।

चलते-चलते वे एक कुम्हार के द्वार पर आए। कुम्हारिन ने साधु को देखा। दर्शन मात्र से उसे शान्ति मिली। राजर्षि ने स्थान के लिए पूछा। कुम्हारिन ने जब यह जाना कि शहर मे जगह नही मिली तो उसके मुह से अनायास निकल पडा—'क्या शहर के भाग फूट गये है!' उसने कहा—अच्छा महाराज! मैं घर में पूछ लू। वह कुम्हार के पास आई और साधु को जगह देने के लिए कहा। वह बोला····"पागल हो गई हो क्या? बहुत 'मोड' फिरते हैं—कई जटाधारी, कनफटे, भभूत रमाये जोगी हैं, सब पैसे के पाजी हैं। कोई ठग होगा, नही देनी है अपनी जगह।" कुम्हारिन बोली—"ऐसी बात नहीं है। साधु बडा शान्त है। उनकी रग-रग से शीतलता टपक रही है। उनके चेहरे पर आकर्षित करने वाला ओज है। मैं उन्हे जगह देना चाहती हूं। मैंने आज न राबड़ी बनाई है और न रोटी ही। उसे जगह नही देंगे तो कुछ भी नही बनाऊंगी।" कुम्हार ने देखा—मुश्किल हो गई। उसने पूछा—"उसका क्या नाम है?" कुम्हारिन ने कहा—"मुझे पता नहीं, यह आप ही पूछ लो।" कुम्हार उठकर बाहर आया। उसने राजर्षि को देखा। उसे शांति मिली। नाम पूछा। जबाब मिला—"उदाई।" कुम्हार ने मन ही मन सोचा—ये तो हमारे राजा थे। इतने मे राजाज्ञा का स्मरण हो आया। वह कुम्हारिन के पास आया और बोला—"पता है, ये राजर्षि है। राजा की आज्ञा है—इन्हे जगह देने वाले का घर लूट लिया जाएगा और परिवार को कोल्हू मे पील दिया जाएगा। इन्हे यहां जगह नही देनी है।"

कुम्हार घबड़ा गया। मर्द की मर्दानगी का ऐसे ही अवसर पर पता चलता है। इधर एक अबला के बल को देखिये। उसके मुह से निकल पड़ा—कितना अन्यायी राजा है। इस 'वीतभय' नगरी में कैसा भय? ऐसे मुनि को जगह देने की मनाही की है। इस तरह के राजा को जन्म देकर माता भार क्यों मरी; कोई पत्थर जन्मती तो नीव मे काम आता। उसने निर्भय शब्दो में कहा—"इस घर मे मेरा भी अधिकार है; आप इन्हे जगह दें तो अच्छी बात है अन्यथा मैं देती हूं।" कुम्हार बोला—"राजा घर लूट लेगा।" कुम्हारिन ने कहा—"घर लूटे तो लूटे। लूटेगा भी तो भी क्या? यह मिट्टी और राख का ढेर राजा लूट ले। और ज्यादा से ज्यादा लूटे तो वह लम्बकना—गधा लेकर राजा सवारी कर ले। रही बात कोल्हू मे पील देने की। सो दुनिया मे जितने भी आए है सभी एक बार मरेंगे। कोई भी दो बार मरेगा नही, हां! कोई पहले मरेगा तो कोई पीछे, आखिर मरना जरूर है फिर भय कैसा?"

कुम्हारिन की बात सुन कुम्हार मे भी हिम्मत आई। उसने कहा,—"कोई परवाह नही, 'साल' दे दे, 'पडवा' दे दे, 'तिबारी' दे दे'। सारा घर दे दे, जहां ठीक समझेंगे रह जायेगे। राजा जो करेगा सो देखा जाएगा।"

कहने का तात्पर्य है कि सत्ता का उन्माद एक अकिंचन के सामने टिक नही सका। राजाज्ञा का डर तो परिग्रह में आसक्त लोगों को था। जिसकी परिग्रह के प्रति आसक्ति नही उसको भय किस बात का ?

आज पूजी के प्रति लोगो का ममत्व है; उससे न पूंजीपति अछूता है और न श्रमिक। जिस दिन यह ममत्व कम होगा, न पूजी की समस्या टिकेगी, न श्रम के शोपण की। उसी दिन मिलेगी विश्व को शांति की श्वास।

बीकानेर

१० मई, ५३

४९. अणुव्रत

इस संसार में अहिंसा और सत्य की तरह हिंसा और असत्य का भी अस्तित्व सदा से रहा है। मनुष्य जीवन की अपरिहार्य आवश्यकताओं के लिए हिंसा और झूठ का सहारा लेता है, यही बात नही है। वह विलासिता और स्वार्थपरता से प्रेरित होकर भी उनकी शरण स्वीकार करता है, यह चिन्ता का विषय है। हिंसा में रत व्यक्ति ही युद्ध को आमन्त्रित करता है। युद्ध किसके साथ हो ? इस संदर्भ मे भगवान् महावीर ने कहा—

'अप्पाणमेव जुज्झाहि,
किं ते जुज्झेण वज्झओ'

मानव ! यदि तू युद्ध-प्रेमी है तो खूब युद्ध कर। बहादुरी के साथ लड़ और लड़ता रह। निर्भयता के साथ मोर्चे पर डटा रह। भय खाने या पीछे हटने की कोई आवश्यकता नही। पर वह युद्ध कैसे हो ? किसी बाह्य व्यक्ति के साथ नहीं, अन्तर का युद्ध होना चाहिए। तू अपनी अन्तर-आत्मा के साथ लड़। बाहरी युद्ध से कुछ होना जाना नहीं है। यह कोई खास विजय नही है। अपनी आत्मा को जीत, आत्मविजय कर। वीरता के साथ अपनी एक-एक बुराई को मिटा दे। तू अपना रास्ता स्वयं बना, वह रास्ता होगा त्याग का, फिर चाहे वे यम कहलाए या नियम। लोग कहेंगे आपने नया क्या बताया ? यह तो पुरानी बात है। भगवान महावीर की वाणी है। मेरे पास नया है ही क्या ? वही पुरानी चीज है जिसे नया रूप दिया गया है। पुरानी चीज ठप्प न हो जाए, इसीलिये उसे एक ऐसा रूप दिया गया है जिससे वह प्रत्येक व्यक्ति के दिल और दिमाग मे आसानी से उतर सके, प्रत्येक व्यक्ति उसे नि:संकोच अपना सके। नयी चीज क्या होगी ? घोड़े के सींग तो लगाये नही जा सकते। श्री हेमचन्द्राचार्य ने कहा है—

यथास्थितं वस्तु दिशन्नधीश !
न तादृशं कौशलमाश्रितोऽस्मि
तुरंगशृङ्गान्युप - पादयद्भ्यो
नम: परेभ्यो नवपण्डितेभ्य. ॥

हे भगवान् ! जैसा तत्व था आपने वैसा बताया। इसमें नया क्या बताया ? आपने आपके अपूर्व कौशल का परिचय नही दिया। मैं उन नव पडितो को धन्यवाद देता हूं, जो घोड़े के सींग लगा देते हैं, वंध्या को पुत्र जनमा देते हैं और आकाश मे फूल लगा देते हैं।

हमारा पुराना कार्यक्रम चलता रहे, इसी मे हमे संतोष है। रास्ता भी

क्या ? धार्मिक ऋषियों, महर्षियों सबका एक ही रास्ता रहा है—अकिंचनता अर्थात् भारी न होकर हलके रहना। जिस प्रकार शरीर के भारी हो जाने पर चलना, फिरना, उठना, बैठना मुश्किल हो जाता है। ठीक इसी तरह परिग्रह के भार से सब दब जाते हैं। आज उस पुराने रास्ते को छोड़कर अश्व के सीग उगाने का काम शुरु कर दिया गया है। पूंजी हर युग की समस्या है। वह एक जगह एकत्रित होकर समस्या को बढाती है। अणुव्रत एक अनुपम रास्ते का दिग्दर्शन कराता है। वह मानव को वास्तविक सुख की ओर ले जाता है। उसके सामने यह समस्या टिकती नही। सुख की इच्छा वे पशु-पक्षी भी रखते हैं, जिनमे विवेक की कमी है, और जो अनभिज्ञ हैं। मनुष्य दिमागी प्राणी है, वह विवेकशील कहलाता है। वह सुख की इच्छा रखे तो ताज्जुब की बात नही।

नैतिक उत्थान वास्तविक सुख है। अणुव्रत नैतिकता की दिशा में विशेष जागरूक है। इसका उद्देश्य है—मानव में मानवता का अवतरण, वह मानव जो पथभ्रष्ट होता जा रहा है, उसे सही पथ पर लाना।

अणुव्रत-योजना मे छोटे-छोटे व्रत हैं। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह आदि के छोटे-छोटे नियम हैं। इन पांचो तत्त्वो को जीवन मे उतारने की आवश्यकता है। वह इसलिए है कि आज लोगों को बुरे कामों को करते सकोच का अनुभव नही होता। पहले लोगों का मानस कुछ ऐसा था कि बुरे काम के लिए उनके दिल में काफी कुछ विचार रहता। उस समय बुरे काम नही होते, ऐसी बात नही है। पर आंख की शर्म रहती। उनको बुरे कार्य करते लज्जा महसूस होती। लोक-लज्जा का वे ख्याल रखते। रामायण मे आता है—

सुमित्र नाम के एक राजा थे। उनके मित्र का नाम परभव था। परभव मित्र ही नही, राजमंत्री भी था। दोनों मे घनिष्ठता थी। दोनो एक दूसरे को जी जान से चाहते थे।

एक दिन वे शिकार को गए। संयोग ऐसा मिला कि राजा की वहा शादी हो गई। परभव मत्री की इच्छा थी कि यह शादी मेरे साथ हो। पर राजा के साथ शादी करते मंत्री के साथ कौन करे ? मन्त्री चुपचाप रहा। उसने मन की बात मन मे रखी। यदि वह राजा को इसके लिये कहता तो सम्भव था कि शादी उसके साथ हो जाती पर वह राजा से कैसे कहता !

दिन बीतते गये, मत्री के दिल मे वह आग भभकती रही। पर उसने जबान से किसी को कुछ न कहा। अन्दर की आग ने मंत्री को निगलना शुरू कर दिया। वह दिन प्रतिदिन दुबला होता गया। राजा ने भी उसकी यह हालत देखी। उसने इसका कारण पूछा—मत्री ने बात टाल दी। राजा ने अपनी सौगन्ध दिलाई। आखिर मंत्री को राजा के सामने सारी बात

स्पष्ट कह देनी पडी। राजा ने कहा—यदि वही तुम यह बात कह देते तो आज यह स्थिति क्यों बनती ? जाओ आज रानी तुम्हारे पास आ रही है।

दोस्ती, दोस्ती होती है और अधिकार, अधिकार। जहां अधिकार का प्रश्न आता है वहां प्राय: दोस्ती गौण रह जाती है। पर राजा ने यहां कोई खयाल नही रखा। उसने अपने अधिकार को गौण रखा और दोस्ती को प्रमुखता दी। वह भी जानता था कि मैंने वचन दिया है पर मन्त्री से अन्याय कभी नही हो सकेगा।

मन्त्री घर आया। उसे बडी खुशी थी। उसकी चिरपोपित कामना सफल होने जा रही थी।

राजा महल में आया और उसने रानी से सवाल किया—'क्या तुम मेरी आज्ञाकारिणी हो?' रानी नही समझ सकी कि क्या रहस्य है ? उसने कहा—'मैं आपकी आज्ञा पर मरने तक को तैयार हूं।' राजा ने मन मे विचार किया—'बाजी मार ली है।' वह बोला—'आज तुम्हे मंत्री के घर जाना पड़ेगा।'

रानी पर सौ घड़े पानी गिर गया। पैरो के नीचे की जमीन खिसक गई। चेहरे पर हवाइयां उडने लगी। पर वह यह सोचकर कि वचन दे चुकी हूं, बोली—'जो आज्ञा'।

रानी मन्त्री के घर गई। उसे जाना पडा। मन्त्री खुश था। रानी ने ज्योंही कमरे मे प्रवेश किया कि मन्त्री की अन्तरात्मा ने विद्रोह कर दिया। उसके विचार एकाएक बदल गये। 'यह रानी है। रानी माता के समान होती है। मै कैसा घृणित कार्य करने जा रहा हूं ! इसका फल मुझे इस भव में नहीं तो पर भव मे अवश्य मिलेगा। यह सोच वह बोल उठा—'मातेश्वेरी ! प्रणाम। पधारिये।' रानी अवाक् रह गई। राजा ने कैसे विचारो को लेकर भेजा था और यहां स्थिति दूसरी है। थोडी देर बाद रानी वापस लौट आई। उधर मन्त्री आत्मग्लानि मे डूब कर रह गया और आत्महत्या करने को तत्पर हुआ। पर जो घटनाए वहां घट रही थी दो आखें उन्हे बडी चुस्ती से देख रही थी। रानी आई, वह वापस गई और अब मन्त्री क्या करने को तत्पर है, यह सब दो आखें देख रही थी। मन्त्री ने छुरी निकाली और उसे पेट मे भोंकना चाहा। उसी समय दो अज्ञात हाथों ने पीछे से हाथ पकड लिये। मन्त्री का मनसूबा मन मे रह गया। वह बहुत चिल्लाया—मैं अब मुंह दिखाने लायक नही हूं, मुझे मरने दो। पर वह आत्महत्या कर सके यह अब उसके वश की बात नही रही। उसने कसमकस में पीछे मुडकर देखा—वहा राजा था। वह उनके पैरो मे गिर पडा और बोला—'मुझे मरने दीजिये।' राजा ने कहा—'नही, यदि तुमसे अनुचित कार्य होने की थोडी भी शंका होती तो रानी कभी भी यहा नही आती। तुम्हारे लिए अब भी मेरे हृदय मे वही स्थान है

जो पहले था।

कहने का तात्पर्य है कि मन्त्री गलत रास्ते पर जा रहा था पर आंख की शर्म ने उसे बचा लिया। इस तरह आँख की शर्म व्यक्ति को गिराने से बचा लेती है। आज लोगों मे आंख की शर्म कम होती जा रही है तो वे गिरते जा रहे है, चरित्रविहीन होते जा रहे है। फिर भी मजे की बात यह है कि लोग खुद न उठकर दूसरे को उठाना चाहते है। ऐसा होना संभव नही है। ऐसे समय मे ऐसे संगठन की आवश्यकता है, जो जनता की नैतिक आस्था को पुनरुज्जीवित कर सके।

बहुत से लोगों के दिमाग मे यह कुतर्क उठता है, खास तौर से उन लोगो के दिमाग मे, जो खुद उठना नही चाहते और दूसरो को उठते देख नही सकते, कि साधु-सन्तो को ऐसे सघ की स्थापना की क्या आवश्यकता है ? वे ऐसी उलझन मे क्यों पड़े ? साधु जिस रास्ते पर चलते है उस पर दूसरों को चलाएं यह उनका एक कार्यक्रम है। आप्तवाणी मे उनको 'तिन्नाणं तारयाण' कहा जाता है। साधुओं के लिए यह कोई उलझन नही। यदि यह उलझन होगी तो उनका काम ही क्या होगा ?

आज जिस गति से नैतिक पतन होता जा रहा है, उस पर काबू पाना मुश्किल होता जा रहा है। ऐसे समय मे दो विचारधाराओ से काबू पाने का प्रयास किया जा रहा है। एक विचारधारा के अनुसार समाज, राष्ट्र और देश का उत्थान आवश्यक है, दूसरी विचारधारा बतलाती है—व्यक्ति का सुधार हो, उत्थान हो, वह सत-पथ पर आये। अणुव्रत-योजना व्यक्ति का सुधार करती है। व्यक्ति सुधरेगा तो समाज, राष्ट्र और देश अपने आप सुधर जायेंगे। समाज आखिर है क्या ? व्यक्तियो का समूह ही तो समाज है। जितने व्यक्ति सुधरेंगे उनका समूह एक समाज हो जाएगा। व्यक्ति का सुधार किये बिना समाज सुधार की भावना कोरी कल्पना होगी।

अणुव्रती-सघ की स्थापना हुई पांच वर्ष की अवधि मे इसकी प्रशसा और विरोध दोनो हुए, पर हमे इसकी कोई भी परवाह नही है। विरोध के भय से घबराएं लोगो मे ऐसी संकीर्णता थी। पर आज यह सब कपूर की तरह उडती जा रही है। वास्तव मे संकीर्णता होनी नही चाहिए। अच्छी चीज कही पर भी हो उसे पाने मे कैसी हिचकिचाहट ? अच्छी चीज अपनी ही होती है, व्यक्ति-व्यक्ति की होती है। एक की नही कहलाती, सबकी कहलाती है।

जिन लोगो को अपना सुधार करना है, उनको अणुव्रत का सहारा मिल सकता है। इस दृष्टि से भी अणुव्रतो को अपनाएं, दूसरो को अपनाने की प्रेरणा दे और दिखा दें कि अणुबम के युग मे अणुव्रत का कितना स्थान है ?

बीकानेर,

११ मई, ५३

५०. अहिंसा

जीव को कम मे कम दो भागों मे विभक्त किया जा सकता है—जगम और स्थावर। इन दो भेदो से ही जीव का अस्तित्व गम्य नही होता इसलिए उसके छह भेद किये गये है—पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय और त्रसकाय। सीधे शब्दो मे चलने-फिरनेवाले जीवों के अतिरिक्त पृथ्वी, पानी, वनस्पति, वायु और अग्नि भी जीव है।

पृथ्वी, पानी आदि भी जीव है। इस बात पर बहुत लोग विश्वास नहीं किया करते थे। भला इनमे भी जीव हो सकता है क्या? यह शका उठा करती थी। २५०० वर्ष पूर्व की ऋषिवाणी पर विश्वास नही किया गया। विज्ञान का चमत्कार है कि आज उसने आप्तवचनों को अपनी कसौटी पर कस लिया है। उसने यह सिद्ध कर दिया है कि पृथ्वी आदि मे भी जीव है। ताज्जुब के साथ-साथ खेद होता है कि विज्ञान ने सिद्ध कर दिया इसलिए लोग आप्त-वाणी को सही मानते है। अन्यथा उन्हे अपने आप पर विश्वास नही होता था।

पृथ्वी आदि मे जीव है तो फिर इनकी हिंसा मे कैसे बचा जा सकता है? हिंसा से बचना सभव नही, इसके बिना काम नही चलता इसलिए हिंसा को हिंसा न मानें, यह नहीं हो सकता। किसी भी हालत मे हिंसा, हिंसा ही रहेगी, वह अहिंसा नही हो सकती। उसे अहिंसा नही कहा जा सकता। चाहे वह कितनी ही अनिवार्य कोटि की क्यों न हो। अनिवार्य कोटि की हिंसा को अहिंसा मान लेने का मतलब होगा अपनी आवश्यकताओ की पूर्ति धर्म है फिर वह चाहे जो कुछ हो। अपनी-अपनी आवश्यकताएं धर्म होगी तो आमिषभोजी मांस खाना अपना धर्म मानेगा। निरामिषभोजी शाकाहार को धर्म मानेगा, मद्यपायी मदिरा पीना धर्म मानेगा। सबका अपना-अपना अलग धर्म होगा। इस तरह हिंसा को अहिंसा समझने का मतलब होगा अफीम को गुड़ समझकर खाना। नशेबाज का अफीम के बिना काम नही चलता; वह अफीम खाता है, पर उसे अफीम समझता है, गुड़ नही समझता। गुड समझकर खाने लगेगा उस दिन हालत कुछ और ही होगी। इसी तरह हिंसा को अहिंसा और अहिंसा को हिंसा समझना भी दिमाग का दिवालियापन होगा। लोग हिंसा को मिश्र धर्म भी मानने लगे है। इस तरह वह धर्म का एक विकृत रूप बन जाता है। हिंसा और अहिसा को मिलाना ठीक वैसा ही होगा जैसा घी और तम्बाकू को मिला देने से होता है। घी और तम्बाकू का मिश्रित रूप किसी काम का नही रहता। न वह तम्बाकू का काम दे सकता है और न घी का

ही। धर्म और अधर्म के मिश्रण से भी यही स्थिति बनेगी। इसलिए हिंसा को हिंसा मानना पड़ेगा। फिर वह जीवन में कितनी ही जरूरी क्यों न हो? चाहे उससे बच सकना नामुमकिन हो। हिंसा के कई रूप होते हैं—एक हिंसा वह होती है जो जीवन के लिए आवश्यक है, जिसके बिना गृहस्थ का जीवन नही चल सकता। दूसरी हिंसा आत्म-रक्षा के लिए करनी पडती है। यदि इस दो प्रकार की हिंसा से न भी बचा जा सके तो कम से कम निरर्थक हिंसा से तो बचा जाए। किसी निरपराध के प्राणों का संकल्पपूर्वक वियोजन न किया जाए।

साधु किसी प्रकार की हिंसा नही कर सकता। वह हिंसा से पूर्णरूपेण बचता है। मनुस्मृति मे बताया गया है—घर में हिंसा के पांच स्थान हैं—चुल्हा, चक्की, ऊंखली, बुहारी और पानी का पलींदा। साधु गृहत्यागी होता है। फिर ये चुल्हे, चक्की उसके हों भी कैसे? वह तो विधि के अनुसार कुछ मिलता है तो ले लेता है। गृहस्थ के लिए वैसा कर सकना सम्भव न हो तो वह उपयोग रखे, निरर्थक हिंसा से तो अवश्य बचे।

बीकानेर,
२४ मई, ५३

५१. मानवता एवं धर्म

सबसे पहले यह जानना ठीक रहेगा कि मानव कौन है ? किस जन्तु को मानव कहते हैं तथा उसके लक्षण क्या हैं ? आप्तपुरुषों ने कहा है—वह प्राणी मानव है जो सत्य-कर्म है—जिसकी कहनी और करनी सत्य है—समान है। वह प्राणी, जो जैसा कहता है वैसा ही करता है, मानव कहलाता है। करना कुछ और कहना कुछ, यह मानवता का लक्षण नहीं है। कहनी और करनी को सत्य, सही और समान बनाने के लिए धर्म का अवलम्बन जरूरी है। लोगों के दिमाग यह बात सुन बौखला उठेंगे। उनकी धारणा है कि धर्म ने ही तो उनको कायर बनाया है। धर्म ही के कारण तो उनका पतन हो रहा है। पर उनका यह कहना निरी भूल है। धर्म कभी गिराता नहीं है। वह तो गिरते को उठाता है। अधर्मी का उद्धार करता है। पतित को पावन बनाता है। यदि आपको ऐसा विश्वास नहीं है तो मुझे कहना पड़ेगा आपने धर्म को नहीं समझा। आप धर्म के तत्त्वों तक नहीं पहुंच पाये। कहीं बीच ही में उलझ गये जिससे आपकी आखों पर पीला चश्मा लग गया। संसार की सभी चीजें पीली दीखने लगीं। धर्म कभी किसी को कायर नहीं बनाता, किसी को पतन के रास्ते पर नहीं ले जाता। उसके सहारे व्यक्ति उठता है, वीर बनता है।

जहां एक ओर धर्म को पतन का कारण माना गया है वहां कुछ लोग यह भी कहते हैं—"हम उच्च हैं, पवित्र हैं, हमें ही धर्म करने का अधिकार है। अस्पृश्य तथा नीच आदमियों को धर्म करने का कोई अधिकार नहीं। स्त्रियां तो धर्म कर ही नहीं सकतीं।" जितने दिमाग, उतने विचार हैं। आदमी बाहर का काम करते हैं तो स्त्रियां घर का काम करती हैं। कार्यक्षेत्र में बंटवारा हो सकता है, पर उन्हें धर्म का अधिकार नहीं है—यह कहना ठीक नहीं। धर्म करने का अधिकार सबको है। इसमें कोई किसी को बाधा नहीं पहुंचा सकता। धर्म करने की दिशा में सभी स्वतंत्र हैं। कोई हरिजन भगवान का स्मरण करता है तो उसे कौन मना कर सकता है ? एक अछूत कहलाने वाला व्यक्ति भी अपना चरित्र उठाता है उसे कौन रोक सकता है? मैं तो स्पष्ट कहता हूं—उच्च या नीच जाति से होते ही नहीं; वे होते हैं चरित्र से, आचरण से। जिसका चरित्र उन्नत है, आचरण शुद्ध है, वह नीची जाति का होते हुए भी उच्च है। कोई उच्च कुल में पैदा होकर भी चरित्रभ्रष्ट है तो वह नीच है। महाजन या ब्राह्मण का इसमें कोई लिहाज नहीं रह सकता। धर्मक्षेत्र में यह जातीय विभेद नहीं टिक सकता। धर्म आसमान की तरह व्यापक है। क्षेत्र

की सीमा मे नहीं बांधा जा सकता है। सभी वर्ग के व्यक्तियों का है, सबको धर्म करने का अधिकार है। पर धर्म का स्वरूप क्या है? धर्म किसे कहते है? किस धर्म को मानना चाहिए? वैदिक, बौद्ध, जैन, इसाई आदि आदि मे से किसको माना जाए? लोग कहेगे हम सनातनी लोग बुद्ध को क्यो माने? हम जैनो के पास क्यो जायें? वे कहते हैं—कुएं मत बनाओ, प्याऊ मत लगाओ, पानी मत पिलाओ, जैन मूर्त्ति को मत पूजो, इत्यादि। इस प्रकार की मनगढत बाते करने वाले स्वय भ्रान्त रहते है तथा औरों को भ्रान्त करते है। मैं इसके बारे में स्पष्ट कर दू। यदि कोई साधु यह कहता है कि कुएं मत बनाओ, प्याऊ मत लगाओ आदि तो आप समझ लीजिये कि वह साधु नही है। साधु है तो वह कभी मनाही करेगा नही। क्या हम जानते नही कि जो अन्न खाते हे वे पानी भी पीयेंगे। उन्हे पानी पिलाना पड़ेगा। फिर मना करना क्या अर्थ रखता है? और मना करने से मानेगा कौन? पर यदि आप यह चाहते हैं कि लाखों का ब्लैक किया, शोषण किया, अब एक कुआ बना दे, धर्मशाला बना दे और उस पाप से छुटकारा पा जाये तो यह होने का नही। आत्म-शुद्धि इस तरह नही होती। आत्मशुद्धि होगी आत्मा को तपाने से। ये तो अपनी-अपनी व्यवस्थाए हैं। सब करते है। रही मूर्त्ति-पूजा की बात। मै यह स्पष्ट फिर कह दू कि मेरा किसी पर व्यक्तिगत आक्षेप नही रहता, जिससे किसी व्यक्ति को दुःख हो। पर मुझे अपनी बात को स्पष्ट करना पड़ता है। कोई व्यक्ति मुझसे आकर पूछे—'मूर्ति-पूजा के बारे मे आपके क्या विचार है।' मैं स्पष्ट कहता हू—'मैं मूर्त्ति-पूजा का समर्थन नहीं करता। मैं भगवान् की उपासना का समर्थक हू, उनकी उपासना की जाए। उपासना हृदय से होती है।' आप यदि इसे आक्षेप मानते हैं तो मानें। मैं किसी को प्रसन्न करने के लिए मूर्त्ति-पूजा का समर्थन नही कर सकता। आप यदि मूर्त्ति-पूजा मे धर्म समझते है तो समझें। मैं तो स्पष्ट कहता हूं, मन्दिर मे जाने मात्र से या हमारे पास आने मात्र से धर्म नही हो सकेगा। धर्म आत्मा की वस्तु है, वह आत्मा से होगा। कोई मूर्त्ति-पूजा करें या न करे यह उनकी इच्छा पर निर्भर है। पर अपनी मान्यता को बताने का मतलब आक्षेप समझ लेना भारी भूल है। मैंने जो कुछ कहा तथा पुराने ऋषि-महर्षियो ने क्या कहा है, उस पर ध्यान दें। किसी के बहकावे मे आकर अपना चिन्तन रूढ न बनाएं। कितना सुन्दर कहा गया है—

तू तो सर्व सुहागन सुरता नार,
मन्दिर मे काई ढूढती फिरे।
थारे हिरदे बसे रे भगवान,
मन्दिर मे काई [illegible]ती फिरे॥

गगन मण्डल स्यू गङ्गा उतरी।
पांचूं कपड़ा धोले॥
शील शिला पर दे फटकारो।
काया मू निर्मल क्यू नां होले
मन्दिर में कांई ढूंढती फिरे॥

किस कवि की है ये पंक्तियां, कहने की कोई आवश्यकता नहीं है। कबीरजी एक प्रसिद्ध सन्त कवि हो चुके हैं। वे अपने एक अन्य भजन मे आगे कहते हैं—

पानी मे मीन पियासी
मोहे सुन सुन आवे हासी।
आतम ज्ञान विना नर भटकै,
कोई मथुरा कोई काशी॥
किस्तुरी मृग-नाभी मांही,
वन वन फिरत उदासी।
पानी में मीन पियासी॥

जैन या सनातन आदि के झंझट मे न पड़कर व्यक्ति धर्म के मर्म को पहचाने धर्म क्या है? सत्य और अहिंसा धर्म है। अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य धर्म है। चोरी करना धर्म नहीं है। सन्तोष और संयम धर्म है। क्षमा और धैर्य धर्म है। क्रोध धर्म नहीं है। आप किसी भी धर्म को देखें, धर्म का यही स्वरूप मिलेगा। जैन आगमो को देखिए, भागवत महाभारत आदि को देखिए, कोई भी धर्म इसके अतिरिक्त दूसरा धर्म बताता है क्या? इसको अपनाने से बुराइयां दूर होगी। जीवन उन्नत होगा। जीवन की बुराइयों को खत्म करने के लिए हमने अणुव्रत की योजना बनाई है। उसमे मुख्यत: पांच नियम हैं:— सत्य, अहिंसा, अपरिग्रह, ब्रह्मचर्य और अचौर्य। आप उन्हे पढ़ें, मनन करे और अपनायें।

बीकानेर,
१५ मई, ५३

५२. तीर्थंकर ऋषभ

आज अक्षय तृतीया है। इसे इक्षुतीज भी कहते हैं। अन्य पर्वों की तरह इसका भी अपना महत्त्व है। प्रत्येक पर्व अपने पीछे एक इतिहास रखता है। इक्षुतीज का भी अपना इतिहास है। यह कैसे चला ? इसके लिए लोगों के अलग-अलग अपने मत है। जैनमत के अनुसार इस दिन आदि तीर्थंकर श्री ऋषभदेव भगवान् या सीधे-सादे शब्दों मे बाबा आदिम ने इक्षुरस मे पारणा किया। इसी की स्मृति मे इसे इक्षुतीज की संज्ञा मिली। आदिम बाबा कौन थे ? उन्होने कैसे पारणा किया ? उन्होंने अपने जीवन मे क्या-क्या काम किये ? इसे बताने से पूर्व उस समय से पहले की दुनिया का एक चित्र सामने रखना ठीक रहेगा।

वह ऐसा समय था जब ससार मे शान्ति थी। चिन्ता और व्यथा का कही नाम नही था। लोग आराम से रहते थे। चोरी और डकैती से उनका परिचय नही था। क्यो ? क्योकि कोई भूखा नही था। किसी को कमाना नही पड़ता था। जिसकी जैसी इच्छा होती। वैसा मिल जाता। कल्पतरु इच्छा पूरी कर देते। संग्रह की होड़ नही थी। हो भी क्यो, सबको आवश्यकता के अनुसार मिल जाता था। परिवार भी छोटा होता था; पूरे जीवन में केवल एक जोड़ा पैदा होता था। प्रारभ में वह भाई-बहिन के रूप मे रहता और आगे चलकर दम्पति में परिणत हो जाता। वह यौगलिक युग था। उस समय के मनुष्य यौगलिक कहलाते थे।

धीरे-धीरे समय बीतता गया। युगलियों की पुण्याई हीन होती गई। बिना पुण्यवानी के कुछ मिलता नही। सोना भी मिट्टी हो जाता है। इस वसुन्धरा मे पग-पग पर निधान है पर 'कर्म हीन नर पावत नाही।' कल्पतरु भी युगलियो की पुण्यवानी थी तब तक इच्छापूर्त्ति करते थे। अब वे हाथ खींचने लगे। उन्होंने यह काम एक साथ नही धीरे-धीरे किया। लोग भूखो मरने लगे। उन्हे यह पता नही कि अब भोजन कैसे मिलेगा। खेती करना और रोटी पकाना तो वे जानते ही नही थे। उन्हे तो सीधा ही मिला करता था। लोग चोरियां भी करने लगे। अब व्यवस्था का भार कुलकरों को दिया गया। इस तरह सात कुलकर हुए। उन्होंने हाकार, माकार और धिक्कार की नीतिया अपनाईं। चोरी करनेवाले को पहले वे कहते 'हा'। चोर समझते—चोरी करने से मरना अच्छा है। इस नीति को लोग लाघ गये तब दूसरी नीति 'मा' —चोरी मत करो, इसे लागू किया गया लोग इसको भी लांघ गये। फिर फटकारने धिक्कारने की नीति अपनाई गई। लोग इसको भी लाघ गये। इस

तरह कुलकरों की नीतियां काम न कर सकी। अन्तिम कुलकर नाभि राजा हुए। उन्होंने सोचा इस तरह यह काम चलने का नही। वे शिकायत करनेवालों को अपने पुत्र ऋषभदेव के पास भेज देते। वे उन्हें वड़ी सरलता से निपटा देते। लोगों पर उनका अच्छा प्रभाव पड़ा। वे उनके कहे अनुसार चलते।

एक दिन लोगों ने आकर कहा—वावा! भूखे मरते हैं। ऋषभदेव ने खेती की विधि वताई। 'खला' करने की विधि वताते हुए कहा—वीच मे एक लक्कड़ रोप दो, चारों ओर सिट्टे रहेगे, ऊपर वैल चलेंगे जिससे अन्न निकल जाएगा। लोगों ने वैसा ही किया। खला काढ़ते समय अन्न को वैल खाने लगे। लोगों ने आकर सारी वात कही। उनके मुंह पर छीकी लगा देने की सलाह मिली। छींकी लगा दी गई। खलिहान से अन्न निकालकर उसे घर ले आये। वैलों के सामने भी चारा-पानी रखा पर मुंह की छींकी नही खोली। उन्हे क्या पता छीकी खोले विना ये कुछ खायेंगे नहीं। वे भागे-भागे वावा के पास आये और वोले—वावा! वैल चारा नहीं खाते। उन्होने कहा—छीकी खोली या नही? लोगों ने कहा—नही। वावा ने कहा—'मुह को वांधकर रखने से वे चारा-पानी कैसे ले सकेंगे? जाओ, छीकी खोलो।' किसानो ने छीकी खोल दी। वैलो ने वारह घण्टे वाद कुछ खाया-पिया। इस अंतराय के भागी आदिम वावा वने।

वावा ने कार्य को तीन भागो मे वांटा—असि, मसि और कृषि। कृषि—खेती, मसि—व्यापार, असि—सुरक्षा। उन्होंने इस प्रकार सारी सामाजिक व्यवस्थाएं कर दी। सांसारिक काम लोगों को सिखलाए। लोग उनकी प्रत्येक सूझ का आदर करते। उनको सम्मान की दृष्टि से देखते।

ऋषभदेव ने सोचा—'मैंने सांसारिक कार्य तो वहुत कुछ कर दिया है अव अध्यात्म साधना करनी चाहिए।' उन्होंने राजकाज भरत को सौंपा। जमीन-जायदाद वांटी। पर दो पालित पुत्रो को ननिहाल चले जाने के कारण कुछ न दे सके।

राज्य की सारी व्यवस्था करने के वाद वे साधु वनने को तैयार हुए। लोगो पर उनका प्रभाव था। उन्होंने सोचा—'जैसा ये करेंगे वैसा ही हम करेगें। इसी मे हमारा हित है।' जव वे साधु वने तो चार हजार राजा और राजकुमार अपने राज्य वैभव को छोड़कर साधु वन गए। उन्होंने साधु वनते ही मौन धारण कर लिया। ४००० शिष्यों के लिए मुश्किल हो गई। वे न वोलते, न कोई निर्देश देते और न कोई व्यवस्था करते। इस तरह मौनावस्था में दिन वीतने लगे। गोचरी जाते पर लोगो को आहार देना ही नही आता था। वे आहार के लिये पूछते भी नही थे। विशेष वात यह थी कि उन्होने आज

तक किसी को भिक्षा दी भी नही थी। कहा जाता है कि ऋषभ के निर्देश से बारह घंटे तक बैलों को भूखा रहना पड़ा। वह बारह घंटे की अन्तराय बारह महीने में बदल गई। इस तथ्य में सचाई कितनी है, कहना कठिन है। पर यह बात किंवदन्ती के रूप में चली आ रही है। शिष्य इस स्थिति से परिचित नही थे। उन्होने सोचा—"भूखे भजन न होहि गोपाला, ले लो अपनी कण्ठी माला।' इस चिन्तन के साथ अधिकांश शिष्य चलते बने।

इसी अवधि में भगवान् के वे दो पुत्र जिनको ननिहाल मे होने के कारण राज्य नही दिया जा सका था, भरतजी के पास आये और राज्य के लिये कहने लगे। उन्होने बताया—"पिताजी दीक्षा ले चुके हैं, मैं तुम्हें इतना राज्य देता हूं।" उन्होंने कहा—"नही लेना है आपसे राज। लेंगे तो पिताजी से लेंगे।" भरतजी ने कहा—"वे साधु बन गये हैं।" उन्होने कहा—"इससे क्या ?" वे भगवान् के पास आये और राज्य मांगा। पर उन्होनें ध्यान तक नही दिया। वे भगवान् के साथ रहते और सुबह-सुबह राज मांगते। इन्द्र ने यह सब देखा। उसने प्रच्छन्न रूप में घोषणा की 'जाओ, मैं तुम्हें वैताढ्य का राज्य देता हूं।' वे चले गये और वही राज्य करने लगे। राज्य भगवान् ने नही, इन्द्र ने दिया। पर नाम उनका हुआ।

भगवान् गांव-नगर जाते, घर-घर घूमते। पर बोलते नही, मौन रहते, आहार नही मांगते। बिना मांगे कोई देना जानता नही। वे जिस किसी के घर जाते, लोग उनका स्वागत करते। कोई सवारी के लिये हाथी, घोड़े, रथ, पालकी, बैलगाड़ी आदि लाते तो कोई हीरा, माणक, मोती, सोनैया आदि लाते, पर भगवान् उधर ध्यान तक नहीं देते। आखिर इस तरह दिन बीतते हुए बारह महीने की अवधि समाप्त होने को आई। ऋषभ हस्तिनापुर पधारे जहां उनका प्रपौत्र राज्य करता था। उसे रात में स्वप्न आया—"मैंने अमृत से मेरू सींचा है।" पुराने जमाने में लोगों को स्वप्न बहुत कम आते और आते वे प्रायः मिल जाते। सुबह उसने भगवान् को राजमहल की ओर आते देखा। उसने सोचा - यह कौन आ रहे हैं। सोचते-सोचते उसे जाति-स्मरण-ज्ञान हो गया। ज्ञान के आलोक में उसने अपना पिछला भव देखा। ऋषभ के साथ रहे मैत्री सम्बन्ध को जाना और साधुचर्या का बोध प्राप्त किया। उसने जान लिया कि भगवान् ऋषभ भोजन के लिए घूम रहे हैं। वह प्रसन्नता मे भर गया। उसने ऋषभ को राजप्रासाद में पधारने का अनुरोध किया। ऋषभ आए। वहां भोजन तैयार नहीं था। श्रेयांस भिक्षा के लिए उपयुक्त पदार्थ खोजने लगा। पास में इक्षु रस के घड़े पड़े थे। उसने कहा, "महाराज ! इक्षु रस है।" भगवान् ने अंजलि होठों के लगा दी और इक्षु रस से १२ महीने की तपस्या का पारणा किया। वहां से प्रस्थान कर वे ग्राम-नगर विहार करते रहे।

भगवान् की माता मरुदेवा अब भी जीवित थी। उसने भरत को बुलाकर कहा—"भरत ! तू समझता नही, कहां है तेरा पिता, क्या कभी तूने खबर की ? तू करे भी क्यों, राजगद्दी पर जो बैठा रहता है। तुझे क्या लेना है अब पिता से ? पता नहीं उन्हे कैसे भोजन मिलता होगा।"

भरत ने कहा—"दादीजी ! गलती हुई। आप मेरी नादानी पर ध्यान न दें। मैं अभी देखता हूं।" वे नीचे आये। उन्हें तीन बधाइयां मिली—पौत्र-प्राप्ति, आयुधशाला मे चक्ररत्न की उत्पत्ति और भगवान् को केवल-ज्ञान-प्राप्ति। भरत ने पहले केवल-ज्ञान-प्राप्ति का महोत्सव मनाया। मरुदेवा को सारी बातें कही। सारा परिवार दर्शनार्थ आया। भगवान् समवसरण के बीच विराजे थे। बगीचा खचाखच भरा था। बैठने की जगह ही नही थी। मरुदेवा हाथी पर बैठी रही। उसके मन में विचारो का ज्वार आया—'वाह रे ऋषभ ! तू मुझे भूल ही गया। कितने अर्से से आज तेरा मुह देखा है और तू आंख उठाकर देखता ही नहीं। इतना निर्मोह कैसे हो गया। कुछ तो मां का भी उपकार होता होगा। तू उसे भी भूल गया।' कुछ देर बाद चिंतन की धारा मुडी—"अरे ! मैं गलती कर रही हूं। यह साधु है, निर्मोह है। इसके लिये संसार की सभी महिलाएं माता और बहिनो के समान हैं। इसके सामने न कोई ऊंचा है, न नीचा है। इसका किसी के प्रति न राग है, न द्वेष है। मैं भी उस दिन धन्य बनूंगी जब वीतराग होऊंगी।" विचार विशुद्ध होते गये और इतने विशुद्ध हुए कि जनम-जनम के बंधे कर्म कच्चे धागे की तरह टूट गये। उन्हें केवलज्ञान की उपलब्धि हुई। इसके तत्काल बाद भवोपग्राही कर्म टूटे। शरीर से सम्बन्ध छूटा और वे मुक्त हो गईं। भगवान् ने प्रवचन के बीच में कहा—"माता मरुदेवा सिद्धा।" भरत ने सुना। उन्हे आश्चर्य हुआ। अभी-अभी तो वे दादीजी को हाथी पर बैठे छोड़ कर गए थे। वे वापस आये। देखा तो वहां मरुदेवा का मृत कलेवर पड़ा था। भगवान ऋषभ भी इसी तरह साधना के द्वारा कर्मों का क्षय कर परमात्मपद को पा गए।

बीकानेर,
१६, मई ५३

५३. जहां माताएं संस्कारी होती हैं

आज महिला सम्मेलन मे मुझे महिलाओं की शिक्षा के सन्दर्भ में ही विशेप रूप से कहना है। यो तो शिक्षा स्कूलों और कॉलेजों आदि में भी दी जाती है पर वह केवल जीविका चलाने तक ही सीमित रहती है। आध्यात्मिक शिक्षा जीवनप्रद होती है। वह जीवन को उन्नत बनाती है, जीवन में आई बुराइयों पर प्रहार करती है और उन्हें मिटाने में निमित्त वनती है।

वहनें सर्वप्रथम इस वात पर ध्यान दें कि उनसे कोई अनुचित कार्य तो नहीं होता है। कहीं निरर्थक हिंसा तो नही होती है। हिंसा का मतलब कीड़ों-मकोड़ों को मारने या पशु पक्षियों, मनुष्यों को मारने से ही नहीं है। मन में किसी के प्रति कलुषित भावना का होना भी हिंसा है। आप अपने आपको देखें—आप के मन मे किसी के प्रति द्वेप या वैर तो नही है? ननद, जेठानी आदि के बच्चों के साथ दुर्व्यवहार तो नहीं करती? सास आदि से लड़ती-झगड़ती तो नही हैं?

दूसरी वात, आप अपने दृष्टिकोण को सम्यक् वनाएं। स्त्रियों मे अपने आपको सुन्दर प्रदर्शित करने की होड़ रहती है। और इसलिए सौन्दर्य प्रसाधनो का उपयोग करने में वे अहमहमिकया आगे रहती हैं। सोचें। स्त्रियों का असली आभूषण तो शील ही है। शील सुरक्षा ही सौन्दर्य की सुरक्षा है। वे शील सुरंगी रहें। ऊपरी आडम्बर और वेश-भूषा की सजावट में न पड़ें। वाहरी सौन्दर्य, वाहरी सौन्दर्य होता है उसे वास्तविक नही मान लेना चाहिये। वास्तविक तो जो है वही है और वह है शील-शृङ्गार।

वहनें कुछ शिक्षा प्राप्त करें। शिक्षा से मेरा केवल अक्षर-ज्ञान सीखने की ओर इशारा नही है। शिक्षा से मेरा मतलव है आध्यात्मिक शिक्षा से। वे आध्यात्मिक जानकारी प्राप्त करें। अपने जीवन मे ज्यादा से ज्यादा आध्यात्मिकता उतारें। इससे उन्हे एक वड़ा लाभ होगा। उनका जीवन तो सुधरेगा ही साथ ही साथ सन्तान पर भी इसका एक अच्छा प्रभाव पड़ेगा। सन्तान सुसंस्कारी वनेगी। माता सन्तान को इच्छानुसार वना सकती है। संतान जितना माता से सीखती है उतना और किसी से शायद ही सीखती हो और कम से कम १२-१३ वर्ष तो वह माता के अनुशासन में ही रहती है। इस अवधि मे माता के गुण व अवगुणों की एक गहरी छाप सन्तान पर लग जाती है। वहनो! वच्चों को सुसंस्कारी वनाना आप पर ही निर्भर करता है। वच्चों को ही नहो, आप अपने पति तक को सही

रास्ते पर ला सकती हैं यदि वे गलत रास्ते पर जा रहे हो।

एक बात मुझे और कहनी है, वह यह कि अश्लील साहित्य को आप कभी न पढ़ें। यह जीवन को पतन की ओर ले जानेवाला है। अक्सर ऐसा होता है दो सखियां जहां मिलती हैं—अश्लील बातें करती हैं। उनके दिल की बातें वहां खुलती है। पर, बहनो! यह उचित नहीं। जहां भी मिलो आत्म-निर्माण की बात सोचो। नैतिक-उत्थान के बारे मे विचारो।

अन्त मे मैं यही कहना चाहूंगा कि त्याग-तपस्या के द्वारा आप आत्मा का मैल धो डालो। जीवन की बुराइयों को मिटाओ। अच्छाइयों को प्रश्रय दो। अपनी संतान को सुसंस्कारी बनाओ। अपने सम्पर्क में आनेवालो को सही मार्ग पर आने की प्रेरणा दो। उनमे धर्म के प्रति रुचि पैदा करो और अपने जीवन को सफल बनाओ।

बीकानेर,
१६ मई '५३

५४. रात्रि-भोजन-परित्याग : एक तप

भोजन मनुष्य की एक मौलिक मनोवृत्ति है। उसके विना उसका काम नहीं चलता। पर क्या कभी भोजन से भूख मिटी है? वर्ष में ३६० दिन भोजन करनेवाला व्यक्ति एक दिन भोजन न करे तो उसकी क्या हालत होने लगती है। यही नही उपवास करना हो तो वह रात्रि के बारह बजे तक भोजन करता है। सोचता है, शायद कल उपवास के दिन भूख न लगे पर वह कब चूकनेवाली है? बिना बुलाये ही आ धमकती है।

रात्रि-भोजन का निषेध, क्या जैन और क्या जैनेतर सभी धर्म करते हैं। रात्रि-भोजन अधा भोजन है। एक समय था जब जैन कहलाने वाले रात्रि में कभी भी भोजन नही किया करते थे। विवाह-शादी, बारात में जहा जैन जाते उन्हे सूर्यास्त से पहले भोजन कराया जाता। समय बीता, युग ने करवट ली। नई सभ्यता की धूम मची। जैनों ने देखा—सब रात्रि को भोजन करते है फिर हम ही अछूते क्यो रहें? इस तरह महीने में तीस दिन रात्रि-भोजन का त्याग रखनेवाले जैनी मात्र पाच तिथियों—द्वितीया, पंचमी, अष्टमी, एकादशी और चतुर्दशी को रात्रि-भोजन का त्याग रखने लगे। फिर धीरे-धीरे केवल अष्टमी और चतुर्दशी का ही रखने लगे। आज शिथिलता यहां तक आ गई कि व्यक्ति किसी भी तिथि के त्याग नही करता। सब तिथि उसके लिए समान है। जैसी त्रयोदशी वैसी चतुर्दशी। आज उपवास की बात कहने पर लोग सिर धुनने लगते हैं। हां, व्रत अवश्य करते हैं पर कौनसा व्रत! ऐसा व्रत जिसमें भोजन नही किया जाता पर खाने की सब चीजें खा ली जाती है और पूरा पेट भर लिया जाता है।

गिरी ने छुहारा खाय, किसमिस ने बादाम खाय,
सेव ने सिघाड़ा खाय, सांठे की सवादी है।
गूंदपाक खीर-खाण्ड, बरफी-अक्कबरी,
कलाकद खूब खाय, लौटे पड्यो गादी है।
आम-खरबूजा खाय, काकडी-मतीरा खाय,
मूली-बेर-सोगरी स्यूं, खूब प्रीत साधी है।
नाम तो अल्प आहार, कियो भरपूर भार,
कहने की एकादशी, पर द्वादशी की दादी है॥

जो लोग ऐसा व्रत करते है उन्हे क्या पता चले कि उपवास में कितनी तकलीफ होती है। ऐसी एकादशी को तो लोग रोजाना करना भी पसन्द करेंगे।

पर इससे क्या व्रत की भावना पूरी हो जाती है ? कदापि नही। एक पेट भरता है तो सारी इद्रियो को भूख लग जाती है। कान चाहने लगते हैं अच्छी-अच्छी रागिनियां सुनना, आखे रूप चाहने लगती हैं, नाक खुशबू चाहती है। लेकिन यदि एक दिन भी उपवास रखकर देखा जाय तो इन सभी की भूख मिट जाती है। कान सुनना नही चाहेंगे, मुह वोलना नही चाहेगा। सवको शान्ति मिलेगी।

भव-भ्रमण से छुटकारा पाने के लिए तपस्या की आवश्यकता है। विना तपस्या कर्म कटते नही, आत्मा उज्ज्वल होती नही। तप और सवर ये दो चीजें है। तपस्या से कर्म कटते हैं और सवर नये कर्म नही लगने देता। वह आश्रव का निरोधक है। आश्रव ऐसे द्वार है जिनसे आत्मा के कर्म लगते हैं। एक तरह से आश्रव कूड़ा-करकट आने के मार्ग हैं तो संवर वंद किये हुए दरवाजे है जो उसे भीतर आने से रोकते है। निर्जरा भीतर आकर कूड़ा-करकट को समाप्त करती है।

नवनीत जैसे दही मे रमा रहता है, आत्मा भी इसी तरह शरीर में रमी रहती है। शरीर मे रहने तक उसका अलग अस्तित्व नही होता। पर जव दही को विलोया जाता है, नवनीत अलग हो जाता है और छाछ अलग हो जाती है। इसी तरह तपस्या से आत्मा अपना शुद्ध स्वरूप पाकर हमेशा के लिए मुक्त हो जाती है।

गन्दे पात्रो को माजने के लिए राख आदि काम मे लिये जाते हैं इसी तरह आत्मा का मैल धोने के लिये तपस्या राख का काम देती है।

शरीर स्थित आत्मा, मिट्टी मे मिले सोने की तरह है। खान से मिट्टी मे मिला सोना निकालकर आग मे तपाया जाता है। तपाने से मिट्टी अलग हो जाती है। सोना विशुद्ध वन जाता है। इसी तरह आत्मा को तपा कर उसे विशुद्ध वनाने का काम तपस्या करती है।

यह स्पष्ट है कि तपस्या आत्मशुद्धि के लिए अत्यावश्यक है। विना तपस्या के आत्मा की शुद्धि नही होती। तपस्या की जानी चाहिए। पर भूखा कैसे रहा जाय ? उपवास कैसे हो जव एकाशन भी होना मुश्किल है ? फिर वेला, तेला, चोला आदि की तो वात ही क्या ? मैं आपको एक सीधा रास्ता वताता हूं। उस रास्ते पर चलेंगे तो वर्ष मे छः महीने की तपस्या आसानी से हो जाएगी। रात और दिन दो होते है। यदि रात को भोजन न किया जाए तो ६ महीने की तपस्या सहज हो जायेगी, विना उपवास किये भी वड़ा लाभ होगा। लेकिन त्याग पूरा होना चाहिए। रात्रि-भोजन-त्याग का मतलव यह नही है कि थाली पर वैठकर न खाना। इसका मतलव है रात मे कुछ न खाना। रात्रि-भोजन का मतलव यह भी नहीं है कि ८.९ वजे के वाद न

खाना। पर इसका अर्थ है सूर्यास्त से सूर्योदय तक नहीं खाना। यदि थोड़ा भी उपयोग रखा जाएगा तो आसानी से ६ महीने की तपस्या हो जाएगी।

बीकानेर,
१६ मई, ५२

५५. जैनदर्शन के मौलिक सिद्धांत

विश्व-दर्शनो में जैन-दर्शन का बहुत बड़ा स्थान है। यह दर्शन गागर में सागर की कहावत को चरितार्थ करता है। जैन-दर्शन का एक सिद्धांत है मैत्री।

दूसरे शब्दों मे इसे अहिंसा कहा जाता है। "मित्ती मे सव्वभूएसु, वेरं मज्झ न केणइ।" संसार के सब जीवों के प्रति मैत्रीभाव रखना उनको आत्म-तुल्य समझना, किसी के प्रति वैर-भाव न रखना—यह अहिंसा है। जैन-दर्शन के अनुसार आत्मा दुःख-सुख का कर्त्ता है। वह जैसा करता है वैसा भोगना पड़ता है। आत्मा कर्म करे और गाली ईश्वर को दे यह उचित नही।

लोग कहते है जैन-धर्म अव्यावहारिक है। यह अहिंसा, सत्य आदि का पूर्ण रूप से पालन करने की बात कहता है जबकि यह संभव नहीं है फिर इसे व्यावहारिक कैसे कहा जाए? पर बात ऐसी नही है। जैन-धर्म में दो रास्ते हैं—एक महाव्रतों का, दूसरा अणुव्रतों का। एक अनगार—साधु का, दूसरा अगार—गृहस्थ का। एक पूर्णता से पालन की बात कहता है, दूसरा यथाशक्ति व्रतों के स्वीकार की बात कहता है। साधु महाव्रतों का पूर्ण रूप से पालन करते हैं गृहस्थ अणुव्रती बनता है। जैन-दर्शन हर व्यक्ति के सत्कर्म का अनुमोदन करता है फिर वह जैन जैनेतर कोई भी हो।

जैनदर्शन संसार को अनादि, अनन्त मानता है। इसका कर्त्ता कोई ईश्वर नही है।

जैन-दर्शन मे पुरुषार्थी बनने की प्रेरणा मिलती है। आत्मा का दमन करने वाला इहलोक और परलोक दोनो मे सुखी रहता है।

महावीर ने कहा—आत्मा अनन्त शक्ति सम्पन्न होती है। नौ तत्त्व, छः द्रव्य को समझकर सम्यक्त्व प्राप्त कर विकास करती हुई आत्मा परमात्मा बन जाती है।

जैनो का वाद समन्वयवाद है, अनेकान्तवाद है। इसका सहारा लेकर मिथ्या आग्रह अथवा दुराग्रह को मिटाया जा सकता है।

गंगाशहर,
१७ मई '५३

५६. महिलाओं में धर्म रुचि

महिलाओ मे धर्म के प्रति रुचि देखी गई है। रुचि भी ऊपरी या दिखावटी नहीं, अन्तर की होती है। यह परम्परा आज से नही, हमेशा से चली आ रही है। वे पुरुप की भाति मोहरे नही वदलती। पुरुपो मे कभी धर्म की रुचि अत्यधिक वढ़ जाती है तो कभी वहुत कम हो जाती है। किसी समय पांच-सात सामायिक कर लेते है तो किसी समय विलकुल करते ही नही। समय-समय पर उनमें परिवर्तन होता रहता है। पर स्त्रियो में ऐसा नही है। धर्म के प्रति उनकी श्रद्धा अडिग रही है, आज भी है। अच्छी चीज के प्रति रूढ़िगत श्रद्धा होना वुरा नही पर श्रद्धा के साथ ज्ञान भी होना चाहिए। ज्ञान के अभाव मे मात्र रूढ श्रद्धा अधिक महत्त्व की नही। वहिनें शिक्षा के मैदान मे पीछे है। ज्ञानमय श्रद्धा हो तो उससे अच्छी वात है। ज्ञान आंख है। क्रिया करने से पूर्व ज्ञान से उसे देखो—विचारो—यह काम क्यो किया जा रहा है ? मैं यह नई चीज क्यो मांग रही हूं। यह मेरे काम की है या दिखाने के लिए ही माग रही हू। यदि दिखावे मात्र के लिए है तो वहां गलती हो रही है। धर्म-स्थान मे सवसे आगे वैठने की कोशिश की जाती है। इसका ध्येय प्रवचन को अच्छी तरह सुनकर उसे अपनाने का है या सिर्फ इसलिए कि मैं हमेशा से आगे वैठती आ रही हूं, मैं उच्च हूं पीछे कैसे वैठूं ? यदि ऐसा है तो यहां गलती हो रही है। वास्तव में ऊंच-नीच की कसौटी यह है ही नही। वहनें कहती है, हमे पुरुपो के वरावर आना चाहिए। मैं तो यही सोचता हू कि पुरुपो की वरावरी या उनसे आगे वढ़ने की वात तो छोड़ ही देनी चाहिए। पुरुप ऐसे क्या आगे वढ़ गये है ? उन्होंने कौन सी तरक्की कर ली है ? वे कोई आदर्श नही; आदर्श है आचार। ऊंच-नीच की कसौटी है आचार और विचार की विशुद्धता और उज्ज्वलता। उसकी कसौटी पुरुप या पैसा नही हो सकता। अतः वहनें पुरुषो की वरावरी न कर स्वतंत्र रूप में उठने की वात सोचें—अपने आपको उठाने की वात सोचें। यदि वे स्वयं उठ गई तो दूसरे स्वतः सव पीछे रह जायेगे। उन्हें अमुक या अमुक की वरावरी करने की आवश्यकता नही और न ईर्ष्या का भाव ही रखना चाहिए। मात्र आत्मोत्थान के भाव रहने चाहिए।

मैं वहिनो से कहना चाहता हूं कि वे अपनी विवेक चेतना को जगाएं। मानव का मतलव ही तो विवेकशील प्राणी है। जिसमे विवेक नही वह मानव कैसा ? पशु-पक्षियो मे विवेक तथा ज्ञान नही होता। मानव उचितानुचित

का ज्ञान रखता है, पशु नही। गाय को ही ले लीजिए, यदि उसके पैर में रस्सी उलझ जाए तो वह नाच-कूदकर और ज्यादा उलझ सकती है पर वह नही जानती कि इससे किस प्रकार निकल जाना चाहिए। क्यों? उसमें विवेक की कमी है। उसका दिमाग इस तरफ काम नही करता। मानव सब बात का विचार कर सकता है। अतः ज्ञान को प्राप्त करो। आज बहनों में ज्ञान की कमी है। यही कारण है वे पिछड़ी हैं। यदि ज्ञान की कमी नही होती तो आज बहिनों की यह स्थिति नही होती। ज्ञान से मेरा मतलब वह ज्ञान नहीं जो ज्ञान जीवन मे उच्छृङ्खलता लाए, वह ज्ञान नही जो विनय को मिटाए। ज्ञान वह होना चाहिए जिससे मानव मे मानवता आये, जीवन ऊंचा उठे और मानवोचित गुणों का विकास हो।

ज्ञान-विकास के साथ-साथ जीवन मे सादापन भी आवश्यक है। महिला जीवन सीधा-सादा होना चाहिए। आडम्बरमय नही होना चाहिए। आडम्बर में व्यर्थ का समय नहीं गंवाना चाहिए। अपना समय जीवन के उत्थानकारी कार्यों मे नियोजित करना चाहिए। यह जीवन उत्थान के लिए है यों ही गंवा देने के लिए नही।

दूसरी बात, बहिनें कषाय को कम करें। क्रोध, मान, माया, लोभ को कम करें। क्रोध मे मनुष्य का विवेक लुप्त हो जाता है। उसको ज्ञान नहीं रहता कि मैं किसके सामने क्या बोल रहा हूं। इसी तरह अभिमान को दबाए। अपनी 'मैं' मे मदमत्त न रहे।

तीसरी बात है आचार को ऊंचा उठाने की। आचरण अच्छा है तो सब कुछ अच्छा है। आचरण गिरा हुआ है तो सब कुछ गिरा हुआ है। बहनों का आचरण अवश्य ऊचा होना चाहिए। पुरुषों का आचरण गिरना भी अच्छा नही है। पर उसका प्रभाव घरवालों पर उतना नही भी पड़ सकता है। पर स्त्री का आचरण गिरा है तो उसका प्रभाव घरवालो और संतान पर विशेष रूप से पड़ता है।

अन्त में मैं यही कहूंगा कि महिलाएं ज्ञान का विकास करें, जीवन में सादगी लाएं। दुर्गुणों को मिटाएं। क्रोध, मान, माया और लोभ से बचें। अपने आचार-विचार को शुद्ध रखें। अपना जीवन उठाएं और दूसरों का जीवन उठाने के लिए प्रयत्नशील रहे।

गगाशहर,
१८ मई '५३

५७ : युवकों से

जवानो ! तुममें कार्य-क्षमता है। तुम क्रियाशील हो। युवक कहलाते हो। तुम्हारे भीतर किसी भी कार्य की शुरूआत करने का उत्साह है। किसी भी कार्य का प्रारम्भ करने में युवकों का हाथ रहता है। युवक बहुत से कार्यों की शुरूआत करते हैं पर वे उन कार्यो में से बहुत कम में सफल होते हैं। उनको उन कार्यों में उतनी सफलता नहीं मिलती जितनी मिलनी चाहिए। इसका कारण है—उनमें कार्य करने की तड़प होती है पर उस तड़प में वे बड़ी जल्दी कर जाते है। उनकी वह जल्दी ही उनकी असफलता का एक कारण बन जाती है। वे एक कार्य को शुरू करते हैं, उसमें अपनी सारी शक्ति को खपा देते है पर धीरता उनमें रहती नहीं। नतीजा यह होना है कि शक्ति एवं उत्पाह धीरे-धीरे घटने लगता है और आगे जाकर वह ठंडा पड़ जाता है। किसी भी कार्य का प्रारम्भ धैर्यपूर्वक करने से आगे जाकर उसमें सफलता पाई जा सकती है। इससे उसका उत्साह भी बढता जाता है। इस तथ्य की प्रात: काल की छाया के साथ तुलना की जा सकती है। प्रातःकाल उसका दायरा बहुत लम्बा होता है। वह उतनी लम्बी बढ जाती है जितनी बढ़ सकती है। नतीजा यह होता है कि वह धीरे-धीरे घटने लगती है और घटते-घटते दोपहर तक बिल्कुल छोटी हो जाती है। ठीक ऐसा ही युवकों के कार्य करने मे प्राय: देखा जाता है। लेकिन दोपहर की वह छोटी छाया, थोड़े से शुरू होकर सूर्यास्त तक बड़ी दूर तक फैल जाती है, वह थोड़े से शुरू होकर धीरे-धीरे बढ़ती जाती है। युवक भी यदि थोड़े से शुरू होकर धैर्यपूर्वक डटे रहे तो सफलता उनकी अगल-बगल घूमती रहेगी। चलानेवाला चाहिए, नेतृत्व करनेवाला चाहिए, प्रेरणा देनेवाला चाहिए। उनको चलानेवाला कोई अनुभवी होना चाहिए। उनकी शक्ति मे काम लेने वाला होना चाहिए। समझदार होना चाहिए जो उनकी शक्ति को सत्कार्यों में लगा सके, उसका अपव्यय न होने दे। फिर वह अनुभवी चाहे युवक हो या वृद्ध, इसमे कोई कठिनाई नही होती। युवकों को चाहिए कि वे युवक और वृद्ध की भेद-रेखा मिटा दे। मैं तो यह देखना चाहता हू कि सभी वृद्ध युवक बन जाएं और युवक वृद्ध बन जाएं। इसका मतलब यह नही कि युवक निष्क्रिय बन जाएं और वृद्ध काम करें। मेरे कहने का तात्पर्य यह है कि युवक उच्छृंखलता छोड़ें। उसके स्थान पर वृद्धों मे पायी जानेवाली विनम्रता अपनाएं। वृद्ध अपने अनुभव से लाभ उठाएं। उसके साथ युवको की क्रियात्मक शक्ति को भी सुरक्षित रखें। इससे एक बहुत

बड़ा लाभ होगा।

आज जिस उद्देश्य को लेकर युवक यहां एकत्रित हुए हैं उसके सन्दर्भ में विचार करें। युवक शिक्षित होते हैं पर वे वास्तव में शिक्षित नही अर्द्ध-शिक्षित होते हैं। उनकी शिक्षा लक्ष्यहीन शिक्षा है। जिस शिक्षा का कोई लक्ष्य नही होता, उसको पानेवाले अर्द्ध-शिक्षित नही तो और क्या कहे जाएंगे ? वह शिक्षा जिसमे जीवन-उत्थानकारी कार्यक्रम नही, नैतिक उत्थान को प्रोत्साहन नही, जिससे जीवन न सुधरे वह शिक्षा आखिर है किस काम की ? केवल जीविका चलाने के लिए शिक्षा पाई जाए, वह तो अधूरी शिक्षा है। शिक्षा का लक्ष्य यह नही होना चाहिए। उसका लक्ष्य होना चाहिए जीवन-निर्माण। शिक्षा वह है जो जीवन को बनाये। युवक इस शिक्षा को प्राप्त करने के लिए कृतसंकल्प बनें। एक दो नही, सैकडो की संख्या में युवक इस दिशा में प्रस्थान करें। एक दो व्यक्तियों का आज जमाना नही है। जो काम पहले एक व्यक्ति कर सकता था। वह आज सामूहिक होता है। जनतन्त्र का जमाना है। शिक्षा भी सामूहिक प्राप्त की जाए। एक महीना, दो महीना, छह महीना नही, पाच वर्ष तक प्राप्त की जाए। उसमे अधिक समय न लगाया जा सके तो कम से कम एक घण्टा। एक नही तो एक मूहूर्त का समय लगाएं और आज ही कम से कम तेरह महीने तक शिक्षा पाने के लिए कटिबद्ध हो जाएं, जिसमें तत्त्व-चिन्तन हो, स्वाध्याय हो और आत्मविद्या का अभ्यास हो।

युवक इस ओर विशेष दिलचस्पी ले रहे है यह शुभ सूचना है। यदि विशेप उद्देश्य के साथ जीवन-निर्माणकारी आध्यात्मिक-शिक्षा प्राप्त की जाए तो जीवन के निर्माण या सुधार की बात कोई समस्या नही बनेगी।

गंगाशहर,
२० मई, ५३

५८ : विद्यार्थी कौन होता है ?

वालको, एव वालिकाओ ! प्रकृति मे सब को दो कान और एक जीभ मिली है। इसका क्या कारण है ? जीभ एक और कान दो क्यो हुए ? प्रकृति तुम्हे शिक्षा देती है—सुनो अधिक, पर वोलो कम। क्योकि वोलने के लिए जीभ एक ही है, यह प्रकृति का दिशानिर्देश है। आप्त-पुरुष भगवान् महावीर की वाणी है—

नापुट्ठो वागरे किंचि, पुट्ठो वा नालियं वए।
कोहं असच्चं कुव्वेज्जा, धारेज्जा पियमप्पियं ॥

विना पूछे मत वोलो। कुछ लोगो को विना मागे राय देने की आदत होती है। कहा जाता है—'न पूछै न ताछै, हू लाडै री भूआ'। यह ठीक नही। जवरदस्ती पंच वनना उचित नही। ज्यादा लवाल वनने से उसकी वात कोई मानता नही, किसी पर उसका असर नहीं पडता। मौन रहना अच्छा है पर कम से कम यह तो अवश्य होना चाहिए कि विना पूछे न वोले। पूछने पर किंचित् भी झूठ न वोले। झूठ वोलना ठीक नही। यह वडी वुराई है। क्रोध न करे। क्रोध मे अन्धे वनकर किसी को गाली न दें। गाली देना सभ्य कहे जानेवाले व्यक्तियो के लिए ठीक नही। गाली देना आर्यदेश मे उत्पन्न होने वालो के लिए लज्जा की वात है। धार्मिक कुल मे पैदा होने वालो के लिए यह उचित नही। जहा जैसा प्रसग आए उसके सामने विचलित होना ठीक नही है। कही प्रशंसा होती है तो कही निन्दा भी। ऐसा न हो कि निन्दा हो वहा क्रोध मे आगवबूला हो जाएं या प्रशंसा हो वहां खुशी मे फूल जाएं। दोनो अवसरो मे सम रहने का अभ्यास हो।

विद्यार्थी इस वात को याद रखे कि वे विद्यार्थी है। उनके जीवन का यह समय उनके व्यक्तित्व-निर्माण का समय है। विद्यार्थी के जीवन मे क्या-क्या वाते होनी चाहिए ? इस सम्वन्ध मे उत्तराध्ययन मे कहा गया है—

अह अट्ठहि ठाणेहिं, सिक्खासीले त्ति वुच्चइ।
अहस्सिरे सया दन्ते, न य मम्ममुदाहरे ॥
नासीले न विसीले, न सिया अइलोलुए।
अकोहणे सच्चरए, सिक्खासीलेत्ति वुच्चइ ॥

विद्यार्थी को आठ वातो का ध्यान रखना चाहिए। ज्यादा नही हसना, अट्टहास नही करना। विद्यार्थी क्या, हर एक व्यक्ति के लिए अट्टहास वर्जित है। विद्यार्थी को दमितेन्द्रिय होना चाहिए। वह अपने मन

को जीते। उसे इधर-उधर भटकने न दे। किसी की गुप्त वात का प्रकाशन न करे, जिससे व्यक्ति के दिल मे दुःख हो। वह ब्रह्मचर्य का पालन करे। वह कुसङ्गति से वचे। कुसङ्गति मे पडकर अपने मूलभूत गुणों को—अपनी मूलभूत शक्ति को न गवा दे। चाहिए तो यह कि विद्यार्थी एकान्त मे रहे। वास्तव में ब्रह्म ही शक्ति है आज जिसकी कमी सर्वत्र अखरती है। विद्यार्थी को ब्रह्म में रमण करना चाहिए।

उसे चटोकड खाने की लोलुपता नही करनी चाहिए। चरका-मीठा खाने के लिए हरदम तैयार रहना ठीक नहीं। उसे अपने भोजन मे सयम रखना चाहिए। कहा भी है—

खाटो खारो खोपरो, सुपारी ने तेल।
जो चेला पढ़णो हुवै, (तो) इत्ती वातां नै ठेल ॥

विद्यार्थी इसका पूरा-पूरा ध्यान रखे। भोजन का असयम विद्याध्ययन मे वाधक है।

उसे क्रोध से परहेज रखना चाहिए। क्रोध शरीर मे प्रज्वलित एक भट्ठी है जिसमे व्यक्ति अपने आपको जला देता है। क्रोध का दमन कर शाति को अपनाना चाहिए।

उसे सत्य मे रत रहना चाहिए। यदि विद्यार्थी यह सीख ले कि वह झूठ नही वोलेगा तो वह वहुत कुछ सीख सकता है। सत्य, सत्य है उसमे आच नही लगती। विद्याध्ययन करनेवाले को इसे अवश्य अपनाना चाहिए।

५९ : निर्माण बच्चों का

वच्चे उच्छृंखल होते हैं, अनुशासन का ध्यान नही रखते, उनमे अन्य गुणो की भी कमी रहती है यह आम शिकायत है। पर इसका दोष किसे दिया जाए ? उनका मार्ग-दर्शन करनेवालो मे ये कमियां नही है क्या ? उनकी कथनी और करनी में अन्तर है। वे कहते कुछ है और करते कुछ और है। उनकी देखादेखी वच्चो में वुराइया आती हैं। यदि अभिभावक स्वयं गिरे हुए है या गिरते जा रहे है तो वे वच्चों को क्या वोध देगे ? आप अपनी सम्पत्ति अपने ही हाथो खो रहे हैं। वास्तव में रुपया-पैसा आदि सम्पत्ति नही है। सही अर्थ मे सांसारिक-सम्पत्ति सन्तान है, जिस पर उनके भविष्य का दारमदार है। यदि उनके कारण से सन्तान विगड़ती है तो इसका अर्थ होगा उनका सव कुछ विगड़ता है। वे स्वयं अपने जीवन को उठायें और अपनी भावी सम्पत्ति—सन्तति को सही रास्ते पर लगाये। यदि ऐसा करते है तो सही अर्थ मे सुधार शुरू हो जाता है। वच्चो का सुसंस्कारी वनना भावी पीढियो के लिए एक शुभ-सूचना होगी। उनमे जो संस्कार संप्रेपित किए जाते है, वे सहज रूप से पकड़ लेते है। वे सफेद कपड़े है। उन्हें किस रंग मे रंगना चाहिए यह उनके अभिभावको एव गुरुजनो पर निर्भर करता है। वे युवको और वृद्धो की तरह काली कम्वलिया नही हैं, जिस पर कोई नया रग नही चढ़ सकता। इन वच्चो पर—सफेद कपड़ो पर ऐसा रंग चढ़ाया जाए जो दिन दूना और रात चौगुना चमकता रहे। वह रंग खिलेगा उनको आध्यात्मिकता, नैतिकता और सद्गुणो के साचे मे ढालने से—उनके प्रति निष्ठावान् वनने से।

गंगाशहर,
२१ मई, ५३

६० : सामूहिक स्वाध्याय

परसों वपन किया गया वीज आज अंकुरित हो रहा है। यह वहुत जल्दी उगा है। वाद मे अच्छी तरह सीचा गया तो दिन दूना रात चौगुना वढ़ेगा, ऐसा सम्भव है। परसों जिन १०८ से अधिक व्यक्तियो ने एक साल के लिए एक घण्टा सामूहिक स्वाध्याय करने की प्रतिज्ञा ली थी; आज वे उसकी शुरूआत करने जा रहे है। एक ऐसे युग में, जवकि लोग धर्म से दूर भागते जा रहे है, इसकी शुरूआत वीकानेर मे हो रही है, यहां युवको ने स्वाध्याय के लिए इच्छा प्रकट की। हम तो इस प्रतीक्षा में ही थे कि किसी तरह लोग धर्मोन्मुख हों। इसीलिए सरदारशहर मे एक शिक्षण-शिविर की शुरूआत की। वह शिक्षण-क्रम इधर रास्ते मे भी चालू रहा। वह एक प्रयोग था और यह भी एक प्रयोग है।

लोग पूछ सकते है—धर्म-ज्ञान की क्या आवश्यकता है? क्या तत्त्वों की जानकारी करनी चाहिए? मैं तो कहूंगा तत्त्वों की जानकारी करना अत्यन्त जरूरी है। आत्मा, परमात्मा, अनात्मा, पूर्वजन्म आदि के वारे में अवश्य जानना चाहिए। वह मनुष्य, मनुष्य क्या जो तत्त्व को भी नहीं जानता, जिसमे तत्त्व को जानने की तडप नही होती। वह एक तरह से कोद्रवं का धान है उसे क्या खाया जाये। दुष्काल मे किसी तरह उससे काम चलाया जाता है। इसी तरह तत्त्व को न जाननेवाला व्यक्ति है। पुराने समय में थोकड़ो आदि को कठस्थ किया जाता था। आज की पीढी उसका अर्थ तक नही जानती। ये थोकड़े आखिर क्या हैं? 'थोकड़ा' अपभ्रंश शब्द है। इसका अर्थ है थोडे मे अधिक तत्त्व का समाया रहना। खैर, आज कंठस्थ करने की प्रथा ही कम हो रही है। कंठस्थ करने को दिमाग के लिए ठीक नही समझा जाता। पर इस वात को नही भूलना चाहिए कि दाम अंटी का और ज्ञान कंठ का ही समय पर काम आता है। पुस्तको का ज्ञान कहा तक काम देगा? वह तो पुस्तको तक ही सीमित रहता है। कौन जाने किस जगह किस तत्त्व की जरूरत पड़ जाए। कोई वाजार मे जाए। वहा न जाने किस समय किस वस्तु को लेने की इच्छा हो जाए। वहा घर की अलमारी मे रखा हुआ रुपया क्या काम आयेगा? अटी मे हो तो काम आ सके। इसी तरह पुस्तक का ज्ञान कैसे काम आये? कंठस्थ हो तो व्यक्ति उससे काम ले सकता है। हां वहुत सी चीजें कण्ठस्थ करने की होती है तो वहुत सी जानकारी की भी, जैसे —नमस्कार मन्त्र, तिक्खुत्तो, सामायिक लेने और पारने की विधि, पंच-पद-

हो सकेगा।

मैं एक बार फिर सब लोगो को आह्वान करता हू कि वे धर्म के तत्त्व को समझे, उसके प्रति अपनी आस्था जगाएं और उसका आचरण करे। इस क्रम से ही मानव सही अर्थ मे मानव कहलाने का अधिकारी हो सकेगा।

पीपाड
११ जुलाई, ५३

८१. ज्ञान-प्राप्ति का सार

एवं खु नाणिणो सारं,
जं न हिंसइ किंचणं।
अहिंसा समयं चेव,
एयावन्तं वियाणिया ॥

ज्ञानी होने का सार क्या है ? इस जिज्ञासा को समाहित करते हुए भगवान् महावीर ने कहा—किसी प्राणी की हिंसा नही करना, किसी को पीडा नही पहुचाना, यही है ज्ञान प्राप्ति का सार। हिंसा छोडने का नाम अहिंसा है। अहिंसा ही समता है। समता ही जानने और आचरण करने का तत्त्व है।

मानव ज्ञानार्जन क्यो करता है ? वहुत से लोग यह समझते है ज्ञानार्जन जीविका के लिए है। उनके विचार से जीवन मे और कुछ हो या नही, अर्थ का होना जरूरी है। अधिक ज्ञान से अधिक अर्थार्जन की आकाँक्षा किसी भी दृष्टि से उचित नही है। अर्थ जीवन चलाने का साधन है। पर वह जीवन का साध्य नही है। जैन दर्शन केवल जीविका को महत्त्व नही देता। वह वतलाता है कि ज्ञानार्जन अपने आपको खोजने के लिए हो, पाने के लिए हो। मैं कौन हू ? कहां से आया हूं? तत्त्व क्या है ? यह वोध आत्मिक ज्ञान से होता है। आत्मिक ज्ञान प्राप्त हो जाने के वाद व्यक्ति की विवेक चेतना जाग जाती है। वह अर्थ मे गृद्ध नही होता। पदार्थ मे आसक्त नही होता। वह सत्य को समझने लगता है। वह जानता है कि सुख कैसे मिल सकता है ? वह कौन सा तत्त्व है जिससे आत्मा को शान्ति मिल सकती है ? वह यह भी जानता है कि जब मेरी आत्मा सुख चाहती है, शान्ति चाहती है तो दूसरा प्राणी दु:ख क्यो चाहेगा ? अशान्ति की कामना क्यो करेगा ? निष्कर्ष की भाषा मे यह कहा जा सकता है कि हर प्राणी शान्ति चाहता है। कोई भी दु:ख की इच्छा नही करता है। फिर किसी को भी दु:ख पहुंचाना अनुचित है, अमानवीय है। ज्ञानी व्यक्ति किसी को दु.ख न पहुंचाये, किसी को न सताये। यदि वे संरक्षक न वन सके तो भक्षक न वने। यह ज्ञान-प्राप्ति का सार है, विद्याध्ययन की सार्थकता है।

लोग कहते है विज्ञान ने वड़ी तरक्की की है पर आखिर विज्ञान है क्या ? उसने किया क्या ? पैरों से पंगु वन जाना ही तरक्की है क्या ? आज लोग सुविधावादी वनते जा रहे है सुविधावाद भी पराकाष्ठा तक पहुंच गया है। वैज्ञानिकों ने जहा भौतिक पदार्थो की खोज की, शारीरिक सुख-सुविधाओं

का अन्वेषण किया, वहां ऋषि-महर्षियों ने आन्तरिक प्रकाश दिया। भौतिकता के रूप मे विज्ञान ने हिंसा को पाया। पर यहां आध्यात्मिकता के रूप में अहिंसा मिली। जो सही अर्थ मे समता और शान्ति का पाठ पढाती है। आखिर ऋषि-महर्षियो के पास इतने लोग आते क्यो हैं ? उन्हे मिलता क्या है ? उन्हें ऐसा ज्ञान मिलता है जो आत्मा का भान कराता है, अहिंसा का पाठ पढाता है। उनका आना भी तभी सार्थक होता है जब वे अपने जीवन मे अहिंसा को उतारेंगे, उसे अहिंसा के प्रकाश से जगमगायेंगे। पर आश्चर्य की बात है कि भौतिकता का प्रभाव बढता जा रहा है। बाह्याडम्बर और फैशनपरस्ती का प्रवाह तेज होता जा रहा है इसीलिए कुछ लोग अहिंसा को अव्यावहारिक ठहरा देते हैं, जिस अहिंसा को साधु-सन्त पूर्णरूपेण अपनाते है, जो मानव को मानवता का पाठ पढाती है, दानवता के शिकंजे को शिथिल करती है और मानवता को सरक्षण देती है।

अन्त मे मैं यही कहूगा, कि साधुओ के आगमन का एक उद्देश्य यह भी होता है कि लोग उनसे जीवन का लक्ष्य समझें, ज्ञान की प्राप्ति करें और ज्ञानार्जन करे, अहिंसा का पाठ पढ़ें। मैं उपस्थित सभी लोगो से यह अपील करूगा कि वे साधुओं के जीवन से प्रेरणा पाकर अपने जीवन को अहिंसा से प्रकाशित करे, मानव जीवन तभी सार्थक हो सकेगा। ज्ञान का सार यही है कि व्यक्ति किसी की हिंसा न करे। अहिंसा का विज्ञान समझकर उसे आत्मसात् करे।

पावटा,
१९ जुलाई, ५३

८२. धर्म बातों में नहीं, आचरण में

आज हम जोधपुर आए है और जोधपुर-वासियो ने हमारा स्वागत किया। उन्होने अपनी अन्तरतम-भक्ति का परिचय दिया। लोगो को ताज्जुब होगा कि साधु-सन्तों का क्या स्वागत ! नेताओ का स्वागत हो सकता है। सरकारी अफसरों का भी स्वागत होता है, पर फकीरो का क्या स्वागत ? जो सन्त धन को धूल के समान समझते है, जायदाद को भार समझते है; 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के सिद्धान्त को लेकर चलते है, और संसार के सभी जीवो के प्रति मैत्री भाव रखकर चलते है। ऐसे त्यागियो का स्वागत सिर्फ शब्दो से नही होता। वह होता है त्याग से, तपस्या मे और होता है जीवन को उठाने का प्रयास करने से। जैसे अभी-अभी दो दम्पतियो ने आपके सामने अब्रह्मचर्य सेवन का त्याग किया और भी सैकड़ो व्यक्तियो ने अप्रकट रूप से त्याग-प्रत्याख्यान करके ऐसा किया होगा।

लौकिक दृष्टि से मरुधरा मेरी जन्मभूमि है मेरी ही नही, मेरे पूज्य गुरुओ की जन्मभूमि है। हमारे प्रथम आचार्यश्री भिक्षुस्वामी का जन्म भी मरुधरा के कंटालिया ग्राम में हुआ था। चतुर्थ आचार्य श्रीमज्जयाचार्य का जन्म 'रोयट' मे हुआ। वह भी मरुधरा मे है। और तो क्या 'तेरापंथ' नाम भी जोधपुर से ही प्रचलित हुआ। आज उस समय का इतिहास आखो के सामने आ जाता है। भिक्षु स्वामी ने शिथिलाचार के विरुद्ध सिहनाद किया, बिगुल वजाया। वे घूमते-घूमते जोधपुर आए। यहां के लोगो ने उनके विचारो को समझा, धर्मक्रान्ति की पृष्ठभूमि को समझा और कुछ लोग उनके समर्थक बन गए। उनकी प्रेरणा लोगों के मन पर अंकित थी। वे बाजार की दुकानो मे धर्मोपासना कर रहे थे। उस समय आचार्य भिक्षु के साथ तेरह साधु थे। वहां उपासना करने वाले श्रावक भी तेरह थे। जोधपुर के दीवान श्री फतेहसिह जी उधर से निकले। उन्होने दूकान मे श्रावकों को सामायिक करते देखकर सारी वात पूछी। उन्होने यह सुना कि तेरह ही सन्त है और तेरह ही श्रावक है। उनके पास मे खडे एक कवि ने कहा—

> आप आप रो गिलो करै
> आप आपरो मंत।
> सुणज्यो रे शहर रा लोकां
> अै तेरापन्थी तंत॥

जोधपुर मे घटित इस घटना का संवाद आचार्य भिक्षु तक पहुंचा। वे

उसी समय पट्ट से नीचे उतरे। उन्होने समर्पित भाव से भगवान् महावीर को वन्दन किया। उस समय तक उन्होने सोचा भी नही था कि उन्हे सघ चलाना है या उसको कोई नाम देना है। किन्तु जव अनायास ही नामकरण हो गया तो आपने कहा—'हे प्रभो! यह मेरा पंथ नही, तेरा ही पंथ है। हम तो तेरे ही पन्थ के पथिक है।' आज तेरापथ की इस ऐतिहासिक नगरी मे हमारा आना हुआ। मैं उन्नीस वर्ष पहले यहां आया था, पर इस रूप में नहीं। उस समय मैं आचार्य रूप मे नही, शिष्य के रूप मे आया था। पूज्य गुरुदेव श्री कालुगणी जी के साथ आया था। आज इस रूप मे पहली वार मैं यहां आया हू।

आगमन के इस प्रसन्न वातावरण मे आज मै आप लोगो को कुछ कहना चाहता हू। मेरे कथन का सम्वन्ध पूरी मानव जाति के जीवन-निर्माण से है। आप सव जानते है कि आज जीवन का स्तर गिरता जा रहा है। लोग कह सकते है कि आपको इसकी क्या चिन्ता है? आप तो साधु वन गए। साधु जन-जन की चिन्ता क्यो करे? ऐसा कहने वाले नही जानते कि साधु को 'तिन्नाण तारयाण' कहा जाता है। उनसे यह अपेक्षा रखी जाती है कि वे स्वय तरें, दूसरों को तारे। खुद उठे, दूसरो को उठावे। लोग भी उठना चाहते है पर केवल शब्दो से। वास्तव मे वे उठना नही चाहते। सचाई यह है कि वातो से आत्म-कल्याण नही हो सकता। वह तो त्याग से होता है, संयम से होता है। कहा है—

वातां साटे हर मिलै
तो म्हानें ही कहीज्यो।
माथां साटे हर मिलै
तो छाना माना रहीज्यो॥

लोग चिन्ता करते है कि वे गिर गये, उनका पतन हो गया पर उठने के लिए अपना पुरुपार्थ कव करते है? जहाँ उठने का सवाल आता है, फौरन पीछे हट जाते है। वे कहते है कि नई योजना दूसरो पर लागू की जाए। दूसरे लोग इसे क्रियान्वित करने मे सफल हो जाए तो वे भी उस पर अमल कर सकते है। इसका मतलव यह हुआ कि आप दुनिया के पीछे चलना चाहते हैं, आगे चलना नही चाहते। आगे तो वातो मे चल सकते है। पर यदि आप कल्याण चाहते हैं तो वातो से नही, धर्म का आचरण करने मे आपको सफलता मिलेगी। धर्म शब्द को सुनने मात्र से आज का वुद्धिवादी वर्ग चौंकेगा। कहा जाता है आज तरुणो मे धर्म के प्रति श्रद्धा नही है। दोप किसे दिया जाए? आज की शिक्षा पद्धति को, आज के युग को, समय को या इन तथाकथित धार्मिको को, जिन्होने धर्म के स्वरूप को नही समझा। उन्होने धर्म का स्थान आडम्वर को दिया। यही कारण है कि उसके प्रति लोगो की श्रद्धा कम हो

गई। अन्यथा मेरा अनुभव है कि युवकों मे धर्म के प्रति श्रद्धा है। मैंने युवको से सम्पर्क स्थापित किया और जाना कि उनमे धर्म के प्रति श्रद्धा है पर उन्हें सही पथ-दर्शन चाहिये। यदि ऐसा हुआ तो विज्ञान और धर्म के बीच की खाई पट जाएगी। यदि हमने धर्म का सही स्वरूप लोगो के सामने रखा तो 'धर्म खतरे मे है' के वजाय 'अमर रहेगा धर्म हमारा' का नारा बुलन्द होगा। "धर्मो रक्षति रक्षित:," मनुस्मृति का यह कथन वास्तव में सही है। पर धर्म केवल मन्दिर, मठ, स्थानक या साधु-स्थान मे आ जाने मात्र से नही होता, वह तो जीवन मे रहता है। उसका पालन घर, दुकान, श्मशान हर जगह आवश्यक है। उसमे वर्ण, जाति, लिंग, रंग का कोई भेद नही। निर्धन और धनिक सवको धर्म करने का अधिकार है। धर्म का धन के साथ कोई सम्बन्ध नही। दूसरे शब्दो मे धर्म कभी धन से नही होता। यदि धर्म धन से होगा तो कोटि-कोटि जनता जो गरीव है कभी धर्म कर ही न पायेगी। वह तो आत्मा की वस्तु है। आत्मा को पवित्र करने से ही धर्म होगा।

जोधपुर मे इस समय सैकडो साधु है और अनेक आचार्य है। उन सवका यह कर्तव्य है कि वे विना किसी भेदभाव, साम्प्रदायिकता व छीटा-कसी के धर्म का प्रचार कर जोधपुर को धर्मपुरी वना दे। किसी के प्रति आक्षेप न करते हुये जनता को शान्ति का संदेश दे। यह एक अच्छा कदम होगा।

जोधपुर
२२ जुलाई, ५३

८३. संकल्प की अभिव्यक्ति

आज का दिन मेरे लिए आत्मनिरीक्षण का दिन है, वार्षिक गतिविधियो के सिंहावलोकन का दिन है और भावी नीति की उद्घोषणा का दिन है। इस दिन को निमित्त बनाकर बोलने वालो नें मेरे बारे मे बहुत कुछ कहा। अपनी प्रशस्ति सुनने मे मुझे रस नही है। फिर भी व्यवहार के धरातल पर कुछ-न-कुछ सुनना पड़ता है। उस समय मेरी तटस्थता न टूटे यह आवश्यक है। आज वर्ष भर की घटनाएं मेरे समक्ष सजीव हो रही हैं। मैंने आत्मनिरीक्षण किया। वर्ष भर का सिंहावलोकन किया। अब मैं अपनी नीति के सम्बन्ध मे आप लोगो के समक्ष कुछ कहना चाहता हू—हमारी नीति मण्डनात्मक, समन्वयात्मक रही है और आगे भी रहेगी। हमारे द्वारा किसी पर व्यक्तिगत आक्षेप नही होना चाहिये, पर इसका मतलब यह नहीं कि हम शिथिलाचार के बारे मे भी कुछ नही कहेगे। हमे चोर पर आक्रमण नही करना है, चोरी को समाप्त करना है। लोक प्रगति के नाम पर भटकें नही। प्रगति का वास्तविक अर्थ है—आत्मशोधन मे सजग रहते हुए जनता को आत्मचेतना व व्यवहार-शुद्धि में अग्रसर करना। सही माने में यही धर्माराधना है। धर्म आत्म-शुद्धि का प्रतीक है। वहां संकीर्णता या अनुदारता कैसी ? क्या महाजन और क्या हरिजन, सबको धर्म सुनने तथा उस पर चलने का अधिकार है। धर्म के निर्बन्ध, सार्वभौम व सार्वजनिक विचारों पर किसी व्यक्ति विशेप, जाति विशेप व समाज विशेप का अधिकार कैसे हो सकता है ? अस्तु इस व्यापक भावनामूलक नीति के आधार पर जन-जन मे धर्म-भावना, सद्वृत्ति, सचाई व न्याय की प्रतिष्ठा हो, इस दृष्टि से प्रयत्न करना मेरा सकल्प है।

जोधपुर

८४. कषाय-विजय के साधन

आज चतुर्दशी है। जैन-जगत् मे चतुर्दशी का विशेष महत्त्व है। आज लोग अनेक प्रकार के त्याग-प्रत्याख्यान रखकर आत्मविकास के मार्ग मे आगे के दिन बढते है। वैसे तिथियो और मुहूर्त्तों में किसी प्रकार की विशेषता नही होती, पर यह सिद्धान्त भी मान्य होता जा रहा है कि समय और परिवेश का प्रभाव होता हे। उससे लाभान्वित वही हो सकता है, जिसका विवेक जाग जाता है। विवेक जागृति के अभाव मे कोई भी तिथि या मुहूर्त्त मनुष्य का हित नही साध सकता।

आज के दिन को सफल बनाने के लिए हर व्यक्ति को यह सोचना है कि उसको करना क्या है ? मैं कहूंगा आज के दिन सबको कर्तव्यनिष्ठ बनना है। बनने की बात बाद मे होगी। पहले सब यह समझें कि कर्तव्यनिष्ठा क्या होती है ? कर्तव्यनिष्ठा को समझने के बाद ही कर्तव्यनिष्ठ बना जा सकता है। इसलिए कर्तव्यनिष्ठा को पहचानना आवश्यक है।

आज मैं यहां उपस्थित साधु-साध्वी समाज और श्रावक-श्राविका समाज से यही कहूगा कि उन्हें कषाय पर विजय करना है। कषाय क्या है ? इसमे एक साकेतिक अर्थ छिपा हुआ है। सभी शब्दो की यही स्थिति है। उनमे गूढ़ अर्थ छिपा रहता है। यहा कषाय से मतलब क्रोध, अभिमान, दम्भचर्या और लालच—इन चार दुर्गुणो से हे। जैन-साहित्य का यह एक पारिभाषिक शब्द है। दूसरे शब्दो मे कषाय को चाण्डाल-चौकडी भी कहा जाता है। लोग चाण्डाल से घृणा करते है। किन्तु उनके घर मे ही एक नही, दो नही बल्कि चार-चार चाण्डाल विराजमान है। ऊपर के चाण्डाल को छूने से कुछ नही बिगडता। वास्तविक चाण्डाल तो कषाय है—गुस्सा है। गुस्से को छूने मात्र से जो हानि और विनाश होता है उसका कोई पार नही रहता। आपको घृणा करनी है तो गुस्से मे घृणा कीजिए। ऊपर के चाण्डाल से घृणा करना निरर्थक है। आप सोचे कि घृणा का कारण क्या है ? चाण्डाल से घृणा इसलिये तो नही की जाती हे कि वह आजीविका के लिये सफाई का काम करता है। ऐसे काम से घृणा क्यो हो ? इस बात को लेकर घृणा करना भूल है। जहा तक मै सोचता हूं,.सम्भवत. चाण्डाल से घृणा करने का कारण उनका अशुद्ध खान-पान है। वे अखाद्य और अपेय पदार्थो का उपयोग करने लगे और उनका कोई आचार-विचार नही रहा। इसलिये वे लोगो की दृष्टि मे घृणा के

पात्र वन गये है। किन्तु प्रश्न तो यह है कि घृणा करने वालो मे और चाण्डाल मे अन्तर है क्या ? आपने उदाहरण सुना होगा।

वाजार की मुख्य सडक पर एक चाण्डालिनी जा रही थी। उसके सिर पर एक मरा हुआ कुत्ता रखा था। वह हाथ मे मृत मनुष्य का खप्पर लिए हुए थी। दोनो हाथ खून से रगे हुये थे। महान् आश्चर्य ! साक्षात् राक्षसी-सी प्रतीत होनेवाली वह चाण्डालिनी अपने आगे जल छिडक-छिडक कर पैर रख रही थी। अकस्मात् सामने से एक ऋषि आ निकले। उन्हे यह देखकर वडा आश्चर्य हुआ। उनसे रहा नही गया। वे उसके निकट आये। अपनी जिज्ञासा को शान्त करने के लिये चाण्डालिनी से पूछा—

कर खप्पर सिर श्वान, लहूजु खरड़े हत्थ।
छिटकत जल चाण्डालिनी, ऋषि पूछत है वत्त ॥

अरी चाण्डालिनी ! क्या तू पागल हो गई है ? यह क्या कर रही है ? जन्म, कर्म, खान, पान शरीर आदि सव बातो से अपवित्र होने पर भी तूने यह क्या पवित्रता का पाखण्ड रच रखा है ? चाण्डालिनी ने ऋषि की ओर नजर डालते हुए शान्तिपूर्वक कहा—

तुम तो ऋषि भोले भये, नहिं जानत हो भेव।
कृतघ्नी की चरणरज, छिटकत हूं गुरुदेव ॥

'हे गुरुदेव ! आप संन्यासी है। आप मेरी वात को क्या समझे ? मैं कोई पागल नही हू और न मेरी यह प्रवृत्ति ही निष्प्रयोजन और पाखण्डता से युक्त है। देखिये, आगे जो एक व्यक्ति चला जा रहा है, वह महान् कृतघ्न है। उसके जैसा कृतघ्न दूसरा कोई नही है। मैं सोचती हू कही उस उस कृतघ्न की अपवित्र और अस्पृश्य चरणरज मुझे न लग जाए। इसीलिये मै जल छिडक कर चल रही हू। कहने का तात्पर्य यह है कि कुछ लोगो का व्यवहार वहुत ऊचा नही होता। वे दूसरो के उपकार को भी भूल जाते है और किसी को अपने से वडा नहीं समझते। क्या ऐसे व्यक्ति कभी महान् हो सकते है ? यदि आप वास्तव मे वडे, उच्च और पवित्र वनना चाहते है तो सवसे पहले उपर्युक्त चार दुर्गुणो को छोडिये।

शास्त्रो मे इन चार दुर्गुणो पर विजय पाने के लिये चार उपाय वताए गये है।

उवसमेण हणे कोह, माण मद्दवया जिणे।
मायं चज्जवभावेण, लोहं सतोसओ जिणे ॥

आज औषधालयो और चिकित्सालयो की कोई कमी नही है। आये दिन नये-नये चिकित्सालयो की वाढ-सी आ रही है। किन्तु किसी भी औषधालय मे क्या आज तक कही भी क्रोध रोग की औषध दी जाती है ? क्या उस औषधि का कही निर्माण किया गया है ? भले ही उन वड़े-

बड़े औषधालयो मे क्रोध-रोग की औषधि न मिले किन्तु हमारे औषधालय मे वह औषधि मिलती है। मिलती ही नही, सहस्रो शताब्दियो से उसका सफल प्रयोग चला आ रहा है। वह है 'शान्ति'। गुस्से के सामने आप शान्ति का प्रयोग करे, गुस्सा पिछले कदमो भाग खडा होगा। कोई आप पर गालियो की बौछार करता है तो आप वापस कुछ भी न वोले। चुप्पी साध ले। मौन का अभ्यास करे। मौन मे भी शक्ति है। उससे कभी कभी कठिन-से-कठिन काम मे सफलता मिल सकती है। इस सन्दर्भ में एक उदाहरण सुनने जैसा है—

वादशाह अकवर और बीरवल के बीच सदा हंसी-मजाक चलता रहता था। एक दिन बादशाह ने बीरवल से कहा—"बीरवल ! तू तो बडा अक्लमन्द है, किन्तु तेरा बाप कैसा है ? यह मै जानना चाहता हू।" बीरबल बोला—जहापनाह ! जिस खान के हीरे को आप देख रहे है फिर उस खान को देखने का क्या मतलब ?" किन्तु बीरवल की यह सूझ कुछ भी काम नही आई। बादशाह अपनी जिद्द पर तुला हुआ था। बीरवल बात को टालने के समस्त उपायो मे असफल हो गया। बादशाह ने उसे दो आदेश दिये।

१. अपने पिता को शीघ्र राजसभा मे उपस्थित करो।

२ उस समय तुम अपने घर पर ही रहो।

बादशाह पर बादशाह कौन ? बीरवल घर पर आया। उसने अपने पिता को प्रणाम करते हुये कहा—"पिताजी ! आपको आज बादशाह ने राजसभा मे निमन्त्रित किया है।" पिता के होश उड गये। वे भला कब राजसभा मे गए थे और कब बादशाह के सामने गये थे। फिर वे अपनी शक्ति और सामर्थ्य से भी तो परिचित थे। बादशाह के सामने बोलना कोई खेल नही था। बडे आदमियों के सामने वे ही बोल सकते है, जो बच्चे हो, जो मूर्ख हो या जो अनुभवी और प्रभावशाली हो। जब उन्हे यह पता चला कि उस समय बीरबल भी साथ मे नही रहेगा, तब तो वे और भी घबराये। यदि बीरबल साथ मे होता तो वह किसी न किसी तरह किसी भी परिस्थिति को सम्भाल लेता। पिता ने बीरवल से कहा—"बीरवल ! मुझे यह तो बताओ कि मै बादशाह के सामने जाकर क्या करू ? क्या बोलू ? और कुछ पूछे तो क्या कहू ?" बीरबल ने कहा—'पिताजी ! मै आपको एक ही बात कहता हू कि आप वहा पर जाकर बिलकुल चुप रहें। बादशाह को झुककर सलाम अवश्य करे किन्तु बोले कुछ नही। चाहे बादशाह नाराज होकर आपको तरह-तरह के बुरे शब्द और कटु गालिया दे किन्तु आप उस समय कुछ भी न बोलकर चुप रहे। फिर जो कुछ होगा, उसे मैं अपने आप सम्भाल लूगा।" यह कहकर बीरबल ने तुरन्त पिता को राजसभा मे भेज दिया।

वीरवल के निर्देशानुसार उसके पिता वादशाह के पास पहुंचे। वादशाह को सलाम कर वे उनके सामने चुपचाप खडे हो गये। वादशाह ने हसते हुये कहा—"वीरवल के पिता ! आ गये क्या ?" वे वापस कुछ न वोले। वादशाह का कथन सुना-अनसुना कर दिया। यह देखकर वादशाह एकदम तमक उठे। उन्होने गरजकर कहा—"अरे ! सुनते हो या नही ? क्या विल्कुल ही वहरे हो ? मै क्या पूछता हू ?" फिर भी वे कुछ नही वोले। अव वादशाह से नही रहा गया। उनके क्रोध का पारा अपनी चरम सीमा पर पहुंच गया। वे वुरी तरह वकने लगे—"अरे ! यह कौन वेवकूफ-गधा यहा आ गया। इसको कुछ तमीज ही नही है। निकाल दो वेवकूफ को।" फिर क्या था ? उनको अपमानपूर्वक वहा से निकाल दिया गया। उनके दिल मे वड़ा रज हुआ। वे सोचने लगे, वादशाह रुष्ट हो गया, न जाने अव क्या होगा ? इस प्रकार चिन्ता करते-करते वे घर पहुचे। वीरबल ने सारा किस्सा सुना। वह पिता को आश्वासन देकर उसी समय राजसभा मे पहुच गया। वीरवल राजसभा मे पहुचा, उस समय वहां वडा हास्य मजाक हो रहा था। वीरवल को नीचा दिखाने मे वादशाह को स्वर्गीय सुख का अनुभव होता था। इसीलिये वादशाह ने यह सारा नाटक रचा था। वीरवल के आने पर तो सारी राजसभा ही अट्टहास से गूज उठी। वादशाह को सलाम कर वह अपने स्थान पर वैठा कि वादशाह ने जोरों के साथ हंसते हुये प्रश्न किया—"अरे वीरवल ! यदि वेवकूफो से पाला पड जाए तो क्या करना चाहिए ?" वीरवल ने तपाक से उत्तर देते हुये कहा—"जहांपनाह ! चुप रहना।" ओह ! उत्तर क्या था, वम का गोला था। वादशाह की सारी आशाए और हसी पर क्रूर तुषारापात हो गया। वे एकदम चुप हो गये। उन्हे मन ही मन वीरबल पर वडी कुढन हुई यह कैसा व्यक्ति है, इसने तो उल्टा मुझे ही वेवकूफ वना दिया।

यह किस्सा किसी सदर्भ मे घटित हुआ हो, इससे एक सीख तो मिल ही सकती है कि यदि वेवकूफो और गुस्सेवाजो से काम पड जाए तो बिलकुल चुप रहना चाहिए। चुप रहने मे ही गुण है। अन्यथा न जाने सडको पर कितने वेवकूफ मिलते है, क्या उनसे वरावर वोलकर सिरफोडी की जाए ? गाली देनेवाले को गाली देनेवाला भी उसके जैसा ही वेवकूफ वन जाता है। मनुष्य किसी भी स्थिति मे रहे, ऊचाई तक पहुंचने के लिए उसे अपने गुस्से पर नियन्त्रण करना होगा। सारी दुनिया पर कावू करना सरल है, करोडों आदमियो को जीतना सरल है, किन्तु अपने आप पर कावू करना वहुत कठिन है। दुनिया पर कावू करनेवाले अपनी वीवी, अपने मन और अपनी इन्द्रियो के आगे हार खा गए, शिथिल पड़ गए और निस्तेज वन गए। वह मनुष्य महान् है, जो अपने पर कावू रखता है। सामने वाले व्यक्ति के क्रोधित होने

पर आप सोचे कि कोई गुस्से मे आकर गाली देता है तो उससे आपका क्या बिगडता है ? आप इस श्लोक को याद रखे—

ददतु ददतु गालिं गालिवन्तो भवन्तः,
वयमिह तदभावात् गालिदानेऽप्यसक्ताः ।
जगति विदितमेतद् दीयते विद्यते तद्,
नहि शशकविषाणं कोऽपि कस्मै ददाति ।।

प्रतिपक्षी व्यक्ति की गालिया सुनकर एक विवेकशील व्यक्ति कहता है—आप हमे गाली देना चाहते है, आश्वस्त होकर देते रहे । क्योकि आपके पास यही सम्पदा है । आप यह अपेक्षा करे कि हम भी आपको गालियां लौटाए तो आपके हाथ निराशा ही लगेगी । हमारे खजाने मे एक भी गाली नही है । इसलिए हम गाली देने मे असमर्थ है । यह बात विश्व विश्रुत है कि जिसके पास जो वस्तु होती है, वही दी जाती है । क्या कभी किसी ने किसी को खरगोश के सीग दिए है ?

यह सुनकर वह गाली देनेवाला अपने आप शर्मिन्दा होकर चुप हो जाएगा और वह करेगा ही क्या ?

अतृणे पतितो वह्निः स्वयमेवोपशाम्यति

घास-फूस रहित स्थान मे पडी हुई अग्नि ईंधन न पाकर अपने आप शान्त हो जाती है । इसी प्रकार दुष्ट और गुस्सेवाजो से भिडने मे कोई लाभ नही होता । उनसे तो दूर रहने मे ही फायदा है । राजनीति का मार्ग इससे अवश्य भिन्न है । वहां यह कहा जाता है :—

गण्डक दुष्ट गुलाम, बुचकार्यां बाथ्यां पड़
कूट्यां आवै काम, नरमी भली न राजिया ।

यह कथन धर्मनीति का नही, राजनीति का है । धर्मनीति का तो यह कहना है कि किसी के साथ लडाई-झगड़ा मत करो । अपने आवेश पर नियन्त्रण करो । आवेश या गुस्से को जीतने के बाद अभिमान को ऋजुता—सरलता मे जीतो । गुस्सा और अभिमान का गहरा सम्बन्ध है । जहा गुस्सा है, वहां अभिमान अवश्य मिलेगा । और जहा अभिमान है वहा गुस्सा रहेगा । गुस्से और अभिमान को पराजित करने के बाद दम्भचर्या और लालच को क्रमश कोमलता और सन्तोष-वृत्ति से परास्त करो । साधु-सन्तो का तो यह सबसे पहला कर्त्तव्य है कि वे कषाय से बिलकुल परे रहें । यदि ऐसा नही करते हैं तो वे औरो का क्या कल्याण करेगे । साधुओ को दोनो काम करना है—तरना और तारना, उठना और उठाना, जगना और जगाना । वे वीतराग के मार्ग पर अग्रसर हुए है । उन्हें साहसपूर्वक अन्तरङ्ग शत्रुओ पर आक्रमण करते हुए आगे बढना है । उन्हें अवश्य रास्ता मिलेगा और सफलता उनके चरण चूमेगी ।

दूसरी बात है—समय को कैसे विताया जाए। इस विषय पर भी आप स्वयं सोचे मनुष्य का कीमती समय कितना वेकार जा रहा है। मनुष्य उसके मूल्य को नही समझता। जो अमूल्य समय आपके हाथो मे निकल रहा है, वह मुडकर कभी नही आएगा। जो अपना सारा समय खाने, पीने और सोने जैसी तुच्छ क्रियाओ मे ही गवा देते है, न सत्सङ्ग करते है और न सत्साहित्य का अध्ययन करते है, न आत्मालोचन करते है और न आत्मानुसन्धान—उनका जीवन "अजागलस्तनस्यैव तस्य जन्म निरर्थकम्"—वकरी के गले मे पैदा हुए स्तनो के समान विलकुल निरर्थक है। उनका ही जीवन सफल और सार्थक है जो अपने वहुमूल्य समय को सत्प्रवृत्तियो में लगाते है। कहा भी है :—

काव्यशास्त्रविनोदेन कालो गच्छति धीमताम् ।
व्यसनेनैव मूर्खाणां निद्रया कलहेन वा ॥

विद्वानो का हर क्षण काव्य और शास्त्रो के रसास्वादन मे वीतता है और इधर मूर्खों का हर एक क्षण लड़ाई-झगडे, कलह और निद्रा मे वीतता है। इसका फलितार्थ यह निकलता है जो समय को अच्छी प्रवृत्तियो मे लगाते है वे विद्वान् है और जो समय को दुष्प्रवृत्तियो मे खोते है, वे मूर्ख हैं। संक्षेप में यह समझिए कि जिसने अपना समय व्यर्थ विता दिया उसने अपनी जिन्दगी ही खो दी। इसलिए समय का मूल्य आंकना जरूरी है। एक-एक क्षण का सही उपयोग करना जरूरी है। सायकालीन प्रार्थना मे हम प्रभु से यही तो प्रार्थना करते है कि हे प्रभो ! हमारा प्रतिपल सफल व्यतीत हो। प्रतिपल हम यही सोचें कि हमने जो-जो नियम ग्रहण किए है, उन पर हमारी दृढ़ निष्ठा वनी रहे। यश और पदलोलुपता से परे रहकर हम हर पल आगे वढ़ते रहे। विकारो की श्रृंखला को खण्ड-खण्ड कर हम अपनी अन्तिम मञ्जिल को पाने का सतत प्रयत्न जारी रखे।

वास्तव मे उपरोक्त प्रार्थना ही सच्ची ईश्वर-प्रार्थना है। मंदिर, मस्जिद और धार्मिक स्थानो मे जाकर प्रभु से धन, सम्पत्ति और पुत्र की प्राप्ति के लिए प्रार्थना करना प्रार्थना नही, स्वार्थ-साधना है। यह कितनी वडी अज्ञानता भरी भूल है कि लोग तनिक से चढावे से अपनी सारी ऐहिक मनोकामनाए पूर्ण करना चाहते है। यह देवो के साथ आँखमिचौनी नही तो और क्या है ? हम प्रभु से क्या प्रार्थना करे, प्रार्थना तो हम अपनी आत्मा से ही करते है, प्रभु तो हमारी प्रार्थना के साक्षी है। हम यही कहे कि प्रभो ! हमारे प्राण भले ही छूट जाएं किन्तु हम अपनी मर्यादा पर, अपने प्रण पर सदा अटल रहे। हम यह न कहे कि प्रभो ! हमारे ऊपर कोई विपत्ति का तूफान आए ही नही किन्तु यह कहे कि प्रभो ! अगर हमारे सिर पर विपत्ति का तूफान आए तो हम सहिष्णुतापूर्वक उसका डटकर सामना करें। हम कभी

घबराएं नही। हमारा मनोवल सदा मजबूत रहे। हमारे पल-पल का सदा सदुपयोग हो।

अन्त में मैं सव लोगो से यही कहूगा कि वे कषाय पर विजय पाएं और समय के मूल्य को पहचाने। वे जीवन को अधिक-से-अधिक विकसित और सफल वनाकर स्वार्थ की वृत्तियों को छोड दे। स्वार्थभावना से ऊपर उठकर वे अपने जीवन मे आध्यात्मिक प्रवृत्तियो को स्थान दे, जीवन मे नैतिकता अपनाएं और धर्म को उतारे। इसी आशा के साथ मै आज का वक्तव्य समाप्त करता हू।

जोधपुर,
२३ जुलाई, १६५३

८५. अनेकान्त

जैन-धर्म का नाम याद आते ही अहिंसा साकार हो आँखो के सामने आ जाती है। अहिंसा की अर्थात्मा जैन-शब्द के साथ इस प्रकार घुली-मिली है कि इनका विभाजन नही किया जा सकता। लोकभाषा में यही प्रचलित है कि जैन-धर्म यानी अहिंसा, अहिंसा यानी जैन-धर्म।

धर्म मात्र अहिंसा को आगे किए चलते है। कोई भी धर्म ऐसा नही मिलता, जिसका मूल या पहला तत्त्व अहिंसा न हो। और फिर जैन-धर्म के साथ ही अहिसा का ऐसा तादात्म्य क्यों ? यहा विचार कुछ आगे बढ़ता हैं।

अहिंसा का विचार अनेक भूमिकाओ पर विकसित हुआ है। कायिक, वाचिक और मानसिक अहिसा के बारे मे अनेक धर्मो मे विभिन्न धारणाएं मिलती है। किन्तु बौद्धिक-अहिंसा के क्षेत्र में भगवान् महावीर से जो अनेकान्त दृष्टि मिली, उसी के कारण जैन-धर्म के साथ अहिंसा का अविच्छिन्न सम्बन्ध हो गया।

भगवान् महावीर ने देखा कि हिंसा की जड विचारों की विप्रतिपत्ति है। वैचारिक असमन्वय से मानसिक उत्तेजना बढती है और फिर वाचिक एव कायिक हिंसा के रूप मे अभिव्यक्त होती है। शरीर जड है, वाणी भी जड़ है। जड मे हिसा या अहिंसा के भाव नही होते। इनकी उद्भव-भूमि मानसिक चेतना है। उसकी भूमिकाए अनन्त है।

प्रत्येक वस्तु के अनन्त धर्म है। उनको जानने के लिए अनन्त दृष्टियां है। प्रत्येक दृष्टि मे सत्यांश है। सब धर्मो का वर्गीकृत रूप अखण्ड वस्तु है और सत्याशो का वर्गीकरण अखण्ड सत्य होता है।

अखण्ड वस्तु जानी जा सकती है किन्तु एक शब्द के द्वारा एक समय मे कही नही जा सकती। मनुष्य जो कुछ कहता है उसमे वस्तु के किसी एक पहलू का निरूपण होता है। वस्तु के जितने पहलू है, उतने ही सत्य हैं। जितने सत्य है, उतने ही द्रष्टा के विचार हैं। जितने विचार है, उतनी ही आकाक्षाएं है। जितनी आकांक्षाएं है, उतने ही कहने के तरीके हैं। जितने तरीके है, उतने ही मतवाद है। मतवाद एक केन्द्र-विन्दु है। उसके चारो ओर विवाद-संवाद, सघर्ष-समन्वय, हिंसा और अहिंसा की परिक्रमा होती है। एक से अनेक के सम्बन्ध जुड़ते है, सत्य-असत्य के प्रश्न खड़े होते है। बस, यही से विचारों का स्रोत दो धाराओ मे चलता है—अनेकान्त या सत् एकात

दृष्टि—'अहिसा'; असत् एकांत दृष्टि—'हिंसा।'

कोई बात या कोई शब्द सही है या गलत—इसकी परख करने के लिए दृष्टि की अनेक धाराए चाहिए। वक्ता ने जिस समय शब्द का उच्चारण किया, तब वह किस अवस्था मे था ? उसके आसपास की परिस्थितिया कैसी थी ? उसका शब्द किस शब्द-शक्ति मे अन्वित था ? विवक्षा मे किसका प्राधान्य था ? उसका उद्देश्य क्या था ? वह किस साध्य को लिए चलता था ? उसकी अन्य निरूपण पद्धतिया कैसी थी ? तात्कालीन स्थितिया कैसी थी ? आदि-आदि। अनेक छोटे-वडे बाट मिलकर ही एक-एक शब्द को सत्य के तराजू पर तोल पाते है।

सत्य जितना उपादेय है, उतना ही जटिल और छिपा हुआ है। उसको प्रकाश मे लाने का एकमात्र साधन है 'शब्द'। उसी के सहारे सत्य का आदान-प्रदान होता है। शब्द अपने आप मे सत्य या असत्य कुछ नही है। वक्ता की प्रवृत्ति से वह सत्य और असत्य से जुडता है। 'रात' एक शब्द है वह अपने आप मे सही या झूठ कुछ भी नही। वक्ता यदि रात को रात कहे तो सत्य है और अगर वह दिन को रात कहे तो वही शब्द असत्य हो जाता है। शब्द की ऐसी स्थिति है तब कैसे कोई व्यक्ति केवल उसी के सहारे सत्य को ग्रहण कर सकता है ? इसीलिए भगवान् महावीर ने वताया—प्रत्येक वस्तु के प्रत्येक धर्म को सापेक्ष दृष्टि से ग्रहण करो। सत्य सापेक्ष होता है। एक सत्यांश के साथ जुडे अनेक सत्याशो को ठुकरा कर कोई उसे पकडना चाहे तो वह सत्यांश भी उसके सामने असत्याश बनकर आता है।

दूसरो के प्रति ही नही किन्तु उनके विचारो के प्रति भी अन्याय मत करो। अपने को समझाने की चेष्टा करो। यही है अनेकांत दृष्टि, यही है अपेक्षावाद और इसी का नाम है बौद्धिक अहिसा। भगवान् महावीर ने इसे दार्शनिक क्षेत्र तक ही सीमित नही रखा। इसे जीवन-व्यवहार मे उतारा। चण्डकौशिक साप ने भगवान् को दंश मारा तब उन्होने सोचा—'यह अज्ञानी है। इसीलिए इसने मुझे काटा है। इस दशा में मै इस पर कैसे क्रोध करूं ?' 'संगम ने भगवान् को कष्ट दिए तव उन्होने सोचा—यह मोह-विक्षिप्त है इसलिए यह ऐसा जघन्य कार्य करता है, मै मोह-विक्षिप्त नही हूं इसलिए मुझे क्रोध करना उचित नही।'

भगवान् ने चण्डकौशिक और अपने भक्तो को समान दृष्टि से देखा—इसलिए देखा कि विश्वमैत्री की तुला पर वे दोनो समकक्ष मित्र थे। चण्ड-कौशिक को उसकी उग्रता की दृष्टि मे भगवान् का शत्रु माना जा सकता था किन्तु उसे भगवान् की मैत्री की अपेक्षा उनका शत्रु नही माना जा सकता।

यह अहिसा का उत्कृष्ट रूप है। इसका विकास होना आवश्यक है।

भगवान् महावीर ने स्थान-स्थान पर इस सापेक्ष दृष्टि का उपयोग

किया है। स्कन्दक संन्यासी को उत्तर देते हुए भगवान् ने वताया—विश्व सान्त भी है और अनन्त भी। यह अनेकान्त दार्शनिक क्षेत्र में भगवान् महावीर की मौलिक देन है। दार्शनिक संघर्ष इसके द्वारा वहुत सरलता से सुलझाए जा सकते है। किन्तु कलह का क्षेत्र केवल मतवाद ही नहीं है। कौटुम्बिक, सामाजिक और राजनैतिक अखाडे भी संघर्षों के लिए सदा खुले रहते हैं। उनमे अनेकान्त दृष्टिलभ्य वौद्धिक अहिंसा का विकास किया जाए तो वहुत सारे संघर्प टल सकते है। कही भी भय या द्वैधीभाव वढता है, उसका कारण एकान्त आग्रह ही है। एक रोगी कहे—मिठाई वहुत हानिकर वस्तु है। यह वात सुन स्वस्थ व्यक्ति को एकाएक झेपना नही चाहिए, उसे सोचना चाहिए कोई भी वस्तु निरपेक्ष रूप मे लाभकारक या हानिकारक नहीं होती। लाभ और हानि का प्रसग किसी व्यक्ति विशेप के साथ जुडने से आता है। जहर किसी के लिए जहर है, वही किसी दूसरे के लिए अमृत भी वन जाता है। साम्यवाद, पूंजीवाद को बुरा वताता है और पूजीवाद साम्यवाद को। इसमे भी ऐकान्तिकता ठीक नही हो सकती। प्रत्येक वाद, सिद्धान्त या दर्शन मे कुछ-न-कुछ उपादेय तत्त्व मिल ही जाता है। इस प्रकार हर क्षेत्र मे जैन-धर्म अहिंसा को साथ लिए चलता है।

चिन्ता का विपय यह है कि स्वय जैन लोग इस सिद्धान्त का विशेप उपयोग नही कर रहे है। इसलिए इसका यथेष्ट विकास नहीं होता। यह केवल एक सिद्धान्त की वस्तु वन रहा है। जैन श्रावकों का कर्त्तव्य होता है कि वे इसे व्यवहार मे लाएं। ऐसा हुआ तो दूसरे लोग स्वय इसका मूल्य समझेगे।

८६. समय का मूल्य

जैन परम्परा मे चातुर्मास का समय कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। इस समय साधु-साध्वियों की यात्रा बन्द हो जाती है। तपस्या का क्रम तीव्रता से प्रारम्भ होता है और अन्य धार्मिक अनुष्ठानों मे भी प्राण आ जाते हैं। कुछ समय पहले तक जोधपुर का चातुर्मास कल्पना का विषय था। आज वह कल्पना यथार्थ में बदल गई है। हम लोग चातुर्मास करने आ गए। अब सोचना यह है कि इस समय का उपयोग कैसे करना है ? समय बहुत मूल्यवान वस्तु है। समय जीवन को बनाता है, समाज और देश को बनाता है। बीता समय वापिस नही आता। लोगों को चातुर्मास के समय का अधिकाधिक उपयोग करना है। चातुर्मास के कार्यक्रम में तीन पहलू रहेंगे—उपासना, ज्ञानार्जन और चरित्र-विकास। प्रत्येक धर्मप्रेमी श्रद्धालु का यह कर्त्तव्य है कि वह इस त्रिवेणी मे स्नान कर अपने आपको निर्मल बनाए। उसे क्षण-क्षण जागरूक रहना है कि उससे कोई ऐसा कार्य तो नही हो रहा है जो आत्मा को मलिन करने वाला हो। यह जागरूकता ही समय का सदुपयोग करने में निमित्त बन सकेगी।

जोधपुर,
२४ जुलाई, १९५३

८७. युवकों से

युवक समाज की रीढ़ है। युवको में शक्ति का स्रोत वहता रहता है। वे उस शक्ति का उपयोग करना भी जानते है। पर जव तक उनमे आत्म-विश्वास नही जागेगा, न तो वे अपनी शक्ति पहचान सकेंगे और न उसका उपयोग कर सकेंगे। इस दृष्टि से यह सोचना चाहिए कि युवको का आत्म-विश्वास कैसे वढ़े? उनका आध्यात्मिक पथदर्शन कौन करे? जव तक यह काम नही होगा, उन्हे अपने अस्तित्व का वोध नही होगा।

आत्मविश्वास के वाद विश्वास या आस्था के केन्द्र होते हैं—देव, गुरु और धर्म। आज स्थिति यह वन गई है कि युवको मे देव, गुरु और धर्म के प्रति भी विश्वास कम होता जा रहा है। किसी भी तत्त्व को तर्क की कसौटी पर कसे विना उनका मस्तिष्क उसे मानने को तैयार नही होता। पर तर्क भी तो हर कही काम नही देता। जो कार्य श्रद्धा से वन जाता है, उसे कोरा तर्क नही वना पाता। मूलत: कोरे तर्क पर चलना ही गलत है। आध्यात्मिक क्षेत्र मे आत्मविश्वास तो होना ही चाहिए। वहा विश्वास वढाने वाला एक सूत्र है :—

महाजनो येन गत: स: पन्था:

जिस रास्ते पर महापुरुष चले है, वही रास्ता है। उसी पर चलने का सकल्प पुष्ट होना चाहिए।

युवको के जीवन मे सादगी के स्थान पर आडम्वर को अधिक प्रश्रय मिलता जा रहा है। आखिर उन्हें वातावरण भी तो वैसा ही मिल जाता है। सयमी पुरुपो की संगति के लिए उनके पास समय नही रहता। फिर भला सदाचार, सयम और सद्शिक्षा कहा मिले? पतित कभी पावन वनने का उपदेश नही दे सकता। देनेवाला मिल भी जाए तो उसका प्रभाव नही पडता। जो स्वयं गिरा हुआ है वह दूसरो को क्या उठाएगा? सन्तजन जो स्वयं उठे हुए हैं, उनका जीवन अहिंसा, सत्य आदि सद्‌गुणो से भरा हुआ है, उनका उपदेश ऊपर की आवाज नही, अन्तर का नाद है। ऐसे सन्तजनो के सम्पर्क से धर्म का सम्पर्क होगा। आडम्वर, लडाई और शोपण से हटकर मानव आराधना, साधना और मानसिक उज्ज्वलता को प्राप्त कर सकेगा।

अणुव्रत-योजना केवल वृद्ध लोगो के लिए ही नही, हर व्यक्ति के लिए है। जीवन मे नैतिकता लानेवाली योजना मे वृद्ध और युवक की भेद-रेखा हो भी नही सकती। युवक इसे अपनाकर अपनी शक्ति का परिचय दें। इसमे

राष्ट्र, समाज और स्वयं उनका हित है।

युवक सन्त-सम्पर्क से लाभ उठाएं। उनसे आध्यात्मिक ज्ञानार्जन करें। उन्हे जो स्वर्णिम अवसर मिला है, उसको प्रमाद मे न खोएं। स्कूली शिक्षा में जीविका का दर्शन मिलता है, पर आत्मा का दर्शन नहीं मिलता। वहां आर्थिक और भौतिक पहलुओं पर विश्लेपण किया जाता है, पर नैतिक धरातल तैयार करने की शिक्षा नही मिलती। जीवन को नैतिक या आध्यात्मिक मूल्यों से अनुप्राणित करने के लिए पुस्तकीय शिक्षा के साथ प्रायोगिक प्रशिक्षण देने की अपेक्षा है।

जोधपुर,
२६ जुलाई, १९५३

८८. जीवन-विकास और युगीन परिस्थितियां

जीवन और विकास ये दो शब्द है। हमे दोनो को समझना है। जीवन को समझे विना विकास समझ मे नही आ सकता। जीवन का एक रूप नही होता, एक क्रम नही होता। लाखो प्रकार की जीवन-शैलियां है। उनमे सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण और वहुमूल्य जीवन है मानव का जीवन। सव दर्शनो ने मानव-जीवन की दुर्लभता और वहुमूल्यता एक स्वर से गाई है। प्रश्न हो सकता है कि मानव जीवन मे ऐसा कौन-सा तत्त्व है, जो इसकी इतनी महत्ता गाई जाती है ? उत्तर सीधा है। जो वस्तु थोडी, दुष्प्राप्य और कीमती होती है, उसकी महत्ता अपने आप मान्य हो जाती है। यही वात मानव जीवन मे लागू होती है। वह वहुत कम, दुष्प्राप्य और कीमती है। मानव को सोचना चाहिये कि इस थोडे से समय मे उसका वास्तविक कार्य क्या है ? उसका जीवन कैसा है और किधर जा रहा है ? वह मिथ्या-छलना में न फसे। मिथ्या गर्व से अपने आपको वचाये। हृदय, दिमाग, वुद्धि, यौवन, रूप, संपत्ति, आयु आदि के मिथ्या प्रलोभनो मे फस कर अपनी गति को कुठित न करे। इन चीजो पर वह गर्व किस वात का करे। उपाध्याय विनयविजयजी ने अपने प्रसिद्ध गेय काव्य शान्त सुधारस में कहा—

आयुर्वायुतरत्तरंगतरलं लग्नापदः सम्पदः
सर्वेपीन्द्रियगोचराश्च चटुलाः सध्याभ्ररागादिवत्।
मित्र-स्त्री-स्वजनादिसंगमसुखं स्वप्नेन्द्रजालोपमम्,
तत्कि वस्तु भवे भवेदिहमुदामालम्वनं यत्सताम्॥

आयु वायु की चपल लहरो क तरह अस्थिर है। संपत्ति आपत्तियों से घिरी हुई है। सम्पत्ति है तो पुत्र नही है, पुत्र है तो विनीत नही है, विनीत है तो सुयोग्य नही है। स्वय रोगादि कारणो से इतना निर्वल है, कि सपत्ति का कुछ भी उपयोग नही कर सकता। इन्द्रियो के सारे विषय सान्ध्य-वादलो की तरह क्षणिक सुख देने वाले हैं मित्र, स्त्री, स्वजन आदि का संगम सुख, स्वप्न या इन्द्रजाल के समान मिथ्या है। फिर भला ससार मे ऐसी कौन-सी वस्तु है जो मनुष्य के लिये आनन्द का आलम्वन वन सके, उसके गौरव को वढा सके।

जीवन का लक्ष्य क्या है ? विचार का मूलभूत विन्दु यह है। वह कही वाहर मिलने वाला नही है, उसे अपने भीतर ही खोजना होगा। उसे

खोजने का एक उपाय है आत्मावलोकन। जो व्यक्ति अपने आपको देखना जानता है, वह अपने जागरण, विकास और निर्माण का पथ प्रशस्त कर लेता है। आत्मावलोकन के लिए अपने मन को तैयार करना होगा। उसके लिए एक क्षण भी व्यर्थ खोना ठीक नही। भगवान् महावीर ने जागरण का संदेश देते हुए कहा है—

जरा जाव न पीलेइ, वाही जाव न वड्ढइ।
जाविंदिया न हायंति, ताव धम्मं समायरे॥

जब तक वृद्धावस्था पीडित न करे, रोगो का आक्रमण न हो और इन्द्रियां क्षीण न हो, तब तक जितना हो सके धर्म का आचरण कर लेना चाहिए।

इस विषय मे लापरवाही हुई तो फिर ऐसा अवसर मिलना अत्यन्त दुष्कर है। 'जा जा वच्चइ रयणी न सा पडिनियत्तइ' जितनी रात्रिया बीत रही है, वे लौटकर नही आती। इसलिये 'समयं गोयम ! मा पमायए' गौतम ! क्षण मात्र भी प्रमाद मे मत खोओ।

दूसरा प्रश्न हो सकता है कि जीवन का विकास कैसे होता है ?

जीवन-विकास के अनेक मार्ग है। आज विज्ञान का समय है। युग के प्रभाव से बधे हुए सब लोगो को नई रोशनी चाहिये। हम पुराने और नये के झगड़े मे परे है। मैं न तो कट्टर पुराण-पन्थी हू और न कट्टर नवीन-पन्थी ही। मुझे जहा जो वस्तु अच्छी मिलती है, उसे ग्रहण करने का मैं सदा से पक्षपाती हू। जीवन विकास का सबसे महान् सूत्र है—आत्मानुशासन। लोगो ने विदेशी हकूमत से मुक्त होकर स्वाधीनता का वरण किया। पर मैं समझता हूं उनकी आत्मा पर से अभी भी विदेशी हकूमत नही उठी है। यहां 'विदेशी' शब्द से मेरा मतलब देश-विदेश से नही है। मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि देश की जनता पर उसकी अपनी आत्मा का अनुशासन नही है। वह भौतिक प्रलोभनो से शासित है। इस परानुशासन को हटाये बिना वास्तविक-आजादी कहा ? परानुशासन को हटाने के उपाय है—संयम, चरित्र और नियंत्रण। संयम क्या है ? आत्मानुशासन का विकसित रूप ही सयम है। वह कब होगा ? इस प्रश्न के समाधान मे भगवान् महावीर ने कहा है—

जो सहस्सं सहस्साणं संगामे दुज्जए जिणे।
एगं जिणेज्ज अप्पाणं एस से परमो जओ॥

सग्राम मे सहस्रो योद्धाओ को जीतनेवाले से भी महान् विजेता वह व्यक्ति है, जिसने अपनी आत्मा को जीत लिया। वास्तव मे आत्म-विजय ही सबसे बडी विजय है। इसीलिये तो कहा है—

"अप्पाणमेव जुज्झाहि किं ते जुज्झेण बज्झओ"—ऐ प्राणी ! तू अपनी आत्मा के साथ सग्राम कर, उस पर विजय पा। दूसरों के साथ संग्राम

कर उन पर विजय पाने से तुझे कोई लाभ नही होगा ? अपनी विजय ही परम विजय है। वह संयम और आत्म-नियंत्रण से ही संभव है।

आज का समय वड़ा विचित्र है। लोग अपने आपको नही देखते। वे दूसरो की आलोचना वढ़ चढकर करने को तैयार रहते है। अपने वडे-वड़े दोष भी उनकी दृष्टि मे नही आते। दूसरों के छोटे-से छोटे दोष भी वहुत वडे-वडे रूप मे दिखाई देते है। राजर्षि भर्तृहरि ने ठीक ही कहा है—

परगुणपरमाणुं पर्वतीकृत्य नित्यं निज हृदि विलसन्तः सन्तिसन्तःकियन्तः।

दूसरे के परमाणुतुल्य साधारण गुणो को पर्वत के समान मानकर उनका वर्णन करनेवाले सज्जन पुरुष कितने है ? इसके विपरीत आज ऐसे लोगो की कोई सीमा नही जो अपने पर्वत-तुल्य महान् दोपो को छिपा लेते है और दूसरो के परमाणु-तुल्य अति तुच्छ दोषो को पर्वत के समान महान् वनाकर सर्वत्र उनका ढिढोरा पीटते फिरते हैं। दूसरो के दोषो की आलोचना करने का वही अधिकारी है, जो स्वयं विल्कुल निर्दोप हो। इस सपूर्ण सत्य-सिद्धान्त को हृदयंगम करने के लिये ईसु क्राइस्ट की एक घटना अत्यन्त सामयिक है।

एक वादशाह ने किसी चोर को प्राणदण्ड का आदेश दिया और वह भी नये तरीके से। वादशाह ने सारे नगर में घोपणा करा दी कि नगर के सारे लोग नगर के वाहर चले जाएं। वे एक-एक पत्थर हाथ मे लेकर चोर पर प्रहार करें। नगर के वाहर तमाशा-सा लग गया। एक निश्चित स्थान पर चोर को खडा किया गया। उसकी दशा वड़ी दयनीय थी। वह मन ही मन सोच रहा था कि यदि मैं इस वार वच जाऊ तो आगे फिर कभी चोरी नही करूंगा। एक तरफ पत्थरो का ढेर लगा हुआ था। तमाशा देखने और तमाशा के सक्रिय पात्र वनने के लोभ मे नगर के समस्त लोग वहा पर उपस्थित हुए। चोर पर प्रहार करने के लिये ज्योही लोगो ने अपने हाथो में पत्थर उठाये त्योही ईसामसीह वहां पहुंच गए। वे इस हृदय विदारक दृश्य को देखकर काप उठे। उन्होने एक ऊंचे टीले पर चढकर लोगो को सलाह देते हुए कहा—"वन्धुओ ! मैं आपको कोई आज्ञा देने के लिये नही खड़ा हुआ हू। मैं तो आपको एक विनम्र सलाह देना चाहता हू। वह यह है कि आपमे से चोर को पत्थर से वही व्यक्ति मारे जिसने अपने जीवन मे कभी प्रत्यक्ष या परोक्ष मे किसी प्रकार की चोरी न की हो। आप दो क्षण आत्म-चिन्तनपूर्वक सोचे कि आपने कभी चोरी नही की है ? चोरी का मतलव किसी की तिजोरी तोड कर पैसा चुरा लेना मात्र ही नही है। दूसरे के अधिकारो को छीनना और शोषण करना भी चोरी है।" लोगो पर ईसा की वात का जादू का-सा असर हुआ। उन्होने विचार किया हम चाहें

प्रत्यक्ष चोर न हो, किन्तु परोक्ष चोर तो है ही। एक-एक कर सारे लोग वहा से खिसक गये। किसी ने भी साहुकारी का दम्भ भरकर चोर पर प्रहार नही किया। राजपुरुषो ने सारी स्थिति वादशाह तक पहुचाई। वादशाह ने क्रोधपूर्वक ईसा को पकड कर वुलवाया। ईसा ने राज्य-सभा मे खड़े होकर निर्भीकतापूर्वक वादशाह के सामने सारी घटना सुनाई। उसने वादशाह से यह निवेदन किया "जहांपनाह ! आप भी विचार करे। क्या आप सच्चे अर्थ मे साहूकार है ? क्या आपने किसी के अधिकारो को वलपूर्वक नही छीना है ?" वादशाह अवाक् रह गया। ईसा ने आगे कहा—"मै यह नही कहता कि चोर को दण्ड नही देना चाहिये। किन्तु ऐसा दण्ड तो नही होना चाहिये जो नीति की सीमा को ही लाघ जाए। दण्ड मे भी एक नीति होती है, उसका अतिक्रमण तो नही होना चाहिये।" वादशाह ईसा के आगे नतमस्तक हो गया। उसने अपना अपराध स्वीकार करते हुए उसी समय चोर को भविष्य मे चोरी न करने की शिक्षा देकर छोडने का आदेश दिया। यही वात आज के लिये है। लोग अपने आपको नही देखते। औरो पर निरन्तर कटु-आक्षेप करते रहते है। आज जो वडे-वडे अधिकारी कानून और नियम वनाते हैं, वे ही सबसे पहले उन कानूनो और नियमो की अवहेलना करते है। कानून वनानेवाले ही जव कानून का भग करेगे तव दूसरे कैसे पालेगे ? और कैसे वे दूसरो से कानून पालन की आशा भी कर सकेगे। यह न तो न्याय है और न है मानवीय आदर्श।

कुछ लोग औरो को सुधारने की वात करते है, किन्तु स्वयं सुधरने की वात नही करते। औरों को सुधारने से तो वेहतर है व्यक्ति पहले स्वयं सुधरे। स्वयं के सुधार को भूलकर आज लोग पर-सुधार की चिन्ता में संलग्न है। यह अनुचित है। हर व्यक्ति को आत्मावलोकन कर देखना है कि उसके सुधार की सीमा क्या है ? और मेरी सुधार की गति किस रफ्तार से चल रही है ? मै अपने साथ छलना, दंभ और अन्याय तो नही कर रहा हूं ? यह निश्चित सत्य है कि विना आत्म-चिन्तन के आत्म-नियन्त्रण जागृत नही हो सकता।

आत्म-नियन्त्रण के अभाव मे संयम सम्भव नही और संयम के विना विकास की बाते गगन कुसुम की तरह निरर्थक है। इन परमार्थ अथवा सारगर्भित वातो को कौन सोचे ? साधुओ ने आत्म-विकास की जागृति के लिये कठोर सयम का मार्ग अपनाया है। आत्मा को साधा है। इनकी वेश-भूषा मे न उलझकर मौलिक तथ्य को समझना है। आप यदि पूर्ण संयम की साधना नही कर सकते तो अशत. ही उसका पालन करे। ऐसा करके ही आप वहुत-सी वुराइयो से वच सकेंगे। जब तक ऐसा नहीं किया जायेगा, तव तक आत्म-विकास सम्भव नही है।

बुराई से बुराई कभी मिट नही सकती। हिंसा से हिंसा बढ़ती ही है। हिंसा से हिंसा को मिटाने का प्रयत्न अग्नि को बुझाने के लिये उसमे घृत डालने के समान है। हिंसा का प्रतिकार अहिंसा से ही किया जा सकता है। अहिंसा की प्रबल शक्ति के सामने हिंसा अपने आप निस्तेज हो जाती है। लेकिन यह सोचना गलत होगा कि ससार से हिंसा बिल्कुल खत्म हो जाएगी। क्योकि जब तक काम, क्रोध, मद, लोभ आदि दुर्गुणो का अस्तित्व रहेगा, तब तक हिंसा का अभाव होना असम्भव है। इस स्थिति में अहिंसा को अधिक आदर और उच्च दृष्टि से देखना मानव जाति के हित मे है। इसके लिए हिंसा और अहिंसा की मात्रा पर ध्यान रखना आवश्यक है। हिंसा संसार से मिटेगी नही, यह शाश्वत सत्य है, फिर भी उसकी मात्रा अनावश्यक बढ न जाए, इस ओर जागरूक रहना भी लाभदायक है। इसके साथ-साथ अहिंसा की मात्रा और प्रभाव क्रमशः अधिकाधिक बढता रहे। वह हिंसा को नियमित रखे। उसे ससार पर हावी न होने दे, उसे उच्छृङ्खल न होने दे। अपनी प्रधानता कायम रखे, इस तथ्य को आंखो से ओझल न होने देना ही हिंसा की मात्रा को रोकने का प्रयास है।

आज संसार मे युद्ध की विभीषिका छाई हुई है। कुछ युद्ध को शांति का साधन मानते है। पर उससे किसको शान्ति मिली! आज तक का इतिहास बताता है कि कभी युद्धो से न तो शान्ति का प्रसार हुआ है और न शान्ति की स्थापना ही। आखिर शान्ति और मैत्री तो अहिंसा के द्वारा झगडो को निपटाने मे ही स्थापित की जा सकती है। अभी-अभी कोरिया मे युद्ध-विराम सधि हुई है। पत्र-पाठक जानते है कि वहां कितनी नृशस हिंसा हुई। पाच वर्षो के लम्बे काल तक उस छोटे से देश मे रणचण्डिका हाथ में खून का खप्पर लेकर घूमती रही। तीस लाख मनुष्य अग्नि मे पतगो की तरह उस युद्धाग्नि मे होम दिए गये। ऐसा सोचने से ही दिल दहल उठता है। खेद है, जहा एक व्यक्ति के खून के सुनने मात्र से मनुष्य के रोम खडे हो उठते है वहां इस नृशंस हत्या से उन युद्ध-प्रिय देशो के कानों पर जू तक नही रेंगी। इतना ही नही हुआ बल्कि कहा जाता है इस अर्से में वहा के करोडों लोग बेकार हो गये। आखिर हुआ क्या? पाच वर्ष के दीर्घकालीन युद्ध से उनकी पारस्परिक गुत्थी तिल भर नही सुलझी। आखिर जब युद्ध-जनित अशान्ति से सब हार गये तब विवश होकर दोनो पक्षो ने युद्ध-विराम सधि पर हस्ताक्षर किये। अगर यह पाच वर्ष पहले हो जाता तो इस प्रकार की नृशस हत्या का भयानक-दृश्य विश्व मे क्यो उपस्थित होता? खैर! अब तो सबक मिला। लोग यह समझ गये कि जिस प्रकार आग घी से उपशान्त नहीं होती, उसी प्रकार युद्ध-से युद्ध की प्रचण्डता खत्म नही होती। युद्ध की प्रचण्डता अहिंसा और मैत्री से ही समाप्त हो सकती है।

यह ठीक ही है जैसे चढते ज्वर मे दवा अपना प्रभाव नही दिखा सकती, कुछ प्रकोप शान्त होने पर ही उसका प्रभाव प्रतीत होता है, वैसे ही खून के उवाल, उन्मत्तता और विह्वलता मे अहिसा के उपदेश को व्यक्ति पचा नही सकता। खून मे शीतलता आने पर, उन्मत्तता तथा विह्वलता के हटने पर ही अहिसा के उपदेश को वह ग्रहण कर सकता है। अहिसा और मैत्री जटिल से जटिल समस्याओ को सुलझाने मे समर्थ हो सकती है। यही इन अग्नि-परीक्षाओ मे खरी उतर सकती है। पश्चिमी सभ्यता वाले लोग इस मौलिक तथ्य को दृढता और निश्चयपूर्वक समझें।

मेरे अभिमत से समस्त सुधार और विकास का आधार अध्यात्मवाद है। अध्यात्मवाद क्या है? इसे समझना अधिक कठिन नही है। मनुष्य आत्मा, परमात्मा, पुनर्जन्म आदि गभीर प्रश्नो मे उलझ जाते हैं। वास्तव में ये कोई बडी उलझनें नही है। फिर भी ये कुछ गहन और गम्भीर विपय तो है ही। अध्यात्मवाद का सीधा-सा अर्थ है अपने आपका वाद। दूसरे शब्दों मे— 'अपने लिये अपना नियन्त्रण, अपना संयम'। आशंका हो सकती है कि—आत्मा कहा है? परमात्मा कहा है? मै कहता हू आप इन वातो को एक वार छोड दीजिये सवसे पहले इतना ही समझना है कि किसी भी व्यक्ति को अपना जीवन विगाडना नही है। आत्म-नियत्रण इस जीवन मे तो सुख और शान्ति-प्रद है ही, अगर अगला जीवन भी है तो उसके लिए भी वह ठीक है। जोधपुर की ही वात है एक राज्याधिकारी पूज्य गुरुदेव कालूगणी के पास आकर वोले—'महाराज! आपसे एक सवाल है। आप जो सारी सुख-सामग्रियो को ठुकराकर इतनी कठोर साधना कर रहे है, आत्म-नियन्त्रण कर रहे है, अगर अगला जीवन नही हुआ तो आपकी यह कठोर तपश्चर्या और आत्म-नियन्त्रण यो ही व्यर्थ जाएगा और आप जीवन के सुखो से भी वंचित रहेगे।' पूज्य गुरुदेव ने उनके प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा—"आपकी वात सही हुई तो इतना ही तो होगा कि हम इस जीवन की भौतिक सुख-सुविधाओ से वंचित रह जायेगे। किन्तु हमारी वात ठीक निकल गई तो वे लोग क्या करेगे जो साधना और आत्म-नियन्त्रण को व्यर्थ समझकर भौतिक सुख-सुविधाओ मे आकण्ठ डूवे हुए है। हमे यह समझना है कि आत्म-नियन्त्रण तो सदा ही अच्छा और उपयोगी है। यदि अगला जन्म है तव भी और यदि नही है तब भी। यह स्पष्ट है कि जव तक आत्म-नियन्त्रण नही होगा तव तक आत्म-भय भी नही होगा। आत्म-भय के अभाव मे आत्म-विकास का स्वप्न ही कैसा? आत्म-भय वह उपक्रम है, जो व्यक्ति को गलत काम करने से वचा लेता है। जिस व्यक्ति को आत्मपतन का भय नही होता वह सोचता है कि जहां कोई देखेगा वहां पाप नही करेगा। जहा कोई देखनेवाला नही है वहां कुछ भी किया जा सकता है। ऐसे व्यक्ति यह नही सोचते कि अन्य कोई

देखे या न देखे, किन्तु वह स्वयं तो देख ही रहा है। इसके विपरीत जहां आत्म-भय होगा वहा व्यक्ति यही सोचेगा कि कोई देखे या न देखे, मैं तो देख ही रहा हूं। मैं ऐसा कोई भी काम कैसे कर सकता हूं, जिससे मेरी आत्मा का अहित हो। ऐसा चिन्तन ही मनुष्य को असत् से निवृत्त कर सकता है।

अध्यात्मवाद की नीव धर्म पर टिकी हुई है। धर्म क्या है? जो आत्मा की शुद्धि का साधन है वही धर्म है। धर्म प्रलोभन, वलात्कार और वलप्रयोग से नही होता। धर्म जिन्दगी को वदलने से होता है। अन्याय, अत्याचार और शोपण से भय रखने से होता है, जीवन को सुधारने मे होता है। जिन्दगी को वदलो। अन्याय से डरने से और स्वयं को जागरूक रखने से ही व्यक्ति धार्मिक वन सकता है।

लोग कहते है आज की शिक्षा-प्रणाली ठीक नही है। मैं कहता हू कि वह अपूर्ण है। जिस शिक्षा-प्रणाली मे आत्मानुशासन और आत्म-जागरण को स्थान नही, वह शिक्षा-प्रणाली अधूरी ही रहेगी। अर्ध विद्या भयकरी—जहां अधूरापन है, अपूर्णता है, वहां अभय कहा से उतरेगा? विद्या की पूर्णता वौद्धिक और भावात्मक विकास के सन्तुलन मे है। 'सा विद्या या विमुक्तये' विद्या वही है, जो मुक्ति के लिए होती है। यह उद्देश्य आत्मानु-शासन से जुडा है। वह शिक्षा शिक्षा ही क्या, जिसमे आत्मानुशासन और आत्म-जागृति के तरीके नही वताये जाते तो वही शिक्षा प्रशस्त और आव-श्यक है जो आत्म-नियन्त्रण और आत्म-संयम का पाठ पढ़ाये। इस विपय मे शिक्षकों को विशेष जागरूक होने की आवश्यकता है। उनके हाथो मे देश की सवसे वड़ी सम्पत्ति है। मै धन-दौलत को वास्तविक सम्पत्ति नही मानता। वास्तविक सम्पत्ति है छात्र और छात्राए। यह सम्पत्ति शिक्षको के हाथ मे है। शिक्षक उन्हे जिधर वहायेंगे वे उधर ही वहेगे। इसलिये मेरा उनसे अनुरोध है कि वे ऐसी महान् सम्पत्ति का दुरुपयोग न करे। शिक्षक स्वयं अपने विकास, जागरण, अध्ययन और निर्माण से इस सम्पत्ति का विकास, जागरण, उन्नयन और निर्माण करे। जैसे एक दीपक से सहस्रो दीपक जलाये जा सकते है उसी प्रकार उन्नत जीवन से कोटि-कोटि छात्र-छात्राओ का जीवन वनाया जा सकता है। ऐसा करने वाले शिक्षक देश और राप्ट्र-हित करने मे वहुत वडा हाथ वटा सकते है।

व्यक्ति-सुधार समाज-सुधार की रीढ है। मुझे समाज, जाति, देश या राप्ट्र-सुधार की चिन्ता नही, व्यक्ति-सुधार की चिन्ता है। मेरा यह निश्चित अभिमत है कि व्यक्ति सुधार ही सव सुधारो की मूल भित्ति है। समाज किस चीज का नाम है? व्यक्तियो का समूह ही तो समाज है। यदि व्यक्ति-व्यक्ति सुधरा हुआ होगा तो परिवार, समाज और राप्ट्र अपने

आप सुधरे हुये होगे। व्यक्ति अपने सुधार को ताक पर रख, समाज, देश और राष्ट्र-सुधार की बड़ी-बड़ी गप्पे हांकता है। व्यक्ति सुधार के बिना राष्ट्र सुधार की कल्पना—"दुविधा मे दोनों गये माया मिली न राम" इस कहावत को चरितार्थ करने वाली है। हमें निश्चित रूप से स्वीकार करना चाहिए कि व्यक्ति सुधार के बिना समाज और देश-सुधार होना असम्भव है। व्यक्ति स्वयं सुधरकर ही दूसरों को सुधारने का सार्थक प्रयास कर सकता है।

जीवन सुधारने का सबसे बडा सूत्र है—'किं नाम होज्ज तं कम्मयं जेणाहं दुग्गइ न गच्छेज्जा"। वह कौन-सी प्रक्रिया है जिससे कि मैं दुर्गति में न जाऊ, न मेरा पतन हो। गहरी आस्था और लगन के साथ खोज की जाए व्यक्ति को अपने आप वह प्रक्रिया मिलेगी, जो जीवन के लिये श्रेय है। उस प्रक्रिया का एक प्रारूप है—अणुव्रत-योजना। जिसको अपनाकर व्यक्ति चारित्रिक स्तर ऊंचा उठा सकता है और युगीन परिस्थितियों के सन्दर्भ में अपना रास्ता स्वयं प्रशस्त कर सकता है। एक बात पर ध्यान अवश्य देना है कि यह योजना न तो आर्थिक समस्याओ को सुलझाने की योजना है और न कोई वाद-विवाद सुलझाने की योजना है। यह तो व्यक्ति के जीवन-सुधार की योजना है। इस योजना मे मुख्य अहिंसा आदि पांच अणुव्रतो को व्यावहारिक रूप देने के लिए कुछ नियमो का विस्तार किया गयाहै। जनता को क्या अपेक्षा है। इस पहलू के दीर्घकालीन सूक्ष्म चिन्तन का यह परिणाम है। सभी वर्गों के लोगो ने इस योजना को पसन्द किया है। वे इसकी प्रशंसा भी बहुत करते हैं। किन्तु मुझे इससे प्रसन्नता नही होती। मेरी प्रसन्नता तब बढेगी जब लोग इस जीवन-विकास की योजना को अपने जीवन में स्थान देगे। इस योजना का सारा कार्यक्रम अत्यन्त विशाल और उदार दृष्टिकोण मे बनाया गया है। सम्प्रदाय, जाति, वर्ण, लिंग आदि की इसमे गन्ध तक नही मिलेगी। अगर यह योजना आपके जीवन-विकास का हेतु बनी तो मैं अपने प्रयास को सफल समझूंगा।

आज वैज्ञानिक युग है। सब चीजो का अकल्पित विकास हो रहा है। क्या हृदय का ? क्या दिमाग का ? क्या बुद्धि का ? और क्या सुख-सुविधाओ का ? कल ही समाचार पत्र मे देखा—'न्यूयार्क मे ऐसे यंत्र का आविष्कार किया गया है, जो बिजली की सहायता के बिना दो घण्टे तक का वार्तालाप, प्रवचन, संगीत आदि रिकार्ड कर सकेगा।' इस तरह आज आये दिन नये-नये विकास के सूत्र सामने आ रहे है। ऐसी स्थिति मे क्या जीवन का विकास आवश्यक नही है ? खाना, पीना, सोना, सिनेमा देखना आदि जीवन के साध्य नही है। जीवन का साध्य मानवता है। सबसे बडी भूल आज यही हो रही है कि लोग इस महान् साध्य को भूल गये है। उनका

दृष्टिकोण भ्रान्त वन गया है। यही कारण है कि वे दुर्व्यसनो के दास वने हुये है। मजे की वात तो यह है कि लोग दुर्व्यसनो के गुलाम होते हुए भी इस गुलामी को समझते तक नही है। इसको मिटाने का तरीका यही है कि लोग पहले इस गुलामी को समझे और उसके वाद पद एव अधिकार की लिप्सा, अन्याय, दुराचार, शोपण आदि को छोड़कर जीवन-विकास के क्षेत्र मे आगे कदम वढ़ाए।

आज अपेक्षा इस वात की है कि मनुष्य वहिर्मुखी दृष्टिकोण को त्यागकर अन्तर्मुखी दृष्टिकोण अपनाए। अन्तर्मुखी दृष्टिकोण का विकास आत्मानुशासन की शिक्षा और उसके महत्त्वपूर्ण तरीके हमे विरासत मे मिले हैं। तेरापन्थ के आद्यप्रवर्त्तक महामहिम आचार्य भिक्षु ने हमे सवसे पहले वताया कि यदि तुम आत्म-विकास करना चाहते हो तो सवसे पहले अपने अह का विसर्जन करो। अपने मन को आचार्य के चरणो मे समर्पित करो और आचार्य के अनुशासन को ही विकास का आधार मानकर चलो। तेरापन्थ संघ के सव सदस्यो ने अन्तःकरण से इस निर्देश को मान्य किया। इसका नाम ही आत्मानुशासन है। यही जीवन-विकास का मूलमन्त्र है।

अन्त मे मैं आपसे यही कहूंगा कि आप 'जीओ और जीने दो' के अधूरे सिद्धान्त को छोड़कर 'उठो और उठाओ' जैसे पूर्ण, सर्वांगीण और व्यापक सिद्धान्त को स्वीकार कर अपने विकास मे जुट जाये। यह वहुमूल्य अल्पकालिक और दुष्प्राप्य मानव-जीवन तभी सफल वनेगा जव आप आत्म-भय, आत्म-नियन्त्रण आत्मानुशासन और आत्म-संयम जैसे मानवीय आदर्शों को अपनाकर आत्मविकास की दिशा मे अग्रसर होते रहेगे।

जोधपुर
२ अगस्त, ५३

८९. शिक्षा का कार्य है चरित्रनिर्माण

शिक्षा और चरित्र का अविनाभावी सम्वन्ध है। जीवन में शिक्षा आए और चरित्र न आए, यह असंभव घटना है। शिक्षा कारण है और चरित्र उसका कार्य है। चरित्र के बिना शिक्षा भारभूत बन जाती है। इसलिए ज्ञानवल और चरित्र बल-दोनो को एक साथ पुष्ट करना आवश्यक है।

आज देश में विद्यालयो व महाविद्यालयो की कमी नही है। पर शिक्षा की निष्पत्ति उन विद्यालयो को सार्थक नही वना रही है। शिक्षा केवल अक्षर-ज्ञान तक ही सीमित रह गई है। उसे जीवन-विकास के साथ नही जोडने से वह विद्यार्थी को उच्छृङ्खलता की ओर वढती जा रही है। ऐसी हालत मे छात्राओ को चारित्रिक विकास की शिक्षा देना अत्यन्त आवश्यक है। इस अपेक्षा की पूर्ति के लिए यह भी जरूरी है कि शिक्षिकाएं भी अपने जीवन को चरित्रशील और समुन्नत वनाये। उनके सुसंस्कारो से छात्राएं भी पथ-प्रदर्शन पा सकेगी। वचपन के सुसस्कार जीवन भर के लिये स्थायी होते है। प्रारम्भ मे अच्छी तरह से सार-सम्भाल व शिक्षा हो तो विद्यार्थी अपना समाज व राष्ट्र का वहुत कुछ हित साध सकता है।

जोधपुर,
४ अगस्त, ५३

१०. श्रावक का दायित्व

भगवान महावीर ने धर्म को दो रूपो में विश्लेपित किया अनगार धर्म और अगार धर्म। अनगार धर्म का पालन मुनि करते हैं। मुनि धर्म की साधना मे स्वयं को अक्षम मानने वाले लोग अगार धर्म को स्वीकार करते हैं। अगार धर्म, गृहस्थ धर्म और श्रावक धर्म—ये सव पर्यायवाची शव्द है। इस युग मे श्रावक समाज आध्यात्मिक ज्ञान या तत्त्वज्ञान से दूर होता जा रहा है। अगर कोई उनसे पूछे कि तुम्हारे धर्म की व्याख्या क्या है ? तुम्हारे मत के अनुसार परमात्मा क्या है ? वे कह सकते है कि साधु-साध्वियों के पास चलो। यह ठीक है पर क्या उनका भी दायित्व नही है कि वे आध्यात्मिक ज्ञान वढाए। युवक इस क्षेत्र मे पीछे न रहकर अपनी मेधा का परिचय दे। पिछले वर्ष सरदारशहर मे एक शिक्षण-शिविर की आयोजना की गई थी। उसमे काफी भाई-वहनों ने आध्यात्मिक शिक्षा का लाभ लिया। इसी तरह यहां भी कोई आयोजना हो सके तो सम्भवतः वहुत से भाई-वहन तत्त्व-ज्ञान से लाभ उठा सकेंगे। यहां के भाई-वहन काफी शिक्षित भी है। उनके लिए यह कार्य सहज रूप मे आगे वढ़ सकता है।

अणुव्रती संघ की योजना आपके सम्मुख है। इसका महत्त्व स्वयं प्रमाणित होता जा रहा है। जो अणुव्रती वने है, उनका जीवन कितना शातिमय और सन्तोषमय वन रहा है, यह किसी से छिपा हुआ नही है। एक वर्ष के साधना-काल का भी प्रावधान है। इस काल में वे अपने आपको तोल सकते है। श्रावक लोग सचेत होकर चिन्तन करे। छोटी-मोटी वाधा को देख घवराएं नही। कोई भी काम ऐसा नही है, जिसे आसानी से न किया जा सके। मेरा तो यह निश्चित विश्वास है कि आप सवका मनोवल, सकल्प वल और परिस्थितियो से लोहा लेने की मानसिकता आपको कठिन-से-कठिन काम मे आगे वढने का साहस देती रहेगी।

जोधपुर
८ अगस्त, ५३

९१. क्या भारत स्वतंत्र है ?

समय का प्रवाह निरन्तर चलता है। इस बात को सब जानते हैं। यह प्रकृति का नियम है। प्रकृति-विजयी होने का गर्व करनेवाला मनुष्य इस नियम का अतिक्रमण करता चले, इसकी उपेक्षा करे और सोचे कि वह समय को बांधकर रख लेगा, समय के वार को झेल लेगा, बुढापे को रोक देगा और मौत को टाल देगा तो यह उसका दभ होगा। जो व्यक्ति इस दंभ के व्यूह को तोड डालते है, वे जीवन के एक-एक क्षण का अकन करते हुए सयम की साधना करते है।

भारत के ऋषियो ने गाया है—'हाथ पर सयम करो' पैर पर संयम सयम करो, वाणी पर सयम करो और इन्द्रियो पर संयम करो।' संयम क्यों? इस प्रश्न का संक्षिप्त उत्तर यही है कि यह दोप-निरोधक टीका है। आजकल रोग-निरोधक टीके लगाये जाते है। इसलिए कि स्वस्थता बनी रहे, किन्तु दोप-निरोधक टीका लिए बिना स्वस्थता आयेगी कहा से? और टिगेगी कैसे? इस पर विचार करना अपेक्षित है।

सयम से आत्मानुशासन पैदा होता है। आत्मानुशासन से स्वतन्त्रता का स्रोत निकलता है। स्वतन्त्रता का उत्सव मनाने वालो को यह भी सोचना चाहिए कि स्वतन्त्रता की प्राप्ति और सुरक्षा का मौलिक उपाय क्या है ?

'स्वतन्त्रता मे सुख है और परवशता में दु.ख है', यह सत्य या तो सत्य नही है या इसको सही रूप से पकडा नही जा रहा है। अवश्य ही कही भूल है। नही तो स्वतन्त्र होने के बाद इतना आर्त्त-स्वर क्यो सुनने को मिलता? आर्त्त-स्वर का एक मात्र कारण है आत्म सयम या आत्मानुशासन का अभाव। उसके बिना स्वतन्त्रता का आनन्द मिल ही नही सकता।

मै समझता हू, भूल सिद्धान्त मे नही; भूल उसे पकडने में हो रही है। स्वतन्त्रता अपना निजी गुण है। अन्याय के सामने न झुकनेवाले विदेशी शासन मे भी स्वतन्त्र रह सकते है और अन्याय के प्रवर्त्तक स्वदेशी सत्ता मे भी स्वतंत्र नही बनते। विदेशी सत्ता चली गई। वही अगर स्वतंत्रता होती तो आज सभी सुखी होते? सुख आकांक्षा के विस्तार मे नही, सीमाकरण में है। पदार्थ की प्राप्ति मे सुख और अप्राप्ति मे दुःख, यह सुख-दुःख के सही स्वरूप को नही समझने का परिणाम है।

विदेशी सत्ता हटने पर आत्मानुशासन आना चाहिए था, वह आया

नही। इसलिए सच्ची स्वतंत्रता नही आई। राजनीतिक स्वतंत्रता का छठा उत्सव मनाया जा रहा है। आर्थिक स्वतत्रता के लिए अनेक योजनाए चल रही है किन्तु अपनी स्वतंत्रता के लिए, अन्याय और लडाइयो के विरुद्ध लडने के लिए, कठिनाइयो और परिस्थितियो को सहने के लिए जो स्वतत्रता होनी चाहिए उसके लिए वहुमुखी प्रयत्न नही चल रहे है। यदि आपको सही अर्थ मे स्वतत्र वनना है तो आज के दिन आप लोग सोच-समझकर अणुव्रत के आदर्शो पर चलने की प्रतिज्ञा स्वीकार करे।

भारत की भूमि, त्याग और तपस्या की भूमि है। इसका सास्कृतिक और आध्यात्मिक गौरव जो निष्प्राण-सा लग रहा है, वह आज भी भारत की जनता से त्याग और तप की शक्ति चाह रहा है। मैं विश्वास करता हू कि लोग जीवन का सिंहावलोकन करेगे, तप त्याग की शक्ति वढाएंगे और सही अर्थ में स्वतन्त्रता का अनुभव करेगे।

जोधपुर
१५ अगस्त,५३

१२. महत्त्वपूर्ण वय कौन-सी ?

मनुष्य जीवन को कई भागों मे बाटा जा सकता है। शैशव, कैशोर्य, तारुण्य और वृद्धावस्था—ये चार अवस्थाएं मुख्य है। इनमे सर्वाधिक महत्त्व वाली अवस्था कौन-सी है, यह एक प्रश्न है। एक दृष्टि से विद्यार्थी-जीवन जीवन का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण भाग है। यह वह समय है, जब भावी-जीवन का निर्माण होता है। यह अति आवश्यक है कि इसका उपयोग अत्यन्त सावधानी एवं जागरूकता के साथ हो। विद्यार्जन का लक्ष्य जीविकोपार्जन ही नही है। उसका लक्ष्य है—जीवन का विकास, बंधन से मुक्ति, चारित्र्य का अभ्युदय। व्यथा के साथ कहना पडता है कि आज के विद्यार्थी, शिक्षक और अभिभावक इस आदर्श को भूलते जा रहे है। उसका परिणाम भी सामने है। शिक्षा की दिन पर दिन प्रगतिशीलता के बावजूद लोगों का जीवन अशान्त, असन्तुष्ट, और व्याकुल है। इसके लिए सबसे बडी आवश्यकता यह है कि शिक्षाक्रम में परिवर्तन हो। नैतिकता और सदाचार को शिक्षा के साथ जोडा जाए। इन्हे जोडने के लिए केवल उपदेश नही दिया जाए, प्रयोग कराया जाए। क्योंकि जब तक सदाचार नही आता है, अनुशासन नही आता है, शिक्षा भार बन जाती है। विद्यार्थियों को मैं विशेष रूप से कहूगा कि वे चरित्र अर्थात् अहिंसा, सत्य व ब्रह्मचर्य के आदर्शो को अपनाएं इससे वे जीवन मे एक नए प्रकाश का अनुभव करेगे।

अध्यापक इस सत्य को जानते है कि आज के विद्यार्थी, भावी समाज व राष्ट्र के निर्माता है। अध्यापकों पर उनके जीवन-निर्माण की महत्त्वपूर्ण जिम्मेवारी है जिसे उन्हें निभाना है। राष्ट्र की बहुत बड़ी निधि उनके हाथो सौंपी गई है, जिसको उन्हें विकसित और उन्नत बनाना है। यदि अध्यापकों का चरित्र स्वय ऊंचा नही होगा तो विद्यार्थियों पर क्या असर होगा ? इसीलिए उन्हे चाहिए कि वे स्वयं अपने जीवन को ऊंचा उठाते हुए विद्यार्थियों के जीवन-विकास के लिए पुरुषार्थ का नियोजन करे।

जोधपुर

१८ अगस्त, ५३

१३. जीवन विकास के सूत्र

ससार का प्रत्येक प्राणी सुखी वनना चाहता है। किसी के मन में मुक्ति की चाह हो या नही किन्तु सुख का आकर्षण सवको है। सुख, शान्ति, आनन्द, तोप—इन सवका सम्वन्ध चेतना के जागरण से है। जागरण की वात सभी को प्रिय है। पर देखना यह है कि जागरण की प्रक्रिया क्या है? उसके साधन क्या है? साधनो के विना सिद्धि की वात अधूरी है। यहां मैं यह भी स्पप्ट कर दू कि जो लोग अच्छे साध्य के लिये अशुद्ध साधनो का प्रयोग करते है उनसे मेरा अभिमत विल्कुल भिन्न है। मैं मानता हूं कि अच्छे साध्य के लिये साधन भी अच्छे हो। आचार्य भिक्षु ने साध्य-साधन की एकता पर वल दिया। उन्होने कहा शुद्ध साध्य की प्राप्ति के लिए साधनो की शुद्धि अनिवार्य है। अन्यथा साध्य की शुद्धता के आगे प्रश्न खडा हो जाता है।

जागरण के साधन क्या है? इस विपय मे कोई नया चिन्तन न कर ऋपि-महर्पियो की वाणी को आधार वनाकर चलना है। उन्होने अपनी महान् साधना के द्वारा मन्थन कर जो अमरतत्त्व निकाले हैं हमे उनका ही उपयोग करना चाहिए। उन्होने जागरण के साधनो की विवेचना करते हुए तीन प्रकार की आराधना वताई है—"तिविहा आराहणा पण्णत्ता—नाणाराहणा, दंसणाराहणा, चरित्ताराहणा' ज्ञान, दर्शन और चारित्र इन तीन तत्त्वो की आराधना से जागरण की कल्पना आकार ले सकती है।

पहला साधन है ज्ञान। भगवद्गीता मे श्रीकृष्ण ने कहा है—

नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।

पवित्र से पवित्र और उत्तम से उत्तम तत्त्वो का सकलन किया जाए तो इस ससार मे ज्ञान के समान दूसरा कोई तत्त्व नही है। ज्ञान क्या है? साक्षरता को मैं ज्ञान नही मानता। वह तो ज्ञान का साधन मात्र है। ज्ञान तो वह है जिससे गुण-दोप की परख होती है, हेय-उपादेय की चेतना जागृत होती है, हिताहित का वोध होता है। इसके लिये आज की शिक्षा-प्रणाली अधूरी है। उसमे त्याग, चारित्र और आत्म-विकास जैसे मूलभूत तत्त्वो को स्थान नही दिया गया है। चिन्ता की वात इतनी-सी है कि जो ज्ञान आत्म-विकास का उज्ज्वल साधन था आजकल उसे मात्र आजीविका का साधन वना दिया गया है। पेट-पालन तो एक अज्ञानी, अशिक्षित भी कर सकता है। आजीविका के लिए व्यक्ति को वहुत कुछ करना पडता है। पर वही तो जीवन का उद्देश्य नही है। चरित्र-विकास के महान् उद्देश्य को सामने रख

कर ज्ञान प्राप्त किया जाए तो आजीविका का प्रश्न सहज ही समाहित हो जाएगा। पर केवल आजीविका मे अटक गए तो आत्मविकास या चरित्र-विकास का लक्ष्य पूरा कैसे होगा ?

ज्ञान और विज्ञान मे कोई वहुत अन्तर नही। विशिष्ट ज्ञान यानी अन्वेपण व खोजपूर्ण जो प्रायोगिक ज्ञान होता है, वही विज्ञान है। आज विज्ञान का सर्वत्र वोलवाला है। यद्यपि वह वुरा नही है, किन्तु उसका दुरुपयोग वुरा है। विचारणीय वात यह है कि उसका उपयोग कैसा होना चाहिये ? यदि उसका उपयोग विध्वंस के लिये किया जाता है तो अवांछनीय है।

ज्ञान के विपय में भारत का पिछला इतिहास स्वर्णिम रहा है। ज्ञान की विशेपता के द्वारा वह अन्य सव देशो का गुरु माना जाता था। उस समय ज्ञान की कुञ्जी यहां के ऋपि-महर्पियो के हाथ में सुरक्षित रहती थी। वे विना परीक्षा किये किसी को ज्ञान नही देते थे। जिसको वे ज्ञान का अधिकारी या योग्य समझते थे उसी को ज्ञान देते थे। इस विपय मे जैन-इतिहास मे वर्णित घटना पठनीय है।

आचार्य भद्रवाहु के समय की वात है। उनके शिष्य स्थूलिभद्र उनके पास ज्ञानार्जन कर रहे थे। उन्होने दस पूर्वो का ज्ञान प्राप्त कर लिया। एक दिन उनकी वहिने उनसे मिलने आईं। स्थूलिभद्र ने वहिनों को आश्चर्य मे डालने के लिए सिंह का रूप वना लिया। इस रूप मे ज्ञान का उपयोग शास्त्रो मे निपिद्ध माना गया है। आचार्य भद्रवाहु को पता चला। उन्होंने आगे पढ़ाना स्थगित कर दिया। मुनि स्थूलिभद्र ने अपराध स्वीकार करते हुए पुन: आगे पढाने के लिये उनसे विनम्र प्रार्थना की। आचार्य भद्रवाहु ने उनमे पात्रता की कमी देखी। अत्यन्त आग्रह करने पर भी वे उनको सपूर्ण ज्ञान देने के लिए तैयार नही हुए। इस ऐतिहासिक घटना से यही सिद्ध होता है कि ज्ञान के केन्द्र पूर्वज ऋपि-महर्पि योग्य पात्र को ही ज्ञान देते थे। उस समय एक दूसरी विशेपता यह भी थी कि ज्ञान का कोई विक्रय नही होता था। उस समय की व्यवस्थाएं या परम्पराए ऐसी थी कि पढानेवाले को अपनी आजीविका की कोई चिन्ता नही होती थी। आज ज्ञान का खुले आम विक्रय हो रहा है। ज्ञान के विक्रय का क्रम प्रारम्भ हुआ, इसके पीछे भी कुछ कारणो के निवारण की ओर ध्यान दिया जाए तो सभव है, समस्या की जटिलता कुछ अंशो मे कम हो सके।

ज्ञान का प्रयोग आज सही रूप मे नही हो रहा है। शास्त्रों में कहा गया है—

> किं ताए पडिआए पयकोडिवि पलालभूयाए।
> जइ इत्तोवि न जाणं परस्स पीडा न कायव्वा ॥

कोटि-कोटि पदों का वह ज्ञान निस्सार है, जिससे इतना भी नही जाना जा सकता कि औरो को पीड़ा नही पहुचानी चाहिये। वास्तव में वही ज्ञान, ज्ञान है जिससे जीवन विकसित, शुद्ध और उन्नत होता है। जिस ज्ञान से यह नही होता वह ज्ञान ज्ञान नही, अज्ञान है। इसलिये ज्ञान का प्रयोग आत्म-निर्माण और आत्म-विकास के लिये होना चाहिए।

आज के युग में दार्शनिक ज्ञान होना भी अत्यन्त आवश्यक है। संसार में आज पौर्वात्य दर्शन और पाश्चात्य दर्शन, ये दो धाराएं विद्यमान है। आज जितना पौर्वात्य दर्शन का प्रचार नही उतना पाश्चात्य-दर्शन का हो रहा है। लोग पाश्चात्य-दर्शन के सामने भारतीय-दर्शन को कम महत्त्व देते है। स्वयं भारतीय लोग भी उसी सिद्धान्त को मूल्य देते हैं, जो पश्चिम मे मान्य होता है। यह अच्छी बात नही है। भारत प्रारम्भ से ही पौर्वात्य दर्शन का केन्द्र रहा है और आज भी है। यहां वैदिक, बौद्ध और जैन—ये तीन दर्शन ही मुख्य रहे है। बौद्ध-दर्शन तो भारत से लुप्त प्राय: हो गया था किन्तु आजकल उसका पुन. उन्नयन हो रहा है। वैदिक दर्शन यहां रहा और आज विद्यमान है। जैन-दर्शन अपनी लड़खडाती अवस्था मे भी अपनी विशेषताओ के कारण यहां टिका रहा और आज भी वह अपनी प्राचीन विशुद्ध विचारधारा को लिये चल रहा है।

आज मैं तीन दर्शनो मे से जैन-दर्शन पर ही कुछ प्रकाश डालना चाहता हूं। इसका एक कारण यह भी है कि सम्भवत: जैन-दर्शन के विषय मे आपकी जानकारी अधिक नही है। वह आज की भाषा मे उपलब्ध नही है। इसके विषय मे लोगो के मन में कुछ भ्रांतियां भी है। न जाने किस महामना ने "हस्तिना ताड्यमानोपि न गच्छेज्जैन-मन्दिरम्" इस प्रकार के अरुचिकर पद्य रचे ! ये पद्य जैन-दर्शन के प्रति लोगों को भडकाते रहे हैं। इस कारण लोग जैन-दर्शन से दूर रहे। जैन-दर्शन की अमूल्य सम्पत्ति मे वे सर्वथा अपरिचित रहे। एक समय आया जब विदेशी विद्वानो का ध्यान जैन-दर्शन और शास्त्रों पर केन्द्रित हुआ। इसी कारण से लोगो मे जैन-दर्शन के प्रति जिज्ञासा बढ रही है। पश्चिमी भाषाओं में जैन-दर्शन की अनेक टीकाये भी प्रकाशित हुई हैं। आज के वैज्ञानिक भी जैन-दर्शन का तुलनात्मक दृष्टि से अध्ययन करते हैं। उसमे नई दृष्टि और नई सभावना देखते है।

जैन-दर्शन क्या है ? जैन-दर्शन एक आध्यात्मिक दर्शन है। दूसरे शब्दों मे वह निवृत्ति प्रधान दर्शन है। 'जिन:' से जैन शब्द बनता है। 'जिन' का मतलब है—आत्म-विजेता, वीतराग। 'जयतीति जिन:'—जो आत्म-विजयी है, वह जिन है। 'जिनो देवता यस्य स जैन' जिन जिनके देवता है, जो जिन के प्रवचनो के अनुसार चलते है, वे जैन हैं। जैन-धर्म वीतरागो का धर्म है। वीतराग उसके प्रवर्त्तक हैं। उन्होने अपने प्रवचनो में जिन अमूल्य तत्त्वों की

पूंजी हमे दी है, वह संसार में सदा अमर रहेगी।

जैन-दर्शन ने मुख्यतः विचार और आचार इन दो पहलुओं पर वल दिया है। जहा विचारात्मक पहलू का प्रसङ्ग आता है वहाँ जैन दार्शनिकों ने अनेकान्त दृष्टि का तत्त्व दिया है। अनेकान्त दृष्टि सब प्रकार के विरोधों की गुत्थिया सुलझानेवाली एक महान् दृष्टि है। उसका कहना है कि किसी भी पदार्थ को एकान्त दृष्टिकोण से मत देखो। एकान्त दृष्टि आग्रह की जननी है। आग्रही व्यक्ति तत्त्व को समग्र रूप से समझ नही पाता। इसलिये किसी भी तत्त्व को समझने के लिये अनेक दृष्टियो का प्रयोग करो। एक वस्तु के अनेक पहलू हो सकते है। उदाहरणतः मझले पुत्र से कोई पूछे—'तुम छोटे हो या वडे,'। वह क्या कहे? असमंजस मे पड जाता है। छोटा कैसे कहे? जब कि उसके छोटा भाई भी है। और वडा भी कैसे कहे? जब कि वड़ा भाई भी विद्यमान है एकाएक उसे एक रास्ता दीखा और उसने कह दिया—'मैं छोटा भी हूं और वडा भी हूं' यह सापेक्ष दृष्टि उलझन का निराकरण है। एकाङ्गी दृष्टि से काम नही चल सकता। सापेक्ष दृष्टि ही व्यक्ति को सही रास्ता दिखला सकती है। यह सिद्धान्त ससारवर्ती छोटे-वडे सभी तत्त्वो पर लागू होता है।

प्रश्न होता है—संसार सादि-सान्त है या अनादि-अनन्त? इसके उत्तर मे कुछ दार्शनिक ससार को सादि-सान्त कहेगे और कुछ अनादि-अनन्त। जैन-दर्शन की दृष्टि अनेकान्त-प्रधान है। इसलिए वह ससार को सादि-सान्त और अनादि-अनंत दोनो मानता है। क्योकि जगत् न नित्य है और न अनित्य, किन्तु नित्यानित्य है। ससार था, है और रहेगा, इस दृष्टि से संसार नित्य है, अनादि है। संसार मे जो कुछ है, वह परिवर्तनशील है। पदार्थ वनता है और नष्ट हो जाता है। इस स्थिति को सामने रखकर देखा जाए तो कह सकते है कि ससार अनित्य है। उसकी आदि भी है और अन्त भी है। यह नियम सब तत्त्वो पर लागू होता है। अनाग्रह बुद्धि से खोजने पर ही सत्य मिलता है। आचार्यों ने कहा है—

एकेनाकर्षन्ति श्लथयन्ति वस्तुतत्त्वमितरेण
अन्तेन जयति जैनी नीतिर्मन्थाननेत्रमिव गोपी॥

गोपी दही से मक्खन निकालती है। मक्खन निकालने के लिए वह दही का मन्थन करती है। मन्थन करते समय उसका एक हाथ पीछे और एक हाथ आगे रहता है। हाथो को आगे पीछे होते देखकर वह यह सोचे कि मैं अपने हाथ आगे-पीछे नही करूंगी, ऐसे ही मक्खन निकाल लूगी। क्या वह इस प्रकार अपने दोनो हाथो को एक साथ कर मक्खन निकाल सकती है? यही नियम तत्त्वो पर लागू होता है। उसका सार हम तभी निकाल सकेंगे, जब हम एक ही तत्त्व का भिन्न-भिन्न दृष्टियो से परीक्षण करेंगे। इस विषय को

समझने के लिये अनेक दार्शनिक ग्रंथ उपलब्ध हैं। उनका गम्भीर अध्ययन स्याद्वाद जैसे महान् सिद्धान्त को समझने में सहायक हो सकता है।

मैं यह भी बता देना चाहता हूं कि स्याद्वाद सन्दिग्धवाद या संशयवाद नही है। अनेक जैनेतर विद्वानो ने इसको सही रूप में नही समझा। इस कारण बड़ा अनर्थ हुआ है। स्यात् शब्द संशय का नहीं, अपेक्षाभेद का वाचक है। उसका सन्देह या संशय अर्थ करना सत्य को झुठलाने जैसा है।

स्याद्वाद कोरा सिद्धान्त नहीं है। यह जीवन का व्यवहार है। इसे आधार बनाकर जीया जाए तो संसार मे कही नया संघर्ष जन्म नही ले सकता और पुराने संघर्ष को समाप्त किया जा सकता है। पर यह तभी संभव है जब स्याद्वाद को जानने और जीने मे भी स्याद्वादी दृष्टिकोण पुष्ट हो।

'एकोऽहं द्वितीयो नास्ति' यह एक सिद्धान्त है। निरपेक्ष दृष्टि से इसका निरूपण पग-पग पर व्यवधान उपस्थित करता है। सापेक्ष दृष्टि से इस मान्यता पर विचार किया जाए तो कोई समस्या उपस्थित नही होती। लाखो-करोडो व्यक्तियों के बीच मे कोई व्यक्ति कहे कि मैं एक ही हूं, दूसरा कोई नही है। समझ मे आने जैसी बात नही है। पर जैन दर्शन कहता है कि सामान्य यानी जाति की अपेक्षा सब मनुष्यो मे एक ही स्वरूप वाली आत्मा विद्यमान है; इस दृष्टि से संसार को एक रूप में ग्रहण किया जा सकता है। इसी प्रकार हम कहते हैं—'अमुक देश का किसान बड़ा सुखी है' यहां 'किसान' शब्द जातिवाचक है। इससे किसी व्यक्ति विशेष का ग्रहण न होकर उस देश के सारे किसानों का ग्रहण हो जाता है। एकत्व एक दृष्टि है। बहुत्व भी एक दृष्टि है। उस दृष्टि मे विचार करे तो व्यक्तिश: प्रत्येक मनुष्य भिन्न-भिन्न होने के कारण सब अलग-अलग है। उस अवस्था मे व्यक्ति की अपेक्षा संसार को अनेकान्तात्मक भी ग्रहण किया जा सकता है। इस प्रकार अन्यान्य विषयो मे भी अनेकान्त दृष्टि का प्रयोग कर हम समन्वय की गति को बहुत आगे बढ़ा सकते हैं।

जहा आचार का प्रसग आता है, वहा जैन दार्शनिको ने अहिंसा की दृष्टि दी है। आचार का अर्थ ही अहिंसा है। उसके अभाव मे कोटि-कोटि पद्यों का ज्ञान होने पर भी जीवन शून्य और बेकार है। अहिंसा की दृष्टि हमे भगवान् महावीर ने दी। वैसे अन्य लोगो ने भी अहिंसा का प्रतिपादन किया। किन्तु वे अहिंसा की गहराई मे वहा तक नही उतर पाए जहा तक भगवान महावीर उतरे थे। कुछ लोगो का अभिमत है कि अहिंसा से मनुष्य कायर बनते है, भीरु बनते है। अहिंसा ने वीरत्व का सर्वनाश कर दिया इस प्रकार का चिन्तन सही नही है। मेरा यह दृढ विश्वास है कि अहिंसा वीर पुरुषों का धर्म है। अहिंसा वीरत्व की जननी है। कायर पुरुष को अहिंसा के

द्वार खटखटाने का अधिकार भी नही है। अहिंसा-शस्त्र की सुरक्षा मे विना रक्तपात किये भारत जैसा विशाल देश स्वतन्त्र हो जाता है फिर भी कोई कह सकता है कि अहिंसा कायरता और भीरुता की जननी है ?

अहिसा क्या है ? मन, वाणी और कर्म इन तीनों को विशुद्ध रखना, पवित्र रखना अहिसा है। इनको कलुषित व अपवित्र न होने देना ही अहिसा है। थोडे में जहा हिसा नही, वही अहिंसा है। हिसा से हमारा यह अभिप्राय नही कि केवल प्राण-वियोजन होना हिंसा है। सहज रूप से वहुत जीव-जन्तु जन्म लेते है और मरते है, उसकी हिंसा का पाप किसी को नही लगता। दुष्प्रवृत्ति से होने वाला प्राणवियोजन हिंसा है अथवा स्वयं दुष्प्रवृत्ति हिसा है। इस परिभाषा के अनुसार बुरी, कलुपित, राग-द्वेप और स्वार्थमयी प्रवृत्ति हिंसा है। हिसा को त्यागने का और अहिंसा को अपनाने का मुख्य उद्देश्य अपना आत्म-कल्याण है। हिंसा करनेवाला किसी दूसरे का अहित नही करता वल्कि अपनी आत्मा का ही अहित करता है। भगवान् महावीर ने अहिंसा के दो विभाग बताये है—स्थूल और सूक्ष्म। 'अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा' के सिद्धान्त को अपनाकर जो मुमुक्षु चलते है, उनके लिये हिंसा मात्र वर्जनीय है। इस चोटी की अहिसा तक विरले ही पहुंच पाते हैं। इसलिए हिंसा को तीन विभागों मे विभक्त किया गया है—आरम्भजा विरोधजा और संकल्पजा। व्यापार, कृषि आदि जीवन की आवश्यक क्रियाओ मे जो हिंसा होती है, वह आरम्भजा है। इसका त्याग सामाजिक प्राणी के लिये अति कठिन है। समाज या राष्ट्र की रक्षा के लिये आक्रमणकारियो के साथ लडाई की जाती है वह विरोधजा हिसा कहलाती है। साधारण गृहस्थ के लिये इसका परित्याग भी अत्यन्त दुष्कर है। तीसरी हिसा है संकलपजा। इसका मतलव है निरपराध प्राणी पर इरादेपूर्वक आक्रमण करना। इसी हिसा के कारण वडे-वडे नृशंस हत्याकाण्ड हुये हैं। जातिवाद और साम्प्रदायिकता इसी हिंसा के कारण पनपे है और पनपते रहते है। सकल्पपूर्वक हिंसा करनेवाला मानव, मानव नही पशु है। कम से कम इस तीसरी हिंसा से तो मानवमात्र को अवश्य ही वचना चाहिए।

जैन दर्शन आचार और विचार—दोनो की शुद्धि मे विश्वास करता है। इनके सम्वन्ध मे जितना चिन्तन, मनन और अनुशीलन किया जाता है उतना ही अधिक आनन्द प्राप्त होता है। विचार और आचार के इतने विवेचन का मतलव यही है कि मनुष्य जहाँ विचार का निर्णय करना चाहे वहा स्याद्वाद—अनेकान्तवाद का अनुसरण करे और जहा आचार का निर्णय करना चाहे वहां अहिंसा का आश्रय ले।

मैं एक वात यहा पर और स्पष्ट कर दू कि अहिंसा का बल-प्रयोग और प्रलोभन से कोई सम्वन्ध नही है। कुछ पैसे देकर या डण्डे के वल पर

आक्रान्ता को दूर किया जा सकता है किन्तु उसका हृदय-परिवर्तन नही किया जा सकता। जव हृदय-परिवर्तन ही नही तव अहिंसा हो ही कैसे सकती है? यह दूसरी वात है कि सामाजिक प्राणियो मे किसी को वचाने के लिये ये तरीके काम में लिये जाते हैं किन्तु उनके काम मे लिये जाने मात्र से वे अहिंसात्मक तरीके तो नही कहला सकते। वास्तव में शिक्षा और उपदेश के द्वारा ही हृदय-परिवर्तन किया जा सकता है और जहां हृदय-परिवर्तन है, वही अहिंसा है।

जैन-धर्म में जातिवाद को लेकर कोई समस्या नही है। धर्म की व्याख्या से ही यह वात स्पष्ट हो जाती है—

व्यक्ति-व्यक्ति मे धर्म समाया, जाति-पांति का भेद मिटाया।
निर्धन-धनिक न अन्तर पाया, जिसने धारा जन्म सुधारा॥
अमर रहेगा धर्म हमारा॥

धर्म व्यक्तिनिष्ठ है, समष्टिगत नही। वह सवका है। वह उसका है जो उसकी आराधना करे। धर्म की मर्यादा में जाति, रंग, देश, भापा आदि का कोई भी भेदभाव नहीं हो सकता। मुझे खुशी होती है, जव मैं ऐसा विचार करता हूं कि मैं धर्म को हर व्यक्ति, हर जाति और हर देश में फैलाऊं। जैनी लोग यह न समझ ले कि जैन धर्म तो हमारा ही है। जैन धर्म वीतराग का धर्म है। उसका किसी एक जाति विशेप से सम्वन्ध हो नही सकता। वह प्राणी-मात्र का है और प्राणी-मात्र उसका अधिकारी है।

जैन-धर्म की एक और विशेपता है, वह है उसका नकारात्मक दृष्टिकोण। यद्यपि जैन-दार्शनिकों ने विधेयात्मक दृष्टिकोण को भी अपनाया है किन्तु अधिक वल नकारात्मक दृष्टिकोण पर ही दिया है। इसमें भी एक रहस्य है। नकारात्मक दृष्टिकोण जितना व्यापक है, उतना विधानात्मक नही। जैसे-'मत मारो' यह सर्वथा निर्दोप, अविवादास्पद और व्यापक है। 'वचाओ' यह अपने आपमे विवादास्पद है। 'वचाओ' कहते ही प्रश्न होगा—किसको वचाए? और कैसे वचाएं? डरा-धमकाकर किसी को वचाने मे पारस्परिक संघर्प होना स्वाभाविक है। ऐसी स्थिति में 'वचाओ' दोपमुक्त और व्यापक नही हो सकता। 'सयुक्तराष्ट्र' कोरिया को वचाने के लिये कोरिया मे प्रविष्ट हुआ। उसका भयंकर परिणाम सवके सामने ही है। इसी प्रकार 'झूठ मत वोलो'—इसमे कोई वाधा नही आती। किन्तु 'सत्य वोलो' इसमे वाधा आती है। कहा भी है: 'सत्यं ब्रूयात्, प्रिय ब्रूयात्, मा ब्रूयात् सत्यम-प्रिय'—सत्य वोलो किन्तु वैसा सत्य नही, जो अप्रिय है। अहितकर हो। एक शिकारी के पूछने पर उसको मृग के जाने का मार्ग वताना सत्य होते हुये भी अहितकर और विनाशकर है। इस दृष्टि से यह माना जा सकता है कि नकारात्मक दृष्टिकोण जितना सफल हो सकता है, उतना विधानात्मक

नही। यह समझना भी गलत होगा कि जैन-धर्म मे विधानात्मक दृष्टिकोण को स्थान ही नही है। जैन-धर्म मे विधानात्मक दृष्टिकोण पर भी वल दिया गया है, जैसे—मैत्री करो, भ्रातृत्वभाव का विकास करो, प्रमोद भावना वढाओ, मध्यस्थ बनो आदि।

आराधना का दूसरा भेद है—दर्शन-आराधना। इसे दूसरे शब्दों में श्रद्धा भी कह सकते है। श्रद्धा का मतलव है सच्चा विश्वास, आत्मविश्वास। आज मनुष्य मे आत्म-विश्वास की कमी हो रही है। इसके कारण वह न तो अपनी क्षमता को पहचान पाता है और न आगे वढ सकता। आत्म-विश्वासी व्यक्ति कठिन-से-कठिन काम मे सफलता पा सकता है। इसलिए धार्मिक व्यक्ति को आत्म-विश्वास की सुरक्षा करनी चाहिए।

आराधना का तीसरा भेद है—चारित्र-आराधना। चारित्र जीवन का सवसे अधिक महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। चारित्र को समुज्ज्वल वनाने के लिए वड़ी-वडी वातें होती है। आश्चर्य तो तव होता है जव ऐसे व्यक्ति चारित्रिक अभ्युदय की वात करते है, जिनके जीवन में चारित्र नाम का कोई तत्त्व ही नहीं है। उन्हे सवसे पहले अपने जीवन को सुधारना चाहिये, अपने आपको सुधारना चाहिये। जव मै कुछ लोगो को, अपने सुधार की वात को ताक पर रख कर औरों की वाते करते सुनता हूं तो मेरे सामने महाराज श्रेणिक और महामुनि अनाथी का प्रसंग उपस्थित हो जाता है।

उद्यान मे मगध-सम्राट् महाराज श्रेणिक की दृष्टि मुनि अनाथी के दिव्य रूप पर पड़ी। वे लोह-चुम्वक की तरह आकर्पित हो गये। उन्होंने मुनिराज के निकट जाकर कहा—"मुने ! मैं जानना चाहता हूं, आपने इस भरी जवानी में दीक्षा क्यों ग्रहण की ?" मुनिराज ने गम्भीरतापूर्वक उत्तर दिया—"राजन् ! मैं अनाथ था, इसलिये मैंने दीक्षा-ग्रहण की है।" महाराज ने कहा—"अच्छा यह वात है, आप मेरे साथ चलिये, मैं आपका नाथ वनता हू। मेरे राज्य मे किसी वात की कमी नही है। आपको सभी प्रकार की सुख-सुविधाये प्राप्त होगी। मुनिराज यह सुन मुस्कराये। उन्होने कहा—'राजन् ! तुम स्वयं अनाथ हो। तुम दूसरो के नाथ कैसे वनोगे ?' सम्राट् को यह कथन वहुत अप्रिय लगा। उन्होने कठोरतापूर्वक कहा—'मुनिवर ! आप सत्य-भापी है, आपको असत्य नही वोलना चाहिये। आप जानते नही, मैं प्रभूत ऐश्वर्य-सम्पन्न साम्राज्य का नाथ हूं, मुझे अनाथ वताते आपको मिथ्या भापण का दोप नही लगता ?' मुनिराज ने इस आक्षेप का उत्तर देते हुये कहा—'राजन् ! आप अनाथ और सनाथ का भेद नही जानते इसीलिए आप मेरे कथन को मिथ्या समझ रहे है।" सम्राट ने जिज्ञासा दिखाई तो मुनि ने रहस्य का उद्घाटन करते हुए कहा—'राजन् ! आपको मालूम नही, आपके भीतर काम, मद, लोभ आदि कितने दुर्धर्प और दुर्जय शत्रु छिपे

बैठे है। आप उनको देखते तक नही। असली शत्रु वे हैं। जो उन्हें पराजित नही कर सकता वह नाथ कैसा ? वह तो स्वयं ही अनाथ है।" महाराज श्रेणिक मुनिराज के चरणो में नतमस्तक हो गये। उन्होने सहर्ष स्वीकार किया—"महामुने ? मै अनाथ हूं, लाखो-करोडों मनुष्यों का नाथ होते हुये भी मैं वास्तव मे अनाथ ही हू।" यही वात आज के लिये है। चरित्रहीनो के मुंह से चरित्र की वात शोभा नही देती।

जिस देश का सन्देश विश्व भर मे गूजता था, जिसके लिये यहा तक कहा गया था—

'एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मन·।
स्वं स्व चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्या सर्वमानवा.'॥

ससार भर के सारे लोग यहां पर पैदा हुये आर्यो से चरित्र की शिक्षा ग्रहण करे। यह वात उस समय कही जाती थी जव भारत चरित्रवल से सपन्न था। खेद ! आज उसी देश को चरित्र की शिक्षा देने के लिये वाहर से विद्वान् आते है। चरित्र के उत्थान के लिये इधर में कई अहिंसात्मक क्रान्तिया हुई है। अणुव्रती सघ भी इसी ओर संकेत करता है। उसमे एक-मात्र चरित्र की शिक्षा है। 'जीवन को कैसे उठाया जाये' इसकी प्रक्रिया है। मूल अणुव्रत पाच है। उनका विस्तार कर सख्या वढाई गई है। व्यापारियों के लिये एक नियम है—वे चोर वाजारी न करे। राज्य-कर्मचारियो के लिए और शिक्षको के लिये भी एक नियम है कि वे रिश्वत न ले। इसी प्रकार चिकित्सकों के लिये भी एक नियम है कि वे पैसा कमाने की दृष्टि से रोगी की चिकित्सा मे अनुचित समय न लगाये। ऐसे नियम किसके लिए आवश्यक नही है ? धार्मिकता जाने दीजिये, कम से कम मानवता और नागरिकता के नाते ही मनुष्य इनको जीवन में उतारे। इससे आपका भला होगा, आपके समाज का भला होगा और आपके देश का भला होगा। उपस्थित शिक्षक लोगो को मैं वल देकर कहूंगा कि आप अणुव्रत के नियमो को अपने जीवन में स्थान दे। आपके ऐसा करने से दो वातो का लाभ होगा। एक तो अपना सुधार और दूसरे मे आप के संपर्क मे आनेवाले छात्र और छात्राओं का सुधार। जव तक आप अपने सुधार को मुख्य रूप नही देगे तव तक आपकी सुधार भरी शिक्षाओं का छात्र-छात्राओ पर कोई असर नही पड़ेगा। इसलिये पहला सुधार, अपना सुधार हो यानी व्यक्ति सुधार हो। समाज और राष्ट्र-सुधार की लम्वी-लम्वी योजनाएं वनाने से पहले यह सुधार आवश्यक है। समाज और राष्ट्र व्यक्तियो से ही तो वनते है। व्यक्ति-सुधार होने से समाज और राष्ट्र का सुधार तो अपने आप ही हो जायेगा। व्यक्ति-सुधार ही सब सुधारो का केन्द्र है।

अन्त मे मैं इन्ही शब्दो के साथ आज का वक्तव्य समाप्त करता हूं

कि यदि आप व्यक्ति-सुधार के दृष्टिकोण को अपनाकर जीवन में कल्याण और जागृति का पावन-पुनीत प्रकाश फैलानेवाली ज्ञान, दर्शन और चरित्रात्मक-त्रिवेणी की आराधना करेंगे तो निःसंदेह शिक्षक-समाज सही अर्थ में शिक्षक समाज बनकर अपने हाथो में आई हुई देश की सबसे बड़ी सम्पत्ति को सुरक्षित रखते हुए उसे अधिक से अधिक विकसित कर अपना और दूसरो का भला कर सकेंगे।

जोधपुर,
२२ अगस्त, ५३

१४. शिक्षक होता है जीवन

शिक्षक समाज का महत्त्वपूर्ण अंग है। उस पर समाज व राष्ट्र की बहुत बड़ी जिम्मेवारी है। वह समाज व राष्ट्र का निर्माता एवं स्रष्टा है। उसका जीवन जितना ऊंचा, जितना संयत, जितना सात्त्विक और नैतिक होगा वह उतना ही अधिक और प्रभावी काम कर सकेगा। शिक्षा देनेवाले की वाणी उसका प्रतीक नही बनती, प्रतीक है उसका अपना जीवन तथा अपना आचरण। स्वय आचरणशून्य होकर दूसरो को सिखाने के लिए कैसी ही लच्छेदार भाषा मे कितनी ही ऊंची-ऊंची बाते कही जाए, उनका कुछ असर होने का नही। असर तभी होगा, यदि शिक्षा देने वाले ने अपना जीवन उस सांचे मे ढाला हो। इसलिए मैं बल देकर कहता रहता हू कि सुधार की लम्बी-लम्बी बाते बनाने से कुछ बनने का नही, यदि अपने जीवन को न सुधारा हो। इस लिए समाज व राष्ट्र के सुधार की बडी-बड़ी बातो को थोड़ी देर के लिए दूर रख, सबसे पहले अपने आपको सुधारने की ओर ध्यान देना चाहिए। ज्ञान, सत्य-निष्ठा व चारित्र को जीवन मे उतारने का प्रयत्न होना चाहिए। ऐसा होने से व्यक्ति का जीवन स्वय एक मूर्त उपदेश बन सकेगा? जिसने अपने को नही सुधारा, वह दूसरो को क्या सुधार सकता है?

शिक्षक का मार्ग त्याग, बलिदान व साधना का मार्ग है। इस वर्ग को स्वार्थपरता छोड, परमार्थ-पथ पर आना चाहिए। ऐसा करके ही वह शिक्षा के उच्चतम आदर्श को स्वय आत्मसात् करेगा और अपने विद्यार्थियो को भी उस दिशा मे आगे बढा सकेगा।

जोधपुर,
२३ अगस्त, ५३

१५. साधना का जीवन

विद्यार्थी समाज और देश के भावी कर्णधार है। आज मैं उनके वीच अपना धार्मिक सन्देश दे रहा हूं। वच्चो में निर्माण की संभावना होती है। वे ग्रहणशील होते है। वे कुछ वन सकते हैं, इसलिए वे आशा के केन्द्र विन्दु होते हैं। मुझे इनके वीच अपना सन्देश देते हार्दिक प्रसन्नता हो रही है।

आप जानते हैं—यह विद्यालय है। विद्यालय का मतलव उस स्थान से है जहा ज्ञानार्जन होता हो। ज्ञान का जीवन मे सर्वप्रमुख स्थान है। शास्त्रो में वताया गया है—

पढमं नाणं तओ दया, एव चिट्ठइ सव्वसंजए।
अन्नाणी किं काही किं वा नाहिइ छेय पावगं॥

जीवन-विकास का पहला साधन ज्ञान है। दूसरा साधन है क्रिया। ज्ञान पाना और क्रिया करना—यह साधक जीवन की साधना का व्यवस्थित क्रम है। जो अज्ञानी होगा, वह कैसे समझेगा कि क्या श्रेय होता है और क्या अश्रेय ? क्या विकास होता है और क्या पतन ? इसलिए जीवन को विकसित करने के लिए ज्ञान की सवसे अधिक आवश्यकता है। ज्ञान ही जीवन है, ज्ञान ही सार है, ज्ञान ही तत्त्व है और ज्ञान ही आत्म-निर्माण तथा आत्म-विकास का मुख्य साधन है।

आजकल जो ज्ञान स्कूलों, कॉलेजो और विश्वविद्यालयो मे दिया जा रहा है। जिस ढंग से वच्चों को पढाया जा रहा है, मुझे क्या वडे-वड़े नेताओ और विशिष्ट विचारको को भी उससे सन्तोष नही है। आप लोगो की भी यही आवाज है कि हमारी शिक्षा-पद्धति सर्वाङ्ग सुन्दर नही है। जिससे सस्कार शुद्ध, सुन्दर और परिष्कृत न हो सके, जीवन सस्कारित न हो सके, उस शिक्षा-प्रणाली को सर्वाङ्ग सुन्दर कहा भी कैसे जा सकता है ? जव तक सस्कारो को शुद्ध, सुन्दर और परिष्कृत वनाने का प्रयास नही किया जायेगा तव तक देश की सर्वाङ्गीण उन्नति होना असम्भव है। इसके साथ-साथ यह भी समझना है कि आजकल ज्ञानार्जन का तरीका भी सुन्दर नही है। यह सव आज की अधूरी शिक्षा-प्रणाली का ही दोप है। प्रणालीगत दोष किसी एक संस्था विशेप का नही, वह तो समस्त संस्थाओ का है। किसी एक स्थान विशेप से इस दोप को दूर करना सम्भव नही। समस्त शिक्षा-प्रणाली में आमूल परिवर्तन करने से ही इस दोप को दूर किया जा सकता है।

ज्ञान जीवन की मूलभूत पूजी है। उसके अभाव मे मनुष्य अपने

आपको खो वैठता है। शिक्षा-सस्थानो की वढ़ती हुई संख्या वताती है कि ज्ञान के लिए आकर्पण वढा है और उसकी प्राप्ति के लिए साधन-सामग्री विकसित हो रही है। किन्तु वहा जो कुछ पढाया जाता है, उसका सम्वन्ध भौतिक ज्ञानविज्ञान से है। किन्तु आध्यात्मिक ज्ञानविज्ञान के प्रति न तो विशेष आकर्पण है और न उसकी प्राप्ति के लिए अधिक पुरुषार्थ ही किया जाता है। यह सोचना तक इप्ट नही है कि मैं कौन हूं ? कहां से आया हूं ? कहा जाऊगा ? मैं वौद्ध धर्म की मान्यतानुसार अस्थायी—क्षणिक हू या वैदिक धर्म की मान्यतानुसार अभेद्य, अछेद्य, अक्लेद्य, सनातन-स्वरूपवाला स्थायी तत्त्व हू। मरने के वाद मैं जिन्दा रहूंगा या नही ? इन जीवन-विकासी शिक्षाओ का सर्वथा अभाव-सा अनुभव हो रहा है। जव तक इस प्रकार की मौलिक शिक्षा नही दी जाएगी तव तक जीवन का संस्कारित होना वहुत मुश्किल है। इसके साथ-साथ यह भी सही है कि जव तक जीवन सस्कारी नही होगा, तव तक ज्ञानार्जन का प्रयास भी सफल नही होगा।

आज ज्ञान प्राप्ति का उद्देश्य गलत हो रहा है। पुराने जमाने मे लोग विकास के लिये और स्वय को पहचानने के लिये ज्ञानार्जन किया करते थे। आजीविका और भरण-पोपण जैसे छोटे उद्देश्य के लिए वे ज्ञानार्जन नही करते थे। पुराने जमाने मे राजा, महाराजा ज्ञानाभ्यास करते थे। किसलिये ? आजीविका के लिये नही। आजीविका का उनके सामने कोई सवाल ही नही था। वे तो मात्र विद्वान वनने के लिये या दूसरे शव्दो मे कहे तो अपना विकास और अपना उत्थान करने के लिये ज्ञानाभ्यास करते थे। महाराज कृष्ण, गौतम वुद्ध और भगवान् महावीर आदि महापुरुषो को भी वाल्यावस्था मे ज्ञानाभ्यास के लिये गुरुकुलो मे भेजा गया था। उनके ज्ञानाभ्यास का एक उद्देश्य था कि वे अपने आपको समझें, अपने विवेक को जागृत करें, हेय और उपादेय के तत्त्व को हृदयंगम करे और जो वाते जीवन को अमर्यादित वनाने वाली तथा रसातल मे पहुचाने वाली है, उनमे सदा वचते रहें। जव तक ज्ञानार्जन का यह उद्देश्य नही वनेगा तव तक विद्यार्थी उन्नति और उत्थान कैसे कर सकेगे ? शिक्षको का पहला दायित्व यह है कि वे अपने विद्यार्थियो को ज्ञान का मूलभूत उद्देश्य समझाए।

यह देखकर मुझे वडा आश्चर्य होता है कि देश मे अनेक विद्या-केन्द्र होने पर भी शिक्षा के क्षेत्र मे सन्तोप वाली वात नही है। प्रतिवर्प सहस्रो विद्यार्थी वडी-वडी डिग्रियां प्राप्त कर शिक्षण-संथाओं मे वाहर निकलते है। प्रतिवर्प अनेक शिक्षण सस्थाओ का नवनिर्माण होता है फिर भी चारो ओर से यही आवाज आ रही है कि देश का पतन हो रहा है और नैतिकता का गला घोटा जा रहा है। यह क्या है ? क्या यह तथ्य गलत है ? गलत हो कैसे सकता है ? जवकि यह आवाज एक या दो की नही, अधिसख्य लोगो

की है। वास्तव मे इस आवाज को गलत नही बताया जा सकता। क्योंकि जो ज्ञान जीवन को बनानेवाला है, यदि उससे जीवन नही बनता है तो फिर वह ज्ञान कहां रहा ? आज तो यह भी कहा जा सकता है कि ज्ञान के पीछे एक 'वि' और लग गया है, इसलिये आज ज्ञान साधारण न रहकर विशिष्ट बन गया है। वह है विज्ञान। आज विज्ञान अपनी पराकाष्ठा पर पहुंचा हुआ है। फिर भी क्या कारण है जीवन पंगु और कुंठित बना हुआ है ? मुझे लगता है कि कही मूल मे भूल है। जब तक मूल को नहीं पकड़ा जाएगा, समस्या का समाधान नही हो सकेगा।

इस संदर्भ मे विचार करने पर यह पता चलता है कि ज्ञान के साथ जो चारित्र आना चाहिए था, उसका पूर्ण अभाव है। मेरे कहने का यह मतलब नही कि ज्ञान सीखना नही चाहिये। मेरा उद्देश्य यह है कि अन्न खाना तभी कार्यकर होता है जबकि पास मे पीने के लिये जल भी विद्यमान हो। जल के अभाव मे अन्न खाना अत्यन्त हानिकारक और अनुतापकारक हो जाता है। हां, अन्न यदि चार दिन न भी खायें तो काम चल सकता है किन्तु जल के अभाव मे केवल अन्न से एक दिन भी गुजारा करना मुश्किल है। आज विद्या की भी कोई कमी नहीं है किन्तु अन्न के साथ जल की तरह ज्ञान के साथ विकसित होने वाले चारित्र का अभाव है। आप संसार की स्थिति देख रहे हैं कि आज जितनी विद्या की प्रगति हुई है उतनी ही चारित्र की अवनति। इसके कारण ही आज प्रत्येक क्षेत्र मे समस्याओं, बाधाओं और उलझनो की भरमार है। इसलिये ज्ञान के साथ चारित्र का होना परम-आवश्यक है। तभी ज्ञान का उपयोग सदुपयोग कहलायेगा। अन्यथा बिना चारित्र का ज्ञान किसी काम का नही। उससे समस्यायें सुलझेंगी नही और अधिक उलझ जाएगी। ज्ञान और सदाचार परस्पर एक दूसरे के पोषक हैं। इस दृष्टिकोण पर सभी गभीरता मे विचार करे।

आप जानते हैं और आपने सम्भवतः सुना भी होगा कि राजा रावण कितना बडा पण्डित था। उसके पास ज्ञान की कोई कमी नहीं थी। उसकी शक्ति भी कम नही थी। किन्तु जब वह दुश्चरित्र बन गया तब उसे राम और लक्ष्मण के हाथो किस प्रकार मरना पडा। विद्यार्थी लोग समझें, पौराणिक और ऐतिहासिक घटनाओ से यह सबक लें कि आचारशून्य विद्या या विद्वत्ता किसी काम की नही। जीवन आचारपूर्ण होना चाहिये। आचारी जीवन मे विद्या की कमी भी क्षम्य हो सकती है। बुजुर्गो का उदाहरण ले, उन वृद्ध माताओं का उदाहरण ले जो अधिक कुछ नही जानती थी, फिर भी उनका चारित्रिक बल इतना व्यापक और मजबूत था कि उनके सच्चरित्र जीवन का उनकी सन्तानो पर सहज प्रतिबिम्ब पडता था। मैं आज के माता-पिता और अध्यापकों पर किसी प्रकार का आक्षेप नही करता और न मैं उन्हे हतोत्साह ही करना चाहता हू।

मैं तो यह वताना चाहता हूं कि गाड़ी एक चक्के से नही चला करती, दो चक्केवाली गाड़ी ही अभीष्ट-स्थान पर पहुंच सकती है। इसलिये विद्यार्थियो मे ज्ञान और चारित्र दोनो की ही आवश्यकता है। ये दो तत्त्व मिलकर ही जीवन को विकसित, सफल और संस्कारित वना सकते है।

प्रश्न हो सकता है—चारित्र क्या है? स्वाभाविक रूप में चारित्र का अर्थ इतना-सा है कि सवेरे से लेकर रात को सोने तक आपकी कोई भी क्रिया ऐसी न हो, जो किसी के लिए घातक और अनिष्टकर हो। इस दृष्टि से जागरूक रहने वाला व्यक्ति ही सदाचारी कहलाने का अधिकारी है। अन्यथा वह सदाचारी नही, दुराचारी है। यदि आप सदाचार सीखना चाहते है तो उसके लिए आपको अधिक परिश्रम करने की आवश्यकता नही है। कुछ वातों को सीखने से ही उसे आप आत्मसात् कर सकते है। न तो उसके लिये चालीस-पचास पुस्तकों को पढ़ने की आवश्यकता है और न पैसे खर्च करने की ही। मै आपको और कुछ न वताकर सदाचारी वनने के लिये मात्र एक ही उपाय वताऊंगा, वह है सत्य। आप सत्यवादी वने। सत्य मे सदाचार का अखण्ड स्वरूप समाया हुआ है। उसका कोई भी अश सत्य की सीमा से वाहर नही है। आप इस पद्य को सदा याद रखिये—

सत्य से वढ़कर जगत में कौन सत्पथ और है।
और सव पगडंडियां यह राजपथ की डोर है॥
सत्य ही भगवान् श्री भगवान् यों फरमा रहे।
सत्य के गुण-गान श्री भगवान् मुख से गा रहे॥
सत्य की महिमा जिनागम में भरी पुरजोर है।
सत्य से वढकर जगत में कौन सत्पथ और है॥

सत्य कोई छोटी-मोटी पगडंडी नही है। यह एक विशाल राजपथ है। इस पर आप आत्म-विश्वास के साथ वढ़ते चले। आपके वीच में कोई वाधा या मुसीवत नही आयेगी। यदि आयेगी तो आपके सत्य-वल और आत्मवल के सामने टिक नही पाएगी, हार जायेगी और अन्त में वह आत्मसमर्पण कर देगी। सत्य से विशिष्ट कोई वस्तु इस संसार मे नही हो सकती। क्योंकि स्वयं भगवान् अपने मुख से सत्य को भगवान् कह कर संवोधित कर रहे है—'सच्चं भगवं'। यह शास्त्र-वाक्य इसी तथ्य पर प्रकाश डाल रहा है। विद्यार्थियो! यदि आप यह प्रतिज्ञा कर लेते हैं कि आप सत्य वोलेंगे, झूठ को कभी नही प्रश्रय देंगे तो निश्चित समझिये कि आपका जीवन सफल है और आपका भविष्य स्वर्णिम है। ऐसा करने मे आपके सामने एक वड़ी वाधा है। वह यह है कि आपके गुरुजन और शिक्षक-जन सत्य पर पूरा-पूरा वल देते है। वे सत्य की वहुत महिमा गाते है। किन्तु अपने घर मे झूठ का वातावरण देखते और सुनते है। ऐसी स्थिति मे एक विकल्प पैदा होता है कि

आप किसकी वात मानें ? किसकी वात सच्ची है, किसकी झूठी ? यहां पर मैं आपको यही सलाह दूगा कि चाहे घर का वातावरण कुछ भी हो, समूची दुनिया का दवाव भी किसी ओर हो, आप यह दृढ निश्चय रखें कि हम सत्य पर ही डटे रहेगे, सत्य को अपना जीवन समझेंगे, सर्वस्व समझेंगे।

मै एक विशेष वात की ओर आपका ध्यान खीचना चाहता हू। वह यह कि चाहे आप में हजार दुर्गुण हों, यदि आप सत्य-निष्ठ है तो वे दुर्गुण अपने आप ही आपको छोडकर चले जाएगे। आप कहेगे कि क्या कभी ऐसा हो सकता है ? क्यों नही, आप उस लड़के का उदाहरण याद कीजिये जो दुनिया के समस्त दुर्गुणो और दुर्व्यसनो का शिकार था। मा-वाप का इकलौता पुत्र था। घर में पैसे की कमी नही थी। प्यार ही प्यार मे लड़का विगड़ गया, वदमाश हो गया। पिता की आखें जव खुली तो उसे वडा पश्चात्ताप हुआ। मगर अव क्या हो सकता था ! उसने पुत्र को समझाने के लिये उसने अनेक उपाय किये किन्तु पुत्र पर उनका कोई असर नही हुआ। संयोगवश एक दिन उस शहर मे एक मुनि आये। उनका प्रवचन हुआ। प्रवचन मे उस लडके का पिता भी विद्यमान था। उसने विचार किया कि ये मुनि ठीक हैं। इनके पास लड़के को भेजना चाहिये। पिता ने ऐसा ही किया। लड़का मुनि के पास आया। पिता ने मुनि को पहले से ही सकेत कर दिया था। मुनि ने लटके को उपदेश देना प्रारम्भ किया। साधु-सन्त वास्तव मे गजव की सूझ-वूझ वाले होते है। लोगो पर उनकी गम्भीर वात का तो क्या, मामूली वात का भी वडा असर होता है। यह क्यों ? इसमें यही रहस्य है कि वे जो वातें कहते है, वे सव उनके जीवन मे उतरी हुई होती हैं। यही कारण है कि उनके साधारण वचन का भी आशातीत प्रभाव पड़ता है। एक वात और है, मेरा यह निश्चित अभिमत है कि यदि किसी व्यक्ति को सन्मार्ग पर लाना है तो उपदेश द्वारा उसका हृदय-परिवर्तन करके ही लाया जा सकता है। इसी महान् सिद्धान्त पर गांधीजी ने देश को आजाद कराया। डंडे के वल पर और प्रलोभन के द्वारा किसी स्थायी सुधार की सम्भावना नही की जा सकती। जैन-धर्म का यही महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है।

मुनि अनुभवी थे। उन्होने शिक्षा द्वारा लडके का हृदय-परिवर्तन करना चाहा। मुनि ने पूछा—"तुम चोरी करते हो ?" लड़का—"हा, महाराज !" मुनि ने फिर पूछा—"और क्या करते हो ?" लड़के ने कहा—"क्या पूछते है महाराज ? दुनिया के जितने दुर्गुण हैं, मुझमें सव मौजूद हैं।" मुनि ने दुर्व्यसनो के दुष्परिणाम पर विस्तृत प्रकाश डालते हुये मार्मिक उपदेश दिया और वालक से कहा—"तुम अपने अमूल्य जीवन को दुर्गुणो के कीचड़ में फंसाकर व्यर्थ क्यो खो रहे हो ? तुम्हे आज से ही प्रतिदिन एक-एक दुर्गुण छोडने की प्रतिज्ञा करनी चाहिए।" लड़के ने नम्रता पूर्वक कहा—"महाराज !

आप जो कहते हैं वह मै अच्छी तरह से जानता हूं। किन्तु मजबूर हू। अपने को उन दुर्गुणो से पृथक् नही कर सकता। वे दुर्गुण मेरे जीवन की प्राकृतिक क्रियाए बन गई हैं। उन्हे मै छोड नही सकता। यदि आप उनके अलावा और किसी दूसरी वात के लिये कहे तो मैं उसे सहर्ष स्वीकार करूंगा।" मुनि ने उसको सत्यव्रत अपनाने के लिये कहा। लडका एक वार तो चौंका, मगर वह वचन का पक्का था। उसने उसी समय से झूठ वोलना छोड दिया। अव वह वन्धन मे आ गया। दूसरे ही दिन जव वह प्रहर रात्रि वीतते ही घर मे आया तो पिता सहसा पूछ वैठा—"पुत्र ! कहां से आए ?" वह वड़ी मुसीवत मे पडा। क्या कहे ? झूठ वोलना ठीक नही। सच कहे तो भी कैसे कहे ? पिता अकेले तो थे नही, उनके निकट शहर के अनेक प्रतिष्ठित नागरिक वैठे थे। दो क्षण तक वह टालमटोल करता रहा, किन्तु पिता उसे कव छोडनेवाला था। आखिर उसको लज्जापूर्वक कहना ही पड़ा—"पिताजी ! मदिरालय से मदिरा पीकर आ रहा हू।" यह सव सुनते ही वहां उपस्थित अनेक व्यक्तियो की निगाहें उस पर टिक गईं। उसने अनुभव किया कि वह उन सवका सामना नही कर सकेगा। उसे ग्लानि का अनुभव हुआ। उसने साहस वटोरा और जीवन भर शराव न पीने की प्रतिज्ञा कर ली। अगले दिन फिर उसी समय वह घर पहुंचा। पिता ने पूछा—"पुत्र ! कहा से आ रहे हो ?" लडके को वडी झुझलाहट हुई। वह सोचने लगा—"मुझसे ये वार-वार क्यो पूछते है ?" मै जहा चाहू, वहा जाऊ जव चाहू, तव आऊं। इनको इससे क्या मतलव ? किन्तु आखिर उसे पिता की दृढता के सामने झुकना ही पडा। उसने टूटते हुये स्वरो मे कहा—"पिताजी !....वेश्या.... गृह से... आ रहा हू।" उस दिन पिता के पास उसकी वहने वैठी थी। यह वात सुनते ही उनकी आखो मे आसू आ गए। वे दुखी होकर वोली—भैया ! हमारे भाई होकर तुम ऐसी जगह जाते हो। काश ! हमारे भाई नही होता। भाई से वहनो का दु.ख नही देखा गया। वह लज्जा से दव गया। उसकी ग्लानि का कोई पार नही रहा। उसने उसी समय वेश्या-गृह जाने का परित्याग कर दिया। इस प्रकार एक महीने की अवधि मे उसके सारे दुर्व्यसन छूट गये। विद्यार्थियो ! आप सोचें, उस पर किस वात का प्रभाव था। यदि वह सत्यवादी नही वनता तो क्या अपने जीवन की दिशा वदल सकता था ? मै आपको यही सलाह दूगा कि आप दृढ निश्चय कर लें कि आपको कभी झूठ नही वोलना है। आपको अभी पढना है। जीवन को ज्ञानार्जन मे लगाना है। फिर आप देखेगे कि आप मे चारित्र कैसे आ जाता है। जहा सत्य-निष्ठा होगी, वहां चारित्र अपने आप आयेगा। ऐसा करके आप अपना ही सुधार नही करेंगे, अपने कुटुम्व, समाज और राष्ट्र का काया-कल्प कर देगे।

आचार के एक प्रमुख तत्त्व की ओर भी संकेत करना चाहता हूं। वह है ब्रह्मचर्य। आप जानते हैं, आपका जीवन साधना का जीवन है। किन्तु विस्मय होता है जब मैं यह सुनता हूं कि विद्यार्थियों में ब्रह्मचर्य की कमी है। वे अप्राकृतिक- क्रियाओं में पड़कर अपने देवदुर्लभ मानव-जीवन को मिट्टी में मिला रहे है। हास्य-कुतूहल में पड़कर वे आदतो को बिगाड़ रहे है। उनका नष्ट-भ्रष्ट जीवन देख कर किसे तरस नही आता। मैं जोर देकर कहूंगा कि आप विद्यार्थी-जीवन को साधना का जीवन समझे। यह सोचें कि हमे इस साधना-काल में ब्रह्मचर्य की पूर्ण-साधना करनी है। पूर्ण-साधना के लिये यह आवश्यक है कि आप खाद्य-संयम करें, दृष्टि-संयम करें और अश्लील साहित्य, अश्लील संगीत तथा अश्लील चित्रो से कोसों हाथ दूर रहें। इस विषय मे अध्यापकों का भी कर्तव्य है कि वे विद्यार्थियों पर पूरा ध्यान दें। उनको बुराइयो मे न फंसने दे। एक समय था जब बड़े-बड़े नौजवान भी अश्लील बातो को समझते तक नही थे। आज के छोटे-छोटे किशोर भी बड़ो की आंखो में धूल झोक सकते है। इसलिये अध्यापको से मै यही आशा करूंगा कि वे अपने हाथो मे आई हुई इस महान् सम्पत्ति का सही ढंग से निर्माण करेंगे। केवल शाब्दिक या पुस्तकीय शिक्षा से नही, अपने जीवन के जीवंत आदर्शो के द्वारा उन्हे सक्रिय-शिक्षा देने का प्रयास करेंगे।

जोधपुर,
२६ अगस्त, ५३

१६. अवबोध का उद्देश्य

मुझे प्रसन्नता है कि मैं आज विद्यार्थियो को उद्वोधन देने के लिए आया हू । मेरे जीवन का यह प्रमुख विषय रहा है । या यो समझ लीजिये कि विद्यार्थियो मे कार्य करना मेरी रुचि का विषय है । जैसा कि छात्र सगठन के अध्यक्ष श्री जोरावरमल वोड़ा ने वताया कि मैं जव तेरह-चौदह वर्ष का था तव से ही विद्यार्थियो की देख-रेख रखनी प्रारम्भ कर दी थी । इस कॉलेज मे आने का मेरा यह पहला ही मौका है । इससे पूर्व भारतवर्ष के अनेक शिक्षा-केन्द्रो से मेरा सम्वन्ध हुआ है । मैंने विद्यार्थियो की नीति का अध्ययन किया है । वे क्या चाहते है ? उनकी क्या समस्याए हैं ? और उनके लिए क्या-क्या आवश्यक है ? इन प्रश्नो पर मैंने धीरता पूर्वक चिन्तन-मनन किया है और समय-समय पर करता भी रहा हूं ।

आज का युग विकास का युग है । चारो ओर विकास के नये-नये सूत्र सुनने में आ रहे है । मौलिक विकास आवश्यक है और वह होना ही चाहिए । आप भी अपना विकास चाहते है यह ठीक है, किन्तु इसके पहले यह भी सोचना चाहिये कि आखिर मानव-जीवन का उद्देश्य यह तो नही हो सकता कि सुख-सुविधापूर्वक जिन्दगी विताई जाए, शोपण और अन्याय से धन पैदा किया जाए, वडी-वड़ी भव्य अट्टालिकाएं वनाई जाएं और भौतिक साधनो का यथेष्ट उपभोग किया जाए । ऐसे अधूरे और अपूर्ण उद्देश्य को भारतीय संस्कृति मे कोई स्थान नही है । यह जीवन का उद्देश्य नही वल्कि जीवन के लिये अभिशाप है । भारतीय संस्कृति मे मानव-जीवन का उद्देश्य कुछ और ही वताया गया है । उसकी दृष्टि मे वाह्य-सुख सुविधाओ के लिये छीना-झपटी करना कोई महत्त्व की वात नही है । वह आन्तरिक सुख-सुविधाओं को पाने के लिये संकेत करती है । वह वताती है—मानव का उद्देश्य, विकास की चरम सीमा यानी परमात्म-पद तक पहुंचना है ।

यदि आपको इस उद्देश्य तक पहुंचना है तो मैं आपसे कहूंगा कि आप पण्डित नही शिक्षित वनें । यह सुनकर आप चौके नही । पण्डित और शिक्षित में वडा अन्तर होता है । पण्डित उसे कहते हैं जो विद्वान है, पढा हुआ है । शिक्षित वनने के लिये सवसे पहले आपको द्रष्टा वनना होगा । शास्त्रो मे कहा है : 'उद्देसो पासगस्स णत्थि' जो द्रष्टा वन गया उसके लिए फिर उपदेश की कोई आवश्यकता नही । जव तक अधूरापन है तव तक ही उपदेश की आवश्यकता होती है । आप पूछना चाहेगे कि 'द्रष्टा' से क्या मतलव है ? सवके

दो-दो आंखे है। सब देखते हैं। नजदीक ही नही, दूर-दूर तक का ज्ञान करते है। आज मनुष्य से न तो आकाश ही छिपा है और न समुद्रतल ही, छोटी-से-छोटी और दूर दराज की वस्तु को देखने मे भी कोई कठिनाई नहीं होती। ऐसी स्थिति मे मनुष्य द्रष्टा क्यो नही है ? मैं मानता हू आपकी यह विचार-धारा आपके दृष्टिकोण से ठीक है। किन्तु मेरे द्वारा प्रयुक्त 'द्रष्टा' शब्द की परिभाषा इससे सर्वथा विपरीत है। वह है 'अपने आपको देखना।' जो अपने आपको देख लेता है, उससे कुछ भी छिपा नही रहता। इसलिये द्रष्टा वही कहलाता है जो अपने आपको देखता है। दूर-दूर की वस्तु दूरवीन जैसे सूक्ष्मयन्त्र द्वारा देखी जा सकती है किन्तु अपनी शक्ल नही। यदि आप अपनी शक्ल देखना चाहेगे तो आपको हाथ मे दर्पण लेना पडेगा।

जो जैसा नही है उसे वैसा मानना अज्ञान है। भारतीय संस्कृति वताती है—

देहाय कीर्त्या बुद्धिरविद्येति प्रकीर्तिता।
नाहं देहश्चिदात्मेति बुद्धिर्विद्येति भण्यते॥

जो शरीर है, वही मैं हू—ऐसा सोचना अविद्या है, अज्ञान का परिणाम है। मैं शरीर नही, मै उससे भिन्न कुछ और हूं, वह जड है, मैं चेतन हू, अनु-भवकर्त्ता हूं, विवेकशील हूं तथा हेय-उपादेय स्वरूपात्मक बुद्धिवाला हूं—ऐसा चिन्तन या अववोध विद्या है। 'मै कौन हू ?' द्रष्टा के लिये यह कोई उलझन नही। द्रष्टा वन जाने के वाद न कुछ सुनने की आवश्यकता रहती है और न कुछ ग्रहण करने के लिए कही जाने की। आप पूछेगे—क्या आप द्रष्टा वन गये ? मै कहूगा—अभी हम द्रष्टा नही वने है। हम और आप दोनो ही द्रष्टा वनने की कोशिश मे है। हमारा यह अभिमत है कि हमे अपनी विरासत में जो अमूल्य चीजे मिली है उनको हम अपने मे चरितार्थ करते हुए दूसरो तक भी पहुचाएं। हम अभी तक साधक हैं, साधना हमारा लक्ष्य है। हम अभी सिद्ध नही हुए है। आप भी साधक वने, साधना करे, यह मैं आपको वल देकर कहूगा। यह तो स्पष्ट हो ही गया है कि जो द्रष्टा नही, उसके लिए उपदेश की आवश्यकता है। प्रश्न उठता है—उपदेश क्या है ? उपदेश है 'वुज्झेज्ज तिउट्टेज्जा'—वन्धनो को जानो और तोडो। जानना पहले आव-श्यक है। वन्धनो को जाने विना तोडना संभव नही। तोड़े विना आजादी कहा ? और आजादी के अभाव मे गुलामी से पिण्ड छूटना क्या सभव है ? इसलिये सवसे पहले आवश्यकता है जानने की।

भारतीय परम्परा मे जानना सिर्फ जानने के लिए नही, ज्ञान सिर्फ ज्ञान के लिए नही वल्कि जीवन के लिए है। शास्त्रो मे ज्ञान का फल प्रत्याख्यान वतलाया गया है। 'नाणे पच्चक्खाणफले'–अच्छा और वुरा, हेय और उपादेय, त्याज्य और ग्राह्य इनको समझकर त्याज्य को छोडो और ग्राह्य

को ग्रहण करो—यह है सच्चा ज्ञान और उसका सच्चा फल। आज मुझे सखेद कहना पड़ता है कि भारत अपनी परम्परा अपनी संस्कृति और अपनी सभ्यता को भूलकर भौतिकवाद का अन्धानुकरण कर रहा है। भौतिकवादी देशो मे कला, सिर्फ कला के लिए है, ज्ञान का जो प्रत्याख्यान फल है उसका वहा कोई स्थान नही। यही कारण है आज देश मे अनेक शिक्षणशालाओ के होने पर तथा दिन-प्रति-दिन अनेक नई-नई विद्याओ के होने पर भी विद्यार्थियो को वास्तविक ज्ञान नही मिल रहा है।

ज्ञान के साथ शिक्षा का होना नितान्त आवश्यक है। आज मैं अनुभव करता हू—ज्ञान के लिए, ज्ञान वहुत है, पर दूसरी ओर जीवन मे शिक्षा का पूर्ण अभाव है। इसीलिये आज सर्वत्र क्लेश और उलझनो का वातावरण छाया हुआ है। आप पूछेगे—ज्ञान और शिक्षा मे क्या भेद है ? ज्ञान सिर्फ जानना मात्र है जवकि शिक्षा का अर्थ संयम की साधना है। जिसमे सयम की साधना है, उसका जीवन सफल है, कृत-कृत्य है। जिसमे यह नही है उसको सयम का अभ्यास करने की भरसक चेष्टा करनी चाहिए। यह निश्चित है, जिसे सयम का अभ्यास नही वह अपनी मजिल से वहुत दूर और वहुत नीचे है। मुझे सखेद कहना पडता है कि आज शिक्षार्थियो मे भी शिक्षा यानी सयम की साधना का वहुत बडा अभाव है। यही कारण है कि आज शिक्षार्थी समाज मे तरह-तरह के अनर्थ उत्पन्न कर रहा है।

शिक्षा का स्वरूप कैसा होना चाहिए और शिक्षा के योग्य कौन व्यक्ति हो सकता है ? इस पर प्रकाश डालने हुए शास्त्रो मे आठ कारण वतलाये गए है—

> अह अट्ठहिं ठाणेहिं सिक्खासीलेत्ति वुच्चई।
> अहस्सिरे सया दन्ते न य मम्ममुदाहरे॥
> नासीले न विसीले न सिया अइलोलुए।
> अकोहणे सच्चरए सिक्खासीलेत्ति वुच्चई॥

शिक्षा प्राप्त करने के योग्य वही होता है जो सदा हास्य-कुतूहल से दूर रहता है। हास्य-कुतूहल करनेवाला शिक्षा प्राप्त नही कर सकता। इसी तरह जो इन्द्रियो और मन पर काबू रखता है, ब्रह्मचर्य का सेवन करता है वह शिक्षा के योग्य होता है। मन पर काबू नही रखने वाला शिक्षा प्राप्त नही कर सकता। इसी तरह जो किसी के मर्म का उद्घाटन नहीं करता। सदाचारी होता है, जिसका आचार खडित नही हुआ है, रसो मे जिसकी गृद्धि नही है, जो अक्रोधी, क्षमायुक्त और सत्य-भाषण करने वाला है वह शिक्षा का अधिकारी है। साराश यही है कि शिक्षा-ग्रहण करते समय जिनकी संयम मे दृढनिष्ठा नही रहती वे न तो शिक्षा ही पा सकते है और न शिक्षित ही कहला सकते है। सही वात तो यह है कि आज के विद्यार्थियो मे सयम की

वहुत वड़ी कमी है। विशेषकर उनका मानसिक संयम तो आज विल्कुल गिरा हुआ सा प्रतीत होता है। आए दिन परीक्षा मे अनुत्तीर्ण होने वाले कितने विद्यार्थी आत्महत्या का घिनौना प्रयत्न नही करते ? क्या परीक्षा मे उत्तीर्ण होना ही सव कुछ है। परीक्षा मे उत्तीर्ण हो या न हो किन्तु जो पढ़ा है वह तो कही नही गया। पढ़ने का सार तभी है जवकि वह स्वयं संयम की साधना करता हुआ समाज और देश मे संयम का प्रसार करे। व्यक्ति-व्यक्ति मे संयम की पावन-पुनीत भावना को जागृत करे।

विद्यार्थी जीवन मे ब्रह्मचर्य-साधना की वहुत वड़ी आवश्यकता है। ब्रह्मचर्य ही जीवन है। ब्रह्मचर्य को खोकर यथेष्ट उन्नति और विकास करना सम्भव नही। वह पढना किस काम का जिससे ब्रह्मचर्य का विकास न होकर, उसका ह्रास हो। मै आपसे अनुरोध करूंगा कि आप विद्यार्थी-जीवन को एक साधना का जीवन समझकर ब्रह्मचर्य की पूर्ण साधना करे। सदा जागरूक रहें और यह विचार करें कि वे कौन-कौन से कारण हैं जो आपको अब्रह्मचर्य की ओर ढकेलते है। उन कारणों को खोजकर उनका निर्मूलन करें। उन व्यक्तियो की सगति न करे, वैसा साहित्य न पढ़ें, जो जीवन को ब्रह्मचर्य से हटाकर अब्रह्मचर्य की ओर ले जानेवाला हो।

पढने के वाद भी जिनमें संयम की साधना नही है, हेय-उपादेय का ज्ञान नही है, त्याज्य-ग्राह्य का विवेक नही है वे पढ़-लिखकर भी अज्ञानी ही है। शिक्षा के साथ जिनमें ज्ञान नही है, वे परमार्थ और व्यवहार मे कभी सफल नही हो सकते। वे केवल जानने के लिए जानते हैं किन्तु वे नही समझते कि जानने का प्रयोग कैसे करना चाहिए ? मुझे वह घटना याद आ रही है जिसमे कि एक पढ़े-लिखे इंजीनियर ने अपने ज्ञान का कितना हास्यास्पद प्रयोग किया। एक इजीनियर किसी काफिले के साथ जा रहा था। जगल का मार्ग था। आगे चलकर रास्ते में चारो ओर पानी आ गया। काफिला वही रुक गया। लोगों ने इंजीनियर से सलाह मांगी। वह तत्काल एक पन्ना और पेन्सिल लेकर आगे आया। एक आदमी को जल मापने के लिए कहा। जल मापा गया। कही एक-दो हाथ और कही पांच-सात हाथ। इंजीनियर ने पन्ने पर नोट कर सारा औसत निकाला। औसत के अनुसार उसमे गाड़ी के डूवने जैसी कोई सम्भावना नही थी। फिर क्या था ? इंजीनियर ने तुरन्त गाड़ी को जल मे उतारने की सलाह दी। आगेवाली गाड़ी में वच्चो का झुण्ड था। ज्यों ही वह गाड़ी कुछ गहरे पानी में पहुंची कि जल में डूवने लगी। लोगो में भगदड़ मच गई। वे तुरन्त इजीनियर के पास दौड़ कर आये और वोले—'इंजीनियर साहव ! आपने यह क्या किया ? सारे बाल-वच्चे डूवे जा रहे है।' इंजीनियर ने तुरन्त अपना पन्ना निकाला और दुवारा औसत मिलाया। औसत ठीक निकला। वड़े गर्व के साथ उसने कहा—

'लेखा-जोखा ज्यों का त्यो, छोरा-छोरी डूबे क्यो।' भाई मेरा तो कोई दोष नही है, देख लो, यह लेखा-जोखा तुम्हारे सामने है। समझ में नही आता औसत ठीक होने पर भी छोकरे-छोकरी क्यो डूबे जा रहे है ?' कहने का तात्पर्य यही है कि जो जीवन की शिक्षा प्राप्त नही करते, वे कही भी सफल नही होते। वे अपने साथ-साथ औरों को भी मुसीवतो मे फसा देते है तथा वडे-वडे अनर्थ कर वैठते है।

यदि आपको वास्तव मे शिक्षित वनना है तो आप सयम की साधना करे। संयम की साधना के लिए अणुव्रत-योजना अत्यन्त उपयोगी है। आप कहेगे वह तो एक जैन सम्प्रदाय विशेप की योजना है। हम उसे क्यो अपनाये ? क्या हमे जैनी वनना है ? मुझे सखेद कहना पडता है—आज साम्प्रदायिकता का भूत किस विकृत रूप मे सवके दिमाग पर छाया हुआ है। मैं साम्प्रदायिकता को अच्छा नही मानता, पर सम्प्रदाय यानी विचारको का समाज कभी बुरा कभी नहीं होता। सिर्फ नाम मात्र से ही भडक जाना अच्छा नहीं, यह संकुचित और संकीर्ण मनोवृत्ति का द्योतक है। सवाल तो यह है कि आप पहले मानवता की दृप्टि से उस योजना का अध्ययन करे, उस पर विचार करे। मैं विश्वास पूर्वक कह सकता हू कि आप उन नियमों को पढ कर यही सोचेगे, अनुभव करेगे कि ये नियम तो किसी एक सम्प्रदाय या वर्ग-विशेप से सम्वन्धित नही, ये तो हमारे शास्त्रो मे भी वताये गये है।

खेद तो इस वात का है कि आज साधुओ के विषय मे लोगो की धारणा स्पप्ट नही है। जिस देश की सस्कृति त्याग और संयम प्रधान संस्कृति मानी गई है, जिस देश मे सन्तो का सदैव समादर हुआ है उस देश के नागरिक यह कहने मे संकोच नही करते कि ये साधु क्या है, समाज पर वोझ है, भारभूत है। मैं मानता हू उनका कहना सर्वथा निर्मूल नही है। उनके सामने कुछ ऐसे ही साधु आते हैं जिनसे उनकी धारणा ऐसी वन जाती है। किन्तु समूचे साधु-समाज के लिए ऐसी धारणा वनाना उचित नही। जैन साधुओं के विषय मे मैं आपको स्पप्ट वता देना चाहता हू कि वे समाज के लिए तनिक भी वोझ या भारभूत नहीं हैं। वे 'जिन' के अनुयायी है। 'जिन' वे होते हैं जो विजेता हैं—आत्मजयी है, वीतराग हैं और समस्त कर्मो का नाश करनेवाले हैं। जैन आज भी अपने पवित्र उद्देश्य को अक्षुण्ण रखते हुए आत्म-विजय के मार्ग में प्रस्तुत है। 'स्वयं जगे और दूसरो को जगाए' यही उनके जीवन का ध्रुव मन्त्र है। वे आज के लोगो की तरह सुधार की थोथी आवाज नहीं उठाते। आज ऐसे लोगो की कमी नही जो स्टेज पर खडे होकर जीवन-सुधार के विपय मे वड़े-वडे भाषण देते रहते है। पर यदि उनके जीवन को देखा जाए तो उनसे घृणा होने लगती है। भला जिनकी कोई अच्छी जिन्दगी नही, आचरणो की कोई योग्यता नही, क्या वे भी कुछ कहने और प्रेरणा देने के

अधिकारी हो सकते है ? उन्हें क्या मालूम सुधार और उत्थान कैसे होता है ? सुधार और उत्थान केवल वातों से होने की चीज नही है। उसके लिए अपनी कुर्बानी करनी पडती है। वलिदान करना होता है। तव कही जाकर सुधार और उत्थान की वात वनती है। जैन साधु इसी मन्त्र को लिए चलते है। वे यही कहते है तुम जो उपदेश करना चाहते हो पहले उसे अपने आचरण मे उतारो और फिर लोगो से कहो।

जैन साधु पाच नियमो का पालन करते हैं—अहिसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। मैत्री-विश्ववन्धुता का प्रचार करना उनका प्रमुख कर्तव्य है। अहिसा उनका जीवन है। अहिसा को जो कायरता की जननी कहते है वे महान् भूल करते है। कायरता की जननी तो हिंसा है। अहिसा वीरत्व की जननी है। वह वीरो का आभूपण है। किसी को तनिक भी क्लेश न पहुचाते हुए अध्यात्म की राह पर हसते-हंसते अपने प्राण न्योछावर कर देना क्या कायरता है ? यह तो उत्कृप्टतम वीरता का प्रमाण है ; साधु के लिए हिंसा मात्र त्याज्य है। इसी प्रकार वे पूर्ण सत्य का पालन करते हैं, किसी प्रकार की चोरी नही करते, ब्रह्मचर्य की पूर्ण साधना करते है और किसी भी प्रकार का संग्रह नही करते। साधुओ का कही कोई स्थान नही होता और न उनके लिए कही भोजन पानी भी तैयार रहता है। वे किसी प्रकार की सवारी नही करते, उनकी यात्रा पैदल होती है। दिल्ली मे जव विनोवाजी से हमारी मुलाकात हुई तो उन्होने कहा—'आजकल मैने भी आपकी चीज स्वीकार कर ली है।' मैंने कहा—'आपने तो अव की है, हम तो शताब्दियो और सहस्राब्दियो से ही पैदल यात्रा करते आ रहे है।" आप सोचे जिनके जीवन मे ऐसे महत्त्वपूर्ण आदर्श है क्या वे समाज के लिए भार है ? जो निरन्तर अवैतनिक रूप मे समाज का नैतिक पथ-दर्शन करते रहते है। जो हर समय नि.स्वार्थ भाव से समाज को उपदेश और शिक्षा-वितरण करते रहते है, क्या वे किसी के लिए भी वोझ है ? नही, वे तो उत्कृप्टतम साधक है और समाज को भी साधना के उच्चतम शिखर तक पहुंचाने का अविरल प्रयत्न करते रहते है।

जैन साधुओ को देखकर आपके चौकने के दो कारण है—एक तो उनसे आपका संपर्क नही है। दूसरे मे आप उनकी वेशभूपा को देख कर भी चौक उठते है। आप संभवत: सोचते होगे इन्होने मुह पर पट्टी क्यो वांधी है ? लुधियाना (पंजाब) की बात है। मैं वहा के गवर्नमेण्ट कॉलेज मे प्रवचन करने के लिए गया। विद्यार्थी लोग साधुओ की वेशभूषा देख कर आपस मे मजाक उड़ाने लगे। एक ने पूछा—ये मुह पर पट्टी क्यो वांधते है ? दूसरे ने उत्तर देते हुए कहा मुह का ऑपरेशन कराया है। तीसरे ने इससे भी आगे कहा—मुह मे मक्खी-मच्छर आदि गिर जाते है इसलिए पट्टी वांध रखी है। मैं उनके गप्प-

शप्प और शोरगुल को देखकर विचार में पड गया कि ये प्रवचन सुनेंगे ? मगर ज्योही मैंने सर्वप्रथम उनकी उलझनों, भ्रान्तियो और समस्याओ को लेकर प्रवचन प्रारम्भ किया कि वे शान्त होकर प्रवचन सुनने लगे। मैंने कहा—विद्यार्थियो ! आप इन साधुओ को देखकर उलझन मे मत पडिये। ये कोई दूसरी दुनिया के नही हैं, आपके ही भाई-वन्धु है। आपमे से ही निकल कर ये इस जिन्दगी में अग्रसर हुए है। इनकी वेशभूपा भ्रान्ति या मात्र प्रदर्शन के लिए नही, वलिक सादगी की प्रतीक है। मुंह पर पट्टी वाधने के पीछे एक गहरा सिद्धान्त है। यह भी एक साधना का अंग है। यह दूसरी वात है कि सवको यह जंचे या नही जचे। जैन-शास्त्रो मे वताया गया है कि वोलते समय जो तेज हवा निकलती है उसका वाहर की हवा के साथ टकराने से वायुकाय के जीवो की हिंसा होती है। इस पट्टी को वाधने का प्रयोजन है कि वह हवा वाहर की हवा से सीधी न टकराए। इसका मतलव न तो कीड़े-मकोडे आदि गिरने से ही है और न कोई ऑपरेशन से ही। इस तथ्य को समझते ही सव शान्त हो गये और फिर सवने पूरा प्रवचन वडे ध्यानपूर्वक और शिष्टतापूर्वक सुना।

आप जानते हैं यह अखवारी दुनिया है। साम्यवाद को लेकर चारो ओर हलचल सी मच रही है। लोगो के लिए साम्यवाद चिन्ताजनक वन रहा है। लोग सोचते है साम्यवाद आने पर न जाने क्या हो जायेगा ? तथाकथित धार्मिक लोगो की तो और भी वुरी स्थिति है। दिल्ली-प्रवास मे कन्स्टीट्यूशन क्लव मे एक व्यक्ति ने मुझसे प्रश्न किया—"क्या भारत मे साम्यवाद आयेगा ?' मैंने कहा—"अगर आप वुलायेंगे तो अवश्य आयेगा। अन्यथा नही।"

आज का युग समानता का युग है। लोग आज विपमता को सहन नही कर सकते। उनके लिए यह असह्य है कि एक व्यक्ति के पास तो पाच-पांच मोटरें हो और एक के पैरो मे खडाऊ भी न हो। समानता का सिद्धान्त कोई नया सिद्धान्त नही है। प्राचीन शास्त्रो मे भी समानता पर वल दिया गया है। अन्तर केवल दोनो के तरीको मे है। तरीके चाहे कुछ भी हो आखिर समानता लाना दोनो का ही ध्येय है। हमारी दृष्टि मे हिंसा से किया गया परिवर्तन चिरकाल तक स्थायी नही हो सकता। हृदय-परिवर्तन द्वारा लाया गया परिवर्तन ही स्वस्थ, सुखद और चिरकाल स्थायी हो सकता है। निराशावादी कहेंगे—क्या ऐसा होना कभी संभव है ? एक-एक का हृदय-परिवर्तन कर सवको एक सूत्र मे वांधना—एक असभव कल्पना है। मगर मैं निराशावादी नही, आशावादी हूं। आज अगर नेता साहित्यकार, दार्शनिक, कलाविद् और कवि। [illegible] ातावरण को फैलाना छोड़ कर अहिंसा के पुनीत [illegible] ण को [illegible] जाएं तो क्या यह सभव नही [illegible]

आलोक कण-कण मे चमक उठे।

मैं चाहता हूं विद्यार्थियो के जीवन मे धर्म का सचार हो। आप धर्म शब्द से चौके नही। मैं उस धर्म के विपय मे नही कहता जो पूंजीपतियो के आश्रित है, जिसे शोषण का माध्यम बना दिया गया है, जो आडम्बरो और दुराचारों को प्रोत्साहन देता है। उस धर्म के बारे में कहता हूं जो व्यक्ति-व्यक्ति का समान आश्रयदाता है। जिसमे लिंग, रंग और जाति-पांति आदि का कोई भेद-भाव नही है। जिसको निर्धन और धनिक, दरिद्र और पूंजीपति सभी समान रूप से ग्रहण कर सकते है। मेरी दृप्टि में सद्भाव और समानता पैदा करनेवाला धर्म सबके लिए आवश्यक है। वुद्धिवादी लोग धर्म को विष से भी अधिक अनिप्टकर मानने लगे और मानते है। इसका दोप तथा-कथित धार्मिक लोगो पर ही है। उन्होने धर्म के पवित्र वातावरण को अपनी तुच्छ स्वार्थ-सिद्धि को लेकर इतना गन्दा और कलुपित वना दिया कि जिसे देखकर आज किसके हृदय मे चोट नही पहुंचती ?

अन्त मे मैं आपसे यही कहूगा कि आप लोग अगर कल्याण चाहते है तो अहिंसा और अपरिग्रह के मार्ग को अपनाइए। अहिंसा और अपरिग्रह की महान् शक्ति के आधार पर राजनैतिक, सामाजिक, पारिवारिक और आर्थिक किसी भी समस्या का हल निकाल कर दुनिया की तस्वीर वदली जा सकती है। विनोवाजी और क्या कह रहे है। अभी-अभी जव जाजूजी मिले तो उन्होने वताया 'विनोवाजी का कहना है कि अव शीघ्र ही एक अहिंसात्मक क्रान्ति होनेवाली है, वह रुकेगी नही। मैं भी तो यही कह रहा हू—अहिंसा और अपरिग्रह की भावना फैलाना मेरा प्रमुख कर्तव्य है और जव यह भावना व्यापकरूप पकडने लगेगी तव जो अहिंसात्मक क्रान्ति होनेवाली है, क्या वह रुकेगी ? नही, कदापि नही।

वस मैं पुनः इन्ही वाक्यों को दोहरा देता हूं—आप उठे, जागें, जीवन का निर्माण करे, द्रष्टा वने। 'उद्देसो पासगस्स णत्थि' अर्थात् द्रष्टा वनने के बाद उपदेश देने की कोई आवश्कता नही रहेगी। इसलिए आप पंडित नही, सवसे पहले शिक्षित वनिए तभी आपका, समाज का तथा देश का सही अर्थ मे कल्याण होगा

जोधपुर,
(जसवन्त कॉलेज)

१७. कवि का दायित्व

कवि समाज और राष्ट्र के निर्माता होते है। आज उन पर समाज और देश के विकास की बहुत बड़ी जिम्मेवारी है।

कवि की रचना केवल मनोविनोद व हास्य के लिये ही नही होनी चाहिए। वह जन-जन के जीवन-विकास की प्रेरणा के लिए हो, जो जन-मानस को छूते हुए विकास की एक सजग प्रेरणा दे सके।

कवि कर्म बड़ा दुर्लभ है। जितनी दुर्लभता मानव-जीवन की तथा शिक्षा की है उससे कही अधिक दुर्लभ कवि बनना है। कवि अभ्यास से नहीं बना जाता, प्रकृति ही उनकी निर्मात्री होती है। सही अर्थ मे कवि बनने की सार्थकता तब है जबकि वह विषमता-मूलक वातावरण को बदलकर नैतिकता मूलक बना दे।

कवि की रचना किसी को प्रसन्न रखने के लिए या सम्मान पाने के लिए नही होनी चाहिए। वह अपनी रचना के सहारे जनता का पथ-दर्शन कर सके।

कवि को चाहिए कि वह अपनी साहित्य साधना के द्वारा जनता मे समन्वय की भावना अधिक से अधिक विकसित करे और समाज मे चारित्रिक प्रतिष्ठा करे।

जोधपुर,
३० अगस्त, ५३

१८. आत्म साधना के महान् साधक

जयाचार्य एक महान् दार्शनिक, कलाकार और विचारक थे। उन्होंने दर्शन, धर्म, शास्त्र और नीति जैसे विषयो पर राजस्थानी भाषा में लगभग साढ़े तीन लाख पद्य लिखे यह राजस्थानी साहित्य को उनकी अमर देन है। आगमो की टीकाएं, महापुरुषो की पद्यात्मक जीवनियां, संघ का इतिहास, गद्यकाव्य, प्रबन्धकाव्य आदि साहित्य के विविध अंगो पर उनका पूर्ण अधिकार था। उन सब पर उन्होंने प्रचुर मात्रा मे लिखा। जयाचार्य जहां एक ओर प्रतिभाशील कलाकार, लेखक और कवि थे वहां दूसरी ओर आत्म-साधना के महान् साधक थे। उनका समग्र जीवन-दर्शन एक प्रेरणा है और सुप्त मानस मे स्फूर्ति का संचार करने वाला है। आज उनके स्मृति-दिवस को प्रेरणा मानकर यदि आत्म जागरण की दिशा मे आपने कदम बढ़ाया तो उनकी सच्ची स्मृति होगी।

जोधपुर,
५ सितम्बर, ५३

११. पर्युषण पर्व

पर्युपण-पर्व अध्यात्म का प्रतिनिधि पर्व है। यह एक मात्र आत्मालोचन का व आत्मनिरीक्षण का प्रतीक है। भौतिक उपलब्धियों व अभिसिद्धियो से इस पर्व का कोई सम्बन्ध नही है।

मनुष्य विवेकशील प्राणी है। उसका स्वभाव है—स्वमर्यादा में रहना एव पर-मर्यादा से दूर होना, पर कई बार वह अपने इस स्वभाव को छोडकर परभाव मे यानी विभाव मे चला जाता है। विभाव में जाने का परिणाम होता है कि वह परिस्थिति की अनुफूलता-प्रतिकूलता पर कभी मुरझाता है कभी प्रसन्न होता है, किसी को मित्र मानता है, किसी को शत्रु बनाता है। इस प्रकार वह अपने हाथो अपने लिये अनन्त बन्धन रच लेता है। फल स्वरूप आत्मा का सहज आनन्द दब जाता है। सहज आनन्द के अभाव मे बाहर से आनन्द लाने के लिये फिर अनेक आमोद-प्रमोद के पर्व मनाये जाते है। मैं चाहता हूं कि पर्युपण पर्व को वह रूप न मिले। यह बाहरी आनन्द का विषय न बने, रूढ़ि का रूप न ले और मात्र वाक्‌विलास तक सीमित न रहे।

आत्म-शोधन के इस महान् पर्व में आचार-शुद्धि, विचार-शुद्धि और विश्वास-शुद्धि की त्रिवेणी बहे; पूरे वर्ष के लिये सहज आनन्द का सम्बल जुटे, तभी इसपर्व की सफलता और सार्थकता है।

जोधपुर,
५ सितम्बर, ५३

१००. अणुव्रत : एक रचनात्मक कार्यक्रम

आज सारा मानव समाज अनीति और शोषण जैसी वृत्तियो से जर्ज-रित है। वह शान्ति को पाने के लिए उत्कंठित है। विज्ञान द्वारा प्रदत्त भौतिक उपलब्धिया उसे शान्ति नही दे सकी। वाहर से सव कुछ पा कर भी उसका अन्तस्तल दुःखी है। यह सव क्यो? इसलिए कि उसके जीवन में नीति नहीं, सत्यनिष्ठा नही, न्यायपरता नही, ईमानदारी नही। जीवन वाहर से पुष्ट और भरा-पूरा दीखता है, पर वास्तव में वह अधूरा है। भीतर से खोखला है। इस खोखलेपन की जगह ठोसता लाने की आवश्यकता है। उसका लाने का साधन है—जीवन में नीति, न्याय, सच्चाई एवं ईमानदारी को उतारना। अणुव्रत-आन्दोलन इसी भावना को लेकर चलनेवाला एक रचना-त्मक कार्यक्रम है। नैतिकता व सुधार में विश्वास रखनेवाले व्यक्ति इसे अपने जीवन में अपनाएं तो जीवन आत्म-ज्योति के प्रकाश से जगमगा उठेगा, इसमें सन्देह नही है।

कुछ व्यक्ति अनुकरण प्रिय होते है। वे अज्ञानियों के अज्ञान को और वच्चो के वचपन को देखकर अधर्म की ओर कदम वढा लेते है। विपय गामी वन जाते है। ऐसा अनुकरण करना अच्छा नही, यदि देखा-देखी करनी है तो धीर, गभीर और धार्मिक पुरुपो की करनी चाहिए। सत्पुरुषों का अनुकरण कभी-कभी जीवन मे वहुत वडा परिवर्तन घटित कर देता है।

तपस्या करना अच्छा है। पर खाद्य-संयम भी कम नही है। यह भी एक प्रकार की तपस्या है। अनेक लोग तपस्या तो लंवी-लवी कर लेते है पर वे खाद्य संयम नही कर सकते यह उचित नही है। पदार्थों के प्रति आसक्ति रखकर तपस्या करने की अपेक्षा खाद्य-संयम अच्छा है।

जैन-धर्म त्याग-प्रधान धर्म है। उसमे आडम्वर को किंचित भी स्थान नही है। जैन-धर्म क्या, मैं तो कहूंगा किसी भी धर्म मे आडम्वर को स्थान नही मिलना चाहिए। धर्म आत्म-शोधन के लिए होता है, उसमें आडम्वर कैसा ?

धार्मिक मान्यताओ में विरोधी वातो की अपेक्षा समन्वय अधिक है। ईश्वर सृष्टि का कर्ता है या नही, वह व्यापक है या नही इस प्रकार के दो-चार प्रसंगो मे आपस मे मतभेद हो सकते है, पर साध्य सवका एक है। अहिंसा,

सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह आदि के सम्बन्ध से सभी धर्म एक मत है। फिर इन थोड़ी सी बातो को सामने रखकर संघर्ष क्यों किया जाय। मूल-तत्त्वों के सामने कुछ बातों का अन्तर कोई विशेष मूल्य नही रखता। संघर्षण से दियासलाई जलती है—प्रकाश होता है। लेकिन ऐसा प्रकाश किस काम का जो व्यक्ति को जला डाले। अतः आज संघर्ष का नही, समन्वय का समय है।

साधु और गृहस्थ का धर्म अलग-अलग नही हो सकता। वह एक है। अन्तर इतना ही है कि साधु उसे पूर्णरूपेण अपनाते हैं और गृहस्थ उसे आंशिक-यथाशक्ति जीवन में उतारते हैं। ऐसा नही हो सकता कि एक कार्य साधु के लिए धर्म और गृहस्थ के लिए पाप हो अथवा गृहस्थ के लिए जो कार्य धर्म है वह साधु के लिए धर्म नही। धर्म हर हालत मे धर्म है। उसमें परिवर्तन नही हो सकता।

जोधपुर,

६ सितम्बर, ५३

१०१. आत्मशोधन का पर्व

संसार दुःखी है और वह इसलिए दुःखी है कि आज व्यक्ति-व्यक्ति की मानसिक स्थिति असन्तुलित बनी हुई है। मनुष्य अपने गुण-अवगुण को पहचान नहीं सकता। फिर दुःख कैसे न हो? दुःख को दूर तभी किया जा सकता है? जब मनुष्य गुण पर गर्व न करे और अवगुणो से दूर हटे। जब तक ये दो बातें नही होती तब तक दुःख दूर होना सम्भव नहीं। जब यह होगा, तब निश्चित रूप से आत्मा में ममता का निर्मल स्रोत फूट पड़ेगा।

'खमत-खामणा' अनिर्वचनीय आनन्द देने वाला तत्त्व है। साधक-जीवन का मूल मंत्र है। इसके अभाव मे साधक जीवन की प्रगति अवरुद्ध हो जाती है। जो क्षमा मे विमुख होकर क्रोध को प्रश्रय देते हैं वे अपने हाथ से अपने पैर पर कुल्हाड़ी चलाते हैं। क्रोधी व्यक्ति क्षण भर भी सुख प्राप्त नहीं कर सकता। उसका अन्तःकरण क्रोधाग्नि में प्रतिक्षण जलता रहता है। होंठों में फड़कन और आंखों में लाली छाई रहती है। जो व्यक्ति तीव्र गुस्सा करने वाले होते हैं उनके दुःख और अशान्ति का तो कहना ही क्या? कहते हैं—नरक मे प्राणी को एक क्षण भी सुख व शान्ति नही मिलती। यह है नरक की बात, किन्तु जो सर्प की तरह दंश लगाने वाले क्रोधी व्यक्ति होते हैं, क्षण क्षण में उत्तेजित होते रहते हैं उनमें और उन नरकवासियों में विशेष अन्तर नहीं होता।

क्रोधित होना मानव की महान् दुर्बलता है। इसे अनुभव कर आत्मदर्शियो ने इस भयंकर रोग को मिटाने के लिए 'खमत-खामणा' जैसी पावन पुनीत चिकित्सा-पद्धति का आविष्कार किया। यह उनकी महान् देन है, जिसको कभी भुलाया नहीं जा सकता। इस महान् चिकित्सा-पद्धति का प्रयोग कर कितनों ने अपने जीवन का परिष्कार किया, यह तथ्य जैन-इतिहास के विद्यार्थियों से अज्ञात नहीं। आज भी इस चिकित्सा पद्धति के सहारे कितने व्यक्ति अपने जीवन की पाशविकता को निकाल कर मानवीय आदर्शों की प्रेरणा ग्रहण करते हैं, इससे भी आज हम अनभिज्ञ नही। हम उन महान् महर्षियों के हृदय से कृतज्ञ हैं, जिन्होंने मानवीय दुर्बलताओं को चुनौती देते हुए भीषण अंधकार में एक विराट् प्रकाश-स्तम्भ का निर्माण किया।

यह बात नहीं है कि क्रोधी व्यक्ति को अपनी दुर्बलता का भान नहीं होता। वह अपनी कमजोरी के लिए भीतर ही भीतर रोता है। वह चाहता है कि जिसके प्रति मेरा वैमनस्य है वह मिट जाए। पर मिटे कैसे? पहल कौन

करे ? दोनो के लिए अपनी-अपनी प्रतिष्ठा का सवाल है । लोग क्या कहेंगे—अमुक व्यक्ति कमजोर है, हार खा गया । जो लोग चिन्तनशील नही हैं या अल्प चिन्तन रखते है वे ही इन तुच्छ उलझनों में उलझे रहते है । वे अपने मार्ग का सही निर्माण नही कर सकते ।

मैं पूजीपति या शक्ति सम्पन्न को वड़ा नही समझता, वडा मैं उसको मानता हू जो वैमनस्य को मिटाने के लिए पहल करता है । वह फिर चाहे साधारण स्थितिवाला ही क्यो न हो, सामनेवाले को झुका लेगा, हृदय-परिवर्तन कर देगा और उसकी गति को मोड़ देगा । मुझे मेवाड़ की वह घटना याद आ रही है जिसमे एक हरिजन और एक महाजन, उस समय के शब्दो मे कहूं तो एक सेठ और एक ढेढ़—दोनो मे परस्पर अच्छा सम्बन्ध था । कारणवश उनका वह सम्बन्ध टूट गया और आपस मे वैमनस्य रहने लगा । वैमनस्य बढ़ा तो इतना बढा कि आपस का लेन-देन और यहा तक कि वोल-चाल भी वन्द हो गई । सेठ ढेढ को देखकर जल उठता और मुंह फेर लेता और ढेढ़ सेठ को देखकर । लगभग १० वर्ष वीत गए किन्तु उनका तनाव कुछ भी कम नही हुआ । संयोगवश एक दिन आचार्य भिक्षु के विद्वान् शिष्य हेमराजजी स्वामी का वहा आगमन हुआ । सर्व प्रथम ढेढ को इस वात का पता चला । वह पक्का श्रद्धालु था । उसने विचार किया—गाव में किसी को मालूम नही है । अगर मैं सूचना नही दूगा तो कौन सन्तो के सामने आएगा और कौन सन्तो का स्वागत करेगा ? किन्तु···किन्तु···उस सेठ को मैं कैसे सूचना दू ? जिसको मैं देखना, सुनना, और समझना तक नही चाहता । दो क्षण तक उसके हृदय में अन्तर्द्वन्द्व मचा रहा । वह क्या करे ? सेठ को सूचना दिये विना कार्य सम्पन्न होना कठिन सा लगता था । इतने ही मे उसे एक प्रकाश-पुञ्ज दिखाई दिया । उसका सारा अन्तः संघर्ष समाप्त हो गया । उद्वेग और चिन्ता की लपटें एक साथ शात हो गईं । उदारता और विवेक का महान् स्रोत उसके हृदय मे उतर आया । उसने विचार किया—सेठ से जो मेरा वैर-विरोध है वह दुनियावी झंझट है । आखिर हम दोनो का धर्म तो एक ही है । धर्म को लेकर हम दोनो मे कोई विभेद नही । अतः धार्मिक कर्तव्य के नाते मुझे सेठ को अवश्य सूचना देनी चाहिए । यह सोचकर वह वहां से दौडता-दौडता सेठ के मकान पर पहुचा और वाहर मे ही उच्च स्वर से आवाज लगाई । सेठ ढेढ को अपना नाम लेकर पुकारते देख आश्चर्य चकित रह गया । उसने तुरन्त कहा—क्यो भाई ? क्या कहते हो ? ढेढ ने कहा—गांव में सन्त आ रहे हैं । सेठ ने पूछा—किधर से ? ढेढ ने कहा—उधर से । वस इतना कहकर ढेढ वापस सन्तों के सामने दौड गया । इधर सेठ भी सव को सूचना देकर सन्तो के सामने आया । सन्त गाव मे पधारे, व्याख्यान हुआ । सेठ के विचारो में आज उथल-पुथल मच रही थी । उसने विचार किया—

ढेढ कितना उदार है जो मुझे सूचना देने मेरे घर आया। सेठ का अन्तःकरण इस घटना से बदल गया। व्याख्यान समाप्त होते ही सेठ परिषद् मे खड़ा होकर गद्‌गद् स्वरों में अपनी आत्म निन्दा करते हुए हृदय के उद्‌गार प्रकट करने लगा—''श्रद्धेय मुनिवर एवं अन्य भाइयो ! मैं आज अपने दिल की बात आप सब के सामने रख रहा हू। देखिये, वह जो ढेढ़ बैठा है उसके और मेरे बीच में वर्षो से भयंकर वैमनस्य चला आ रहा है। मैं समझता हूं आज वह मुनिवर के शुभ-आगमन के कारण समाप्त होने जा रहा है। इसके पहले मैं यह स्पष्ट शब्दों में कहूगा कि यह उदारचेता ढेढ़ होते हुए भी सेठ है और मैं संकीर्ण हृदय सेठ होते हुए भी ढेढ़ हू। मै अन्तरात्मा से प्रेरित होकर कहता हूं कि अगर सन्तो के आगमन का मुझे पहले पता होता तो मै शायद इसको सूचना नही देता। इसने ऐसा कर आज मेरे हृदय के सारे कुठित तारो को झनझना दिया है। इसलिये मै मानता हू—गुण, लक्षण और विवेक से यह सेठ है और मै ढेढ़। मै आज अपने अकरणीय कृत्य से लज्जित और नत हूं। मै बद्धाजलि इससे निवेदन करता हूं कि वह क्षमा स्वीकार करे और अपनी ओर से मुझे क्षमा प्रदान करे। ढेढ ने तुरन्त खड़े होकर सब के सामने सेठ को क्षमा प्रदान कर मैत्रीपूर्ण वातावरण मे खमत-खामणा किया। उपस्थित जन समूह ने वर्षो से टूटे हुए दिलो को पुनः आशातीत सफलता पूर्वक जुड़ते देखकर दोनो की भूरि-भूरि प्रशंसा की।

इस घटना को सुनकर प्रत्येक व्यक्ति विचारे, सोचे और विवेकपूर्वक एक-एक कदम आगे बढाए। ऐसी आदर्श घटनाओ को अपने सामने रख कर आत्म-शोधन करे।

जब मै सुनता हूं कि अमुक गाव मे वैमनस्य है तो सोचता हूं वे कौन है ? धार्मिक हैं ? जैन है ? पौषध, उपवास, सामायिक और नाना प्रकार के त्याग-प्रत्याख्यान करनेवाले है ? मन मे आता है— क्या वे धार्मिक है ? क्या उनमें जैनत्व है ? जब कि आत्मा मे पशुत्व धसा हुआ है। पशुत्व मनुष्य के आकार-प्रकार मे ही नही रहता, बल्कि वह भीतर घुसा हुआ रहता है।

आज क्षमा-याचना दिवस है। 'खमत खामणा' का अर्थ है—अपने द्वारा ज्ञात-अज्ञात मे हुए अनुचित व्यवहार के लिये क्षमा मागना और अपनी ओर से दूसरो को क्षमा देना। यह दोनो के परिमार्जन व विशुद्धि का हेतु है। आज के इस महत्त्वपूर्ण दिन से प्रेरणा ली जाए। स्थिर चित्त और अन्तर् द्रष्टा बन कर अपनी अन्तरात्मा को टटोले और अपना परिमार्जन करे।

आज इस महान् पर्व को एक रश्म के रूप में मनाये। यह जीवन-शुद्धि व आत्मान्वेषण का पुनीत पर्व है। इस पर्व की वास्तविक गरिमा को समझ कर हृदय से पशुता के समस्त अशो को निकाल कर तथा हृदय को खोलकर खमत-खामणा करे। जान या अनजान मे किसी के साथ दुर्भावना या दुर्व्यवहार हो

गया है तो क्षमा-याचना द्वारा आज उसे साफ कर डालिये और आगे के लिए मन मे यह निश्चय कर लीजिये कि इस तरह के कार्यो से आप सदा वचे रहेंगे। ऐसा करने से ही जीवन-शुद्धि होगी, आत्मा का महान् उपकार होगा तथा क्षमा-याचना दिवस की महत्ता शतगुणित होगी।

कल की रात सोने की रात नहीं थी। मैने सरदारशहर से लेकर कल तक का सिंहावलोकन किया। चिन्तन और मनन, आलोचना और प्रत्यालोचन के उतार-चढाव मे मैंने जी भर कर गोते लगाये। अन्तःस्तल के एक-एक कण को टटोला। जहां कुछ ग्लानि या असद्भावना मिली उसको वाहर निकाल कर अन्तःस्तल को विशुद्ध व परिमार्जित किया। अभी मैं सिद्ध नही, साधक हू और जव तक वीतराग नही हो जाता, तव तक यह हो नही सकता कि किन्ही परिस्थितियो को लेकर मन मे किसी प्रकार की उथल-पुथल न हो। मैं यह ढोंग रचना नही चाहता कि मेरे मन मे निन्दा, प्रशंसा या झूठे आक्षेपो को सुनकर कभी कुछ विचार आता ही नही। हां, यह अवश्य है, इन चीजो को मेरे हृदय मे कोई स्थान नही मिलता और न कुछ आदर-सत्कार ही। फलस्वरूप एक क्षण के लिये जो कुछ विचार आता है वह टिकता नही। दूसरे क्षण मे ही वह अपने आप विलीन हो जाता है। रात भर मैं इसी उधेड़-वुन मे रहा। जो प्रत्यक्ष है या जो परोक्ष है उन सवको मैंने हृदय से क्षमा दी और ली। 'मित्ती मे सव्वभूएसु वेरं मज्झ न केणई'' यह तो जीवन का मूलमन्त्र है ही। मगर इतना कह देने मात्र से कि ८४ लाख जीवा-योनि के साथ मेरा किसी से विरोध नही है, काम नही चल सकता। जिनको व्यक्तिगत रूप से आवश्यकतावश कुछ अधिक कहने-सुनने का काम पडा, उनसे विशेष रूप से खमत-खामणा किया। जो हरदम मेरे साथ रहते हैं उनको कर्त्तव्य के नाते कडे शब्दो मे ताड़ना भी देनी पडती है, मगर कुछ क्षणो के वाद मेरा हृदय उनके प्रति गद्गद् हो उठता है—आखिर ये है कौन, मेरे ही तो हाथ-पैर है, इनके विना न तो मैं बैठ ही सकता हूं और न एक कदम चल ही सकता हू। इस प्रकार साध्वियो को भी आगे वढ़ाने के लिए मुझे यदा-कदा कुछ कहना पडता है। लाखो श्रावक-श्राविका भी मेरे सम्पर्क मे आते रहते है। यद्यपि मैं उनको पहचानता अवश्य हू मगर सव के नाम नही जानता। सम्भवतः ध्यान न जाने पर किसी की वन्दना भी स्वीकार न की गई हो, किसी को तीव्र शब्दो मे उपालम्भ भी दिया गया हो। रात को मैंने उन सव के साथ अन्तःकरण से खमत-खामणा किया। इसी प्रकार जो हमसे विरोध रखते हैं उनके साथ तथा उन जैनेतरो के साथ जिनके साथ अनेक प्रकार की तात्त्विक चर्चाएं चलती रहती है, मैंने रात को खमत-खामणा किया।

आखिर मैं सव से यही कहूगा, लोग इस महान् पर्व को ढर्रे के रूप में न मनाकर वास्तविक रूप मे मनाये।

जोधपुर, १३ सितम्बर, ५३

१०२. आचार की प्रतिष्ठा

विश्वबंधुत्व की भावना को फैलाने के लिए यह जरूरी है कि हम किसी पर व्यक्तिगत आक्षेपात्मक नीति का प्रयोग न करें। ऐसे पैम्फलेटो द्वारा या किसी अन्य तरीके से ऐसा प्रचार न करे जिससे किसी पर व्यक्तिगत आक्षेप होता हो। दूसरे शब्दो मे यों कहे कि हमारी नीति मण्डनात्मक रहनी चाहिए। यदि इस पर अमल किया गया तो हमारा यह खमत-खामणा सिर्फ शाब्दिक ही न रहकर सार्थक होगा। हमारी ओर से हमेशा व्यक्तिगत खण्डन न करने का ध्यान रखा गया है व आगे भी रखा जायेगा।

साधु वही है जो किसी भी अवस्था मे अपने आचार व स्वीकृत मर्यादा से विचलित नही होता। उसके लिए अपने आचार के सामने प्राणो का कोई मूल्य नही। वह उन्हे तुच्छ समझता है। आज हमारे पूर्वाचार्य हमारे बीच में नही है लेकिन उनकी वह दृढता, वह आत्मवल हमे आज भी एक सजीव प्रेरणा देता है। यह शरीर नश्वर है, यों ही चला जानेवाला है फिर क्यो न हम अपने आचार, त्याग और संयम पर दृढ़ रहें।

जोधपुर,
१४ सितम्बर, ५३

१०३. दासता से मुक्ति

'दासता बुरी है, पर इससे भी बढकर बुरी है इन्द्रियो की दासता। दूसरो की परतंत्रता से मुक्त होना सहज है, पर अपनी इन्द्रियों की दासता से मुक्त होना बहुत कठिन है। बडे-बड़े व्यक्ति जो अपने आप को स्वतंत्र मानते है; अपनी इन्द्रियो के दास देखे जाते है। इन्द्रियो की दासता वास्तविक दासता है और इस दासता से मुक्त होना ही वास्तविक स्वतंत्रता है।'

तृष्णा अनन्त है। ससार की वस्तुए सीमित है, परिमित है। अनन्त तृष्णा परिमित वस्तुओ से तृप्त नही हो सकती। भगवान् महावीर ने अनन्त तृष्णा को शान्त करने हेतु मुनि के लिए अपरिग्रह महाव्रत बतलाया और श्रावक के लिए अपरिग्रह अणुव्रत बतलाया। यहां प्रश्न उठता है कि व्रत को यथाशक्ति अपनाना क्या व्रत मे शिथिलता लाना नही है? वास्तव मे सही रूप से देखा जाय तो यह शिथिलता नही वरन् व्रत को व्यावहारिक बनाना है।

मनुष्य धन मे आसक्त रहता है। वह अपने प्राणो को हथेली पर रखकर भी धन बटोरना चाहता है। पर वह इस बात को भूल जाता है कि सत्ताधारियो की सत्ता गई, राजाओ का राज गया, जागीरदारो की जागीरें चली गईं। फिर यह पूजी कौनसी स्थिर रहनेवाली है? यह अस्थिर है और समय के थपेडों के साथ चली जानेवाली है। अत: आवश्यक है कि मनुष्य समय रहते संभल जाए। यदि समय रहते नही संभला तो उस खरगोश की सी हालत हो सकती है, जो अपने लम्बे कानो से आखे ढक लेता है और सोचता है उसे कोई नही देखता है। पर तथ्य इसके विपरीत होता है। वह स्वयं कुछ नही देख सकता। अत: आप भी इस तरह न बनकर समय रहते सावधान हो जाए और अपने उद्देश्य को सही दिशा मे जोडे।

जोधपुर,
१५ सितम्बर, ५३

१०४. विद्यार्जन का ध्येय

प्रतिष्ठा की प्राप्ति मनुष्य की एक मौलिक मनोवृत्ति है। पर उसके मानक युग के प्रवाह के साथ बदलते रहे है। पहले जहां त्याग, सेवा, संयम व साधना ऊंचेपन का मानदण्ड था ; आज वहां अधिक से अधिक अर्थ-संग्रह कर लेना ही ऊचेपन की कसौटी है। फलतः विद्यार्जन जिसका लक्ष्य, आत्म-सयम व चारित्र विकास होना चाहिए उसे आजीविका के लिए किया जाता है। यह हीन मनोवृत्ति का परिचायक है। विद्यार्थियों को यह वृत्ति छोडनी होगी। वे विद्या के सही लक्ष्य को समझे। आजीविका ही एकमात्र उनका ध्येय नही होना चाहिए। ध्येय होना चाहिए—ज्ञान का विकास व आत्म-जागरण।

आज श्रद्धा और आत्मविश्वास की छात्रों में कमी दिखाई देती है। आस्तिक-भावना दिन पर दिन क्षीण होती जा रही है। नास्तिकता को बढ़ावा मिल रहा है। आत्मा के अस्तित्व में निष्ठा कम होती जा रही है। पर ध्यान रहे ! बाहर से दीखनेवाला यह जीवन ही जीवन नही है। इसकी परिधि इससे भी विशाल है। जैसे वृद्धावस्था से पूर्व यौवन है, यौवन से पूर्व बचपन है उसी तरह बचपन व जन्म से पूर्व भी एक ऐसी स्थिति है जिसके संस्कार हमे भिन्न-भिन्न व्यक्तियो में भिन्न-भिन्न रूप में दिखाई देते है। इस प्रकार आत्मवाद के स्वरूप को विद्यार्थियों को हृदयंगम करना है जिसके लिए श्रद्धा की महती आवश्यकता है। श्रद्धापूर्ण तर्क श्रेयस् का हेतु है जब कि शुष्क तर्क केवल वाक्विलास व दिमागी व्यायाम है।

विद्यार्थी चारित्र, सदाचार, ब्रह्मचर्य आदि गुणों को अपनाकर अपने अमूल्य जीवन को सही माने मे सफल बनाये। यह विद्यार्थी जीवन की सार्थकता है।

जोधपुर,
१५ सितम्बर, ५३

१०५. हमारी नीति

अभी अनेक वक्ताओं ने मेरे बारे में बहुत सारी बातें कही और मेरी स्तवना की। पर मुझे इसमे कोई प्रसन्नता नही। मेरे लिए आज का दिन अतीत का सिंहावलोकन तथा भावी नीति के निर्धारण का समय है। वर्ष भर की घटनाएं आज मेरे समक्ष मानो सजीव होकर नाच रही है। मैंने आत्म निरीक्षण किया और वर्ष भर का सिंहावलोकन किया। अपनी नीति के सम्बन्ध मे आप लोगो के समक्ष कुछ चर्चा करना चाहता हूं। हमारी नीति मण्डनात्मक—समन्वयात्मक रही है और आगे भी रहेगी। हमारे द्वारा किसी पर व्यक्तिगत आक्षेप नही होना चाहिए। पर इसका मतलब यह नही कि हम शिथिलाचार को देखकर भी कुछ नही कहेंगे। हमें चोर पर आक्रमण नही करना है, चोरी को खत्म करना है।

लोग प्रगति के नाम पर भटके नही। प्रगति का वास्तविक अर्थ है—आत्मशोधन में सजग रहते हुए जनता को आत्मचेतना व व्यवहार-शुद्धि में अग्रसर करना। सही माने मे यही धर्माराधना है। धर्म शुद्धि का प्रतीक है। वहां संकीर्णता व अनुदारता कैसी? क्या महाजन और क्या हरिजन, धर्म सुनने एवं उस पर चलने का सबको अधिकार है। धर्म जैसी सार्वजनिक सार्वभौमिक वस्तु पर व्यक्ति विशेष, जाति विशेष और समाज विशेप का अधिकार कैसे हो सकता है? मैं चाहता हूं जन-जन मे धर्मभावना, सद्वृत्ति, सच्चाई व न्याय की प्रतिष्ठा हो, जिससे मानव-समाज नारकीय जीवन से छुटकारा पा दैवी जीवन मे प्रवेश पा सके।

जोधपुर,
१७ सितम्बर, ५३

१०६. सिंहावलोकन की वेला

इस महान् उत्तरदायित्व को सम्भाले आज मुझे १७ वर्ष पूरे हो गये। १८ वां वर्ष प्रारम्भ हो रहा है। कल जैसी बात है—वह हरा-भरा मेवाड़, वह गंगापुर, वह रंग भवन, वे महामहिम अष्टमाचार्य श्री कालुगणी, वह विशाल मानव मेदिनी, वे सारे के सारे दृश्य आज भी चलचित्र की भांति मेरी आंखों के सामने नाच रहे हैं। कल की सी बात लगने पर भी यह ध्रुव सत्य है कि आज उन दृश्यों को देखे १७ वर्षों की एक दीर्घकालीन काल-शृंखला बीत गई है।

गत वर्ष यह पुनीत तिथि सरदारशहर में मगन मुनि के पास मनाई गई थी। मैंने उस अवसर पर वार्षिक सिंहावलोकन, आत्म-निरीक्षण और भावी नीति का निर्धारण किया था। आज भी मुझे वही करना है। इस वर्ष संघ में प्रगति के अनेक उल्लेखनीय कार्य हुए हैं। इन कार्यों की शृंखला में एक है—दीक्षा। दीक्षाएं संघ प्रगति का एक प्रमुख अंग है। इस वर्ष जो दीक्षाएं हुई वे उल्लेखनीय हैं। पूर्व संस्कार और वैराग्य से प्रेरित होकर आत्म-शुद्धि के लिए जो १० भाई और २० बहनें दीक्षित हुई हैं वे सब आपके सामने ही हैं। दीक्षा के साथ-साथ संघ में जो शिक्षा का क्रम चालू रहा वह भी प्रगति लिए हुए है। तपस्या संघ के शुभ भविष्य का संकेत है। मैं देखता हूं इस वर्ष संघ चतुष्टय में बड़ी-बड़ी तपस्याएं हुई हैं। मैं मानता हूं कि तपस्या आत्म-शुद्धि के साथ-साथ संघ शुद्धि के महान् यज्ञ को सफल करने के लिए अत्यन्त आवश्यक है। इस वर्ष एक तपस्वी ने घोर तपस्या करते हुए हंसते-हंसते अपने प्राणों की बलि चढ़ा दी। शास्त्रों में लघुसिंह नाम की एक घोरतम तपस्या का उल्लेख आता है, उसमें एक दिन की तपस्या से लेकर ६ दिन की तपस्या तक आरोह-अवरोह का एक विचित्र क्रम रहता है। इस महान् तप को करते हुए संघ के एक साधु ने अपने जीवन की बाजी लगा दी। इसी तरह संघ की एक साध्वी को एक काले सर्प ने काट खाया, मगर उसने किसी प्रकार की औषधि का सेवन न करते हुए आजीवन अनशन कर वीरवृत्तिपूर्वक अपने प्राण छोड़ दिये। इसके साथ-साथ संघ में आजीवन अनशन तप भी अनेक हुए, जिनमें कई श्राविकाओं के अनशन तो बड़े ही रोमांचकारी हुए जो विशेष उल्लेखनीय है। अनेक साधु-साध्वी दिवंगत हुए तो कुछ संघ बहिष्कृत भी हुए या कर दिए गए। आगमन-गमन तो होता ही रहता है। इसके लिए न तो मुझे कोई खेद है और न कोई प्रसन्नता। इस वर्ष यात्रा भी काफी

लम्वी हुई। थली मे रहकर अनेक नये अनुभव प्राप्त किये। इधर वीकानेर से यहाँ तक के मध्यवर्ती ग्रामो व नगरो मे अनेक प्रकार के कटु व मधुर अनुभव मिले। कही-कही विरोधो का भी सामना करना पड़ा। किन्तु अपनी कट्टर व मजवूत शान्ति-नीति के सामने विरोध के अपने आप घुटने टिक गये। विद्या, शिक्षा, अध्ययन, तत्त्वज्ञान और सामूहिक स्वाध्याय आदि दिशाओ मे भी अच्छी प्रगति हुई है। इन सव वातो के वावजूद इस वर्ष नवान्हिक पर्युषण पर्व का कार्यक्रम तो अत्यन्त ही सफल और आकर्षण का केन्द्र रहा। इसमे अनुभव हुआ कि यह कार्यक्रम वास्तव में ही सजीवता, चेतनता और स्फूर्तिदायक था। सव जगह इसको वड़ा पसन्द किया गया। लोगो की भावना सुनने मे आ रही है कि ऐसा सुन्दर कार्यक्रम प्रति वर्ष पर्युषण पर्व पर अवश्य रहना चाहिए। विरोध पीछे भी आये और आज भी आते रहते है। उनकी संघ पर या मेरे पर किसी भी प्रकार की प्रतिक्रिया नही है। जव विरोध को विनोद समझना ही हमारा नारा है तव उसका क्या प्रभाव और क्या असर हो सकता है? मै समझता हूं—विरोध एक चेतावनी है, प्रेरणा है। विरोध को सुनकर हमे आत्म-चिन्तन और मनन करना चाहिए। जागरूक हो जाना चाहिए। यदि हममे किसी प्रकार की कमी है तो उसको तुरन्त निकाल फेकना चाहिए और नही है तो फिर उस विरोध को अरण्यरोदन की तरह विलकुल निरर्थक समझना चाहिए, घवराने और झुंझलाने की कोई आवश्यकता नही।

मुझे इस वात की अत्यन्त प्रसन्नता है कि हमारा संघ अत्यन्त चारित्रवान, विकासोन्मुख और मजवूत है।

वार्षिक सिंहावलोकन के क्रम मे मुझे धर्मसंघ की हर गतिविधि का निरीक्षण करने का अवसर मिला है तो अपने आपको देखने की प्रेरणा भी मिली है। अपनी मनोवृत्ति का प्रतिलेखन करते समय मैने अनुभव किया—धर्मसघ मे वहुत काम हुआ है, विकास के नए क्षितिज खुले हैं, पर अव तक करणीय वहुत शेष है। जो शेष है, उसे सामने रखकर हम आगामी वर्ष का कार्यक्रम वनाए और पूरे सघ को साथ लेकर आगे वढे, यह अपेक्षा है।

कुछ लोगो की विचारधारा है कि 'करने या मरने' का सिद्धान्त स्वीकार कर चलना चाहिए। इस सिद्धान्त के अनुसार काम करते समय मर्यादा और नियमो को तोडना पडे तो उन्हे तोड़कर भी ससार की उन्नति और निर्माण के लिए जी-जान से जुट जाना चाहिये। मै यह स्पष्ट कह दू कि मेरी ऐसी विचारधारा नही है। मेरी दृष्टि में आचार को छोड कुछ भी करना खुद की दुर्गति करना है। खुद पथभ्रष्ट होकर औरो के हित-साधन की वात का मै कभी समर्थन नही कर सकता। इसलिए मैं एक-एक कदम सम्हल-सम्हल कर आगे वढाता हू। रात को नीद से जग जाने पर मैं यही चिन्तन करता हू कि कही कोई ऐसा कदम तो नही वढाया है जो प्रगतिमूलक होने

पर भी जीवन को लक्ष्य से प्रतिकूल दिशा में ले जानेवाला है। गंभीर चिन्तन और तटस्थ समीक्षा के वाद जव पूर्ण सन्तोप हो जाता है तव जाकर शान्ति मिलती है।

मैं अपने सहयोगी कार्यकर्त्ता साधु-साध्वियो से कहना चाहूंगा कि वे इस वात का ध्यान रखें कि सामाजिक और राजनैतिक कार्यकर्त्ताओं से हमारा पथ कुछ भिन्न है। दुनियावी कार्यकर्त्ता प्रसिद्धि, प्रतिष्ठा, प्रदर्शन और विज्ञापन चाहते हैं जवकि हमे इन चीजो से सर्वथा दूर रहकर आगे वढ़ना है। यह दूसरी वात है कि जो काम करता है उसकी प्रसिद्धि और प्रतिष्ठा अपने आप वढ़ती है। किन्तु उसके लिए हमारी लालसा कभी नही होनी चाहिए। यश, नाम, प्रतिष्ठा आदि क्षणिक हैं। उनके लिए काम करना शोभास्पद और उचित नही। मैं समझता हूं कि हमारा संघ इन तुच्छ वातों की स्वप्न मे भी लालसा नहीं रखता है और नहीं रखेगा।

कुछ लोग कहते हैं—'आप अभी तक यहीं वैठे हैं। आपको तो ऐरोप्लेन के द्वारा समग्र संसार की यात्रा करनी चाहिये।' मेरी समझ में नहीं आता, ऐसा कहनेवाले लोगो ने मुझे क्या समझ लिया है? मैं एक जैन साधु हूं; धर्म का उपासक और साधक हू। मेरे लिए जहां जाना शक्य है, वहां तक ही मैं पहुंच सकता हूं। प्लेन, ट्रेन, कार आदि का उपयोग मेरे लिए किसी भी हालत मे सर्वथा वर्जनीय है। मुझे कदम-कदम पर अपनी आत्मा की सम्भाल रखते हुए आगे वढ़ना है।

अव मुझे भविष्य की नीति के सम्वन्ध में कुछ शब्द कहने हैं। व्यापक दृष्टिकोण से जन-जीवन का सुधार करना हमारी नीति रही है और भविष्य में भी रहेगी। इसके साथ-साथ हमें खण्डनात्मक नीति से दूर रहते हुए मण्डनात्मक नीति को साथ लेकर चलना है। मण्डनात्मक नीति हमारे पूर्वजों की देन है, इसको हमे विरोध के दलदल से दूर रहकर और अधिक विकसित करना है। मण्डनात्मक नीति का यह मतलव नही कि हम शिथिलाचार का भी खण्डन न करें। हमे मण्डनात्मक नीति पर स्थिर रहकर भी शिथिलाचार पर क्रूर प्रहार और क्रूर चोट करनी है। हां, यह ध्यान देने की वात है कि जिस प्रकार चोर पर नही, चोरी पर प्रहार करने की हमारी मान्यता है ठीक उसी प्रकार हम किसी व्यक्ति विशेप पर प्रहार न कर शिथिलाचार पर डटकर प्रहार करें, इसमें मुझे न तो तनिक भय ही है और न कोई संकोच ही। यद्यपि यह कहा जाता है कि आज खण्डन का युग नही है। किन्तु मेरा यह दृढ़ अभिमत है कि जहां भी दुराचार, अनाचार और शिथिलाचार मिले उन पर प्रहार होना ही चाहिए। शिथिलाचार का खण्डन भी यदि आज के युग की ओट लेकर नहीं किया जाएगा तो क्या शिथिलाचार को प्रोत्साहन और प्रश्रय नही मिलेगा?

लोग मुझे संगठन-प्रिय वताते हैं और कहते हैं—आप चाहें तो संगठन

को वडा वल मिल सकता है। लोगों का यह कहना अच्छा है। वास्तव मे मुझे संगठन से वहुत प्रेम है। जहां आचार-विचार का सामंजस्य है वहां सगठन होने में वाधा नही, किन्तु जहां आचार-विचार का सामंजस्य नही, वहां केवल सगठन से क्या है ? संगठन आचारवान व विचारवान व्यक्तियो का ही होना चाहिए। चाहे किसी को अकेला रहना पड़े तो पड़े पर आचारहीनों का संगठन मुझे कभी अभीष्ट और स्वीकार्य नही। आचार्य भिक्षु स्वामी का इस दिशा मे हमे पथ-प्रदर्शन प्राप्त है। आचार्य भिक्षु ने एक प्रश्न के उत्तर में स्पष्ट कहा—"यदि आचारी साधु मिले तो मैं उन्हे अपनाने के लिए आधी रात को तैयार हू। यदि वे मुझ से दीक्षा मे वडे होगे तो मैं उनके पैरो मे गिर पडूंगा, और यदि वे मुझ से दीक्षा मे छोटे होगे तो मैं उनको अपने पैरो में गिरा लूगा।" यदि आचारी नही, तो स्वामीजी ने साफ लिखा है :

"कहो साधु किसका सगा, तड़के तोड़ै नेह।
आचारी स्यू हिलै मिलै, अनाचारी सुं छेह॥"

इसलिए जो आचारी है उनके साथ हमे विना किसी संकोच के दूध मे पानी की तरह हिल-मिल जाना है और जो आचारी नहीं है, उनसे हमारा कोई सम्वन्ध नही है। हमारी यह नीति है और रहेगी कि संगठन प्रेमी होते हुए भी हमे संगठन आचार निष्ठो का करना है आचरणहीनो का नही।

हमारा दृष्टिकोण व्यापक रहे। हम संकीर्णता से दूर रहकर विशुद्ध धर्म-भावना का विना किसी भेदभाव के प्रचार करें। लोग मुझे कहते हैं कि आप अजैन व्यक्तियों को जैन वनाने का प्रयत्न करें तो आपको काफी सफलता मिल सकती है। भाइयो ! मेरा उद्देश्य न किसी को जैन वनाना है न तेरापंथी वनाना है। मेरा तो एक ही उद्देश्य है और एक ही दृष्टिकोण है कि जो तत्त्व हमे मिला है जो विचार-धारा हमे मिली है उसे लोगों तक पहुंचाना। उस विचारधारा से प्रभावित होकर कोई जैन या तेरापथी वने तो उसे अपनाने मे मुझे कोई कठिनाई नही। पर मेरी ओर से सव अभय रहे। न तो संख्या वृद्धि की दृष्टि से किसी को तेरापंथी वनाना मेरा उद्देश्य है और न मैं वनता ही हू। मैं तो सिर्फ अपनी विचारधारा का प्रसार करता हू और भविष्य मे भी निर्विवाद करता रहूगा। भय खानेवालो से भी मैं यही कहूंगा कि वे अपनी कमजोरियो को मिटाये। भय कमजोरी का है। कमजोरी मिटने पर भय का कोई सवाल ही नहीं रहेगा।

कुछ लोग यह भी कहते हैं कि 'क्या आपके विचारो को सारा संसार ग्रहण कर लेगा ?' मैं सारे ससार को सुधार देने का दावा कभी करता ही नही। भगवान् महावीर और गौतम वुद्ध जैसे महात्मा भी जव सारे ससार को नही सुधार सके तो मै कौन होता हू, ऐसा अह करने वाला।

हा, तो मै व्यापक दृष्टिकोण के सम्वन्ध में कह रहा था। हमे आत्म-

साधना में सजग रहते हुए जनता को आत्म-शुद्धि में अग्रसर करना है। धर्म आत्म-शुद्धि का प्रतीक है। उसमें संकीर्णता और अनुदारता को कोई स्थान नही है। क्या महाजन और क्या हरिजन, धर्म जैसी निर्वन्ध, वेलाग व सार्वजनिक वस्तु पर किसी व्यक्ति विशेष, जाति विशेष व समाज विशेष का अधिकार हो भी कैसे सकता है? इसलिये हमे हरिजन-महाजन, स्पृश्य-अस्पृश्य, विना किसी भेदभाव के सवको धर्म सुनाना है। सव अपने-अपने काम करते हैं। किसी काम के करने से कोई ऊंचा नही वन जाता। हमे सद्‌भाव से सवको जीवन-शुद्धि और जीवन-निर्माण की प्रेरणा और पथ-दर्शन देना है।

अभी एक वक्ता ने अपमे विचार व्यक्त करते हुए अणुव्रती संघ को 'जीओ और जीने दो' के सिद्धान्त का प्रवर्तक वताया। लगता है उन्होने अणुव्रत को पूरी तरह से समझा नही।

अगर जीने का यह अर्थ किया जाता है कि खाओ, पीयो, ऐशो-आराम करो और दूसरो के ऐशो आराम पहुंचाओ तो निस्सन्देह अणुव्रती संघ के पीछे यह विशेषण नही जोड़ा जा सकता। मेरी दृष्टि में इसका अर्थ है संयम पूर्वक जीओ और दूसरो के जीने मे वाधक मत वनो। सव जीव जीना चाहते हैं जीवन सवको प्रिय है अतः किसी को कष्ट न दो, किसी को न मारो, किसी का वध-वन्धनादि न करो, किसी के प्रति मिथ्या कलङ्क आदि न लगाओ, किसी के धन का अपहरण न करो, किसी के साथ दुर्व्यवहार न करो आदि। इस दृष्टि से अणुव्रती संघ अवश्य ही 'जीओ और जीने दो' का पोपक और प्रतिपादक है। अध्यात्म-जगत में असंयमपूर्वक जीने और असंयम पूर्वक जीने में सहयोगी वनने का कोई महत्त्व नही है। सयम पूर्वक जीने तथा अपनी ओर से किसी के जीने मे वाधा न पहुंचाने का ही महत्त्व है। इसी व्यापक भावना को लेकर अणुव्रती सघ का जन-जन में प्रचार करना है।

श्रावक समाज से भी मैं कहना चाहूगा कि वे युग की आवाज को समझे और व्यापक दृष्टिकोण को अपनाकर निरवद्य-धार्मिक प्रचार मे अपना सहयोग दे।

केवल वडी-वडी वाते वनाना और वड़ी-वड़ी योजनाएं वनाकर रजिस्टरो में रख देना सहयोग नही है। सहयोग तो वह होता है जिसमे अपना जीवन और समय खपाया जाता है। अपने घर मे, पडोस मे और समाज मे जो कुरीतिया, जो वुराइया और जो त्रुटियां घर कर गई है, उनको मिटाने के लिये आज एक व्यवस्थित, मजवूत और सक्रिय उपक्रम की आवश्यकता है। श्रावक समाज से मैं यही सहयोग चाहता हूं कि वे अपने आपको इसके लिये पूर्ण तैयार कर ऐसे महत्वपूर्ण और आवश्यक उपक्रम मे अपना समय और अपना जीवन समर्पित करें। सुधार, विकास और उन्नयन केवल वातो या

स्कीमो से सफल नही हुआ करते। इसके लिये अपना जीवन झोकना पड़ता है, अपना सर्वस्व बलिदान करना पडता है तब कही जाकर अपना, अपने पड़ोस का और अपने समाज का जीवन विकसित और उन्नत होता है।

अन्त मे मैं यही कहूंगा कि हम अपनी नीति पर सदा दृढ़तापूर्वक डटे रहें और अहिंसा, विश्व-मैत्री एवं विश्व-बन्धुता के पावन पुनीत न्यायमार्ग से कभी एक इंच भी पीछे नही हटे। भर्तृहरि ने कहा है—

"निन्दन्तु नीति-निपुणा यदि वा स्तुवन्तु
लक्ष्मीः समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम्
अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा
न्यायात्पथ. प्रविचलन्ति पदं न धीरा."

हमे चाहिए कि हम व्यापक नीति को आधार मानकर जन-जन मे धर्म भावना, सच्चाई व न्याय की प्रतिष्ठा करें, जिससे मानव समाज आज के नारकीय जीवन से छुटकारा पा दैवी जीवन मे प्रवेश पा सके। इन्ही शब्दों के साथ वार्षिक सिंहावलोकन, आत्म निरीक्षण और भावी नीति-निर्धारण के साथ मैं आज का वक्तव्य सम्पन्न करता हू।

जोधपुर,
१७ सितम्बर' ५३

१०७. आत्म दर्शन की भूमिका

आज प्रत्येक व्यक्ति चाहता है कि मैं दूसरों पर हुकूमत करूं, दूसरे मेरे नियंत्रण में रहें, मेरा शासन हर एक व्यक्ति पर चले। इस मनोवृत्ति का परिणाम यह हुआ कि मनुष्य अपने को भूल बैठा। उसने अपने अन्तर की परख छोड़कर बहिर्जगत् मे देखना शुरु कर दिया और उसी ओर वह बढता चला गया। उसने यह जानने की कोशिश भी नही की कि उसके जीवन की धारा किधर जा रही है। परिणाम यह हुआ कि मनुष्य उन्नति की अपेक्षा अवनति की ओर चला गया। यदि मनुष्य को सही रूप से सुख और शान्ति की प्यास है, तो उसे आत्म-द्रष्टा बनना होगा, पर-द्रष्टा नहीं।

आत्म-नियंत्रण ही आत्म-विकास का सही सोपान है। भारतीय संस्कृति ने सदा ही आत्म-नियंत्रण पर बल दिया है। दूसरों का दमन करना छोड़ अपने आप पर नियंत्रण करो। इससे जीवन में एक नई चेतना और स्फूर्ति जागेगी। आत्म-नियंत्रण के लिए आवश्यक है अप्रमादी बनना। प्रमाद चरित्र को गिराता है। आत्मा का भयानक शत्रु है। प्रमाद को जीतने से निर्भीकता का विकास होगा और उससे आत्म-बल बढ़ेगा।

जोधपुर,
१९ सितम्बर, ५३

१०८. संस्कृति और युग

संसार मे प्रत्येक प्राणी चाहता है कि उसका जीवन विकासोन्मुख हो। उसे सच्ची शाति मिले, पर क्या उसने कभी सोचा—शाति का सही रास्ता क्या है ? वह दिनदहाड़े खुल्लम-खुल्ला अशान्ति और दुःख का साधन जुटाता रहता है और कल्पना करता है सुख और शाति की। दु.ख के साधनों से सुख मिल जाए—यह कैसे सम्भव है ? उसे अपने मन मे यह निश्चय करना होगा कि संसार के भोगो और विषय-वासनाओ मे सुख लेशमात्र भी नही है। वह तो सुखाभास है, जिसका परिणाम है दु ख, क्लेश और अशाति। सच्चा सुख संयम, सदाचार, सन्तोप और सादगी मे है।

आज लोग आजाद है और उन्हे वाह्य सुख-सुविधाएं भी अधिक से अधिक प्राप्त हो रही है। मगर मुझे ऐसा लगता है कि आज उनकी आत्मिक शक्ति दिन-प्रतिदिन गिरती जा रही है। पुराने जमाने की कल्पना कीजिये—जव वाह्य सुख-सुविधाओ का इतना विकास नही था फिर भी लोग अपने को संतुष्ट अनुभव करते थे। अशिक्षित कहकर उनकी उपेक्षा नही की जा सकती। वास्तव मे आत्मिक-शक्ति पर उनका अधिकार था। वाह्य दु खो से वे घबराते नही थे। आज वे कहने को तो आजाद है; किन्तु मेरी दृष्टि मे अधिक परतन्त्र है और यदि कड़े शब्दो मे कहूं तो आज वे गुलाम है। अन्तः-स्थित तत्त्वो को भूलकर वाह्य तत्त्वो मे आसक्त होना और दूसरे शब्दो मे कहूं तो 'स्व' को छोड़कर 'पर' के अधीन होना क्या गुलामी नही है ? यह गुलामी भारतीय मौलिक परम्परा को भुला देने का ही दुष्परिणाम है।

भारतीय ऋषियो ने बताया है कि वाह्य पदार्थो के सयोग से जो सुख-दुःख मिलता है वह क्षणिक और विनश्वर होता है। स्व और पर का सयोग आसक्ति है। आसक्ति को शास्त्रीय भापा मे आर्तध्यान कहा गया है। आर्त-ध्यान का अर्थ है इप्ट विपयो का वियोग होने पर उनके सयोग के लिए और अनिष्ट वस्तुओ का सयोग होने पर उनके वियोग के लिए जो आतुरता होती है—एकाग्र चिन्तन होता है, उसे आर्तध्यान कहा जाता है। आर्तध्यान एक आतरिक रोग है। इसके सद्भाव मे अन्तरात्मा का स्वास्थ्य खतरे मे पड़ जाता है और विविध प्रकार के दोप उत्पन्न होते है। जो आत्मद्रप्टा होते हैं वे सर्वप्रथम इस आतरिक रोग का मूलोच्छेद करते है। ऐसा करके वे समस्त दोपो से मुक्त होकर पूर्ण स्वस्थ और सच्चिदानन्द मे लीन हो जाते है।

मुझे सखेद कहना पडता है कि मनुष्य आतरिक रोगो को भूलकर

बाह्य रोगों मे उलझ गया। किसी का शारीरिक रोग मिटा देना, किसी को भोजन खिला देना और किसी को पानी पिला देना आदि-आदि लौकिक कर्त्तव्य पालन मे ही महान् पुण्य की इतिश्री मान बैठा, यह अनुचित हुआ है। दया और दान के नाम पर समाज के एक अंग के अपकर्ष और हीनता का समर्थन आज वांछनीय नही है। सामाजिक भाइयों के प्रति सामाजिक दृष्टि मे सहयोग या सहायता की अपेक्षा भले ही रहे मगर दया और दान के नाम पर उनके साथ अन्याय नही किया जा सकता। जैन-दर्शन में उसे वास्तविक पारमार्थिक दया बतायी गयी है, जो पापमय आचरणों से अपनी या दूसरे की आत्मा को बचाये। दोषो और आन्तरिक रोगों से पीड़ित आत्मा को मुक्त कर उसे सही रास्ते पर ला देना, इसका नाम है दया, अहिंसा। भारत की जनता की कुछ ऐसी ही मनोवृत्ति रही है कि यहां पर प्रत्येक कार्य को धर्म का जामा पहना दिया जाता है। यदि संस्था का चंदा भी मांगा जाता है तो धर्म के नाम पर। लोग चन्दा देने के लिए तैयार हों न हों पर धर्म के नाम पर तैयार हो जाते हैं। धर्म को इस प्रकार छोट-छोटी बातों में उलझा दिया गया। धन का संचय किया जाता है तो उसका किसी न किसी प्रकार व्यय भी किया जाता है। धन के सचय में जब धर्म का सवाल नही तो उसके व्यय मे धर्म का सवाल किस प्रकार से उठ जाएगा? इसे सामाजिक दया, सामाजिक दान, सामाजिक कर्त्तव्य और सामाजिक धर्म कहा जा सकता है। किंतु इसमे आध्यात्मिक धर्म की कल्पना और स्थापना करना मौलिक धर्म के संबंध मे अपनी अनभिज्ञता प्रकट करना है।

आन्तरिक दोष और रोग क्या है? इस विषय मे शास्त्रों मे कहा गया है—

कोहं च माणं च तहेव मायं, लोभं चउत्थं अज्झत्थदोसा
एयाणि वंता अरहा महेसी, न कुव्वई पावं न कारवेइ।

अंतरंग दोष चार है—क्रोध, मान, माया और लोभ। मन के कुछ प्रतिकूल होते ही क्रोध का पारा चरम सीमा पर पहुंच जाता है। जाति, कुल, विद्या, रूप आदि का मद व्यक्ति को अन्धा बना देता है। माया व्यक्ति की सरलता मे बाधक है। लोभ करणीय एवं अकरणीय के विवेक को समाप्त कर देता है। जो इनसे अपना बचाव करता है, वह महर्षि होता है। ऐसा व्यक्ति न तो पाप करता है और न किसी को पाप करने के लिए प्रेरित करता है।

पूर्वोक्त दोषो के सद्भाव मे चारित्र का ऊंचा होना असंभव है। चारित्र को न समझने और न अपनाने का ही यह परिणाम है कि आज हर व्यक्ति आत्मानुशासन और आत्म-नियत्रण के पाठ को भूल-सा गया है। औरों पर हुकूमत करने के लिए सब तैयार है मगर औरो की हुकूमत मे चलने के

लिए कोई तैयार नही है। मुझे इस पर एक छोटा-सा किस्सा स्मरण हो रहा है—एक वावाजी के पास एक चौधरी गया। वावाजी ने पूछा—"वच्चे ! क्या चाहते हो ?" चौधरी ने कहा—"वावाजी ! सुखी होना चाहता हूं।" वावाजी ने तपाक से कहा—"तो फिर क्या सोचते हो ? सुखी होना चाहते हो तो चेला वन जाओ।" चौधरी ने साश्चर्य पूछा—"वावाजी ! चेला किसे कहते हैं ?" वावाजी ने व्याख्या करते हुए कहा—"वच्चे ! एक तो गुरु होता है और एक चेला। जो हुकूमत करता है उसे गुरु कहते हैं और जो हुकूमत मे चलता है उसे चेला।" दो क्षण तक सोचकर चौधरी ने उत्तर दिया—वावाजी ! अगर आप गुरु वनाओ तो मैं तैयार हू। चेला तो मैं नही वन सकता।" यही हालत आज के लोगो की है। हर व्यक्ति आज यही चाहने लगा है कि मैं दूसरो पर रोव जमाऊ। दूसरे मेरे नियन्त्रण मे रहें। मेरा शासन सव पर चले। इस मनोवृत्ति का ही यह परिणाम हुआ है कि मानव आज अपने आपको भुला वैठा है। अपने अन्तरतम की परख छोड वहिर्जगत मे वह फसा जा रहा है। जीवन की धारा किधर जा रही है उसे यह भान तक नही है। फलतः उन्नत होने के वदले आज वह अवनत होता जा रहा है। वास्तव मे यदि मानव कल्याण और मुख की कामना रखता है तो मैं कहूगा कि वह परद्रष्टा न वनकर आत्मद्रष्टा वने।

शास्त्रो मे आत्मदमन और उसके फल पर प्रकाश डालते हुए कहा गया है—

अप्पा चेव दमेयव्वो अप्पा हु खलु दुद्दमो।
अप्पा दंतो सुही होइ अस्सि लोए परत्थ य॥

हे मनुष्य ! यदि वास्तव मे तुझे सुख और शाति की प्यास है तो सर्वप्रथम तू अपनी आत्मा का ही दमन कर। आत्मा ही दुर्जय और दुर्दम है। आत्मदमन करने पर ही तू इहलोक और परलोक—सर्वत्र मुख और शाति को प्राप्त कर सकेगा।

यही वात भगवद्गीता मे कही गई है—

उद्धरेदात्मनात्मानं, नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो वन्धुरात्मैवरिपुरात्मन.॥

आत्मा ही इस आत्मा का वडा से वड़ा मित्र और वडा मे वडा दुश्मन है। इसलिए हे भद्र ! इस आत्मा मे ही आत्मा का उद्धार कर। आत्मा को दु.खी मत कर।

दोनो पद्यो मे कितना समन्वय है। वास्तव मे आत्मदमन तथा आत्म-नियन्त्रण ही आत्मविकास का सही सोपान है। भारतीय सन्कृति मे सदा इस वात पर जोर दिया जाता रहा है कि दूसरो का दमन करना छोड अपने आपका दमन करो, इससे जीवन मे एक नई चेतना और स्फूर्ति जगेगी,

बुराइयो का परिहार होगा और जीवन अच्छाइयो की ओर उन्मुख बनेगा। अपना दमन न कर पर-दमन करना प्रमाद है और प्रमाद भय है। वह चारित्र को नीचे गिराने वाला आत्मा का भयंकर शत्रु है। इसलिए आवश्यक है कि मनुष्य अप्रमाद का सहारा लेकर प्रमाद को जीते, जिससे उसमें निर्भयता आये और उसका आत्मबल बढ़े।

जैन-दर्शन ईश्वर का अस्तित्व न मानते हुए भी आत्म-पुरुषार्थ पर बल देता है। कर्ता-हर्ता के स्थान पर वह आत्मा को ही कर्ता-हर्ता स्वीकार करता है। यदि एक पुरुषार्थवादी यह मानकर चलता है कि मुझमे वह शक्ति है जिससे मैं समस्त मुसीबतो, बाधाओ और कठिनाइयो को चीरकर अपनी अभीष्ट मंजिल तय कर सकता हूं। मै चाहूं तो अपनी कठोर साधना के द्वारा अपने अन्तिम लक्ष्य परमात्म-पद को प्राप्त कर सकता हूं। यह निश्चित समझें कि आप ही अपने को बिगाड़नेवाले और आप ही अपने को सुधारनेवाले हैं। गुरुजन या भगवान सिर्फ आपके प्रेरक हो सकते हैं, मगर अपना उद्धार तो आखिर आपको स्वयं ही करना होगा।

जैनशास्त्रो मे नमिराजर्षि का उदाहरण आता है। वे बहुत बड़े राजा थे। किसी समय उनके शरीर मे भयंकर दाहज्वर का रोग उत्पन्न हो गया। शरीर मे असह्य जलन हो गई। वैद्यो ने शरीर मे गोशीर्ष चन्दन का लेप करने की सलाह दी। रानिया तत्काल चन्दन घिसने लगी। चन्दन घिसते समय रानियो के हाथो के ककण परस्पर टकरा रहे थे। जिनकी आवाज राजा के लिए असह्य हो उठी। उन्हें वह आवाज अरुचिकर और कष्टदायक प्रतीत होने लगी। महाराज के मनोभावो को समझकर मन्त्रियों ने रानियों को सूचित किया और उन्होने एक-एक कंकण हाथ मे रखकर शेष कंकण उतार दिए। आवाज होनी बन्द हो गयी। महाराज ने साश्चर्य पूछा—"कोलाहल बंद कैसे हो गया ?" मन्त्रियो ने कहा—"महाराज, अब रानियो के हाथ में एक-एक ही ककण है, अब कोलाहल कैसे होगा ?" महाराज के हृदय में एक क्रांति की लहर दौड़ गई। उन्होने सबको आश्चर्यचकित करते हुए कहा—"बस ! अब मैं समझ गया। जो तत्व आज तक समझ मे नहीं आ रहा था, वह आज समझ मे आ गया। ये जितने झंझट, झगडे, मुसीबतें और समस्याएं है वे सब दो के मिलने के कारण ही है। वास्तव में जीवन—आत्मा तो एकाकी ही सुखी है। आत्मा के साथ शरीर का जो सम्बन्ध है उसको मैं तोड़कर विदेह और निष्कर्मा बनूगा। द्वित्व सम्बन्ध ही आत्मा को भटकाने वाला है। इसको अब मैं छोडूगा। इस तरह [नमि राजर्षि एक क्षण मे ही जो ज्ञेय था उसको समझ गए और तत्काल राज्य की समस्त विभूतियो को ठुकरा कर वैराग्य-पूर्वक जगल की ओर एकाकी चल पड़े।

उपनिषदों मे ऐसा ही उदाहरण जनकजी के नाम से प्रसिद्ध है। कहने

का तात्पर्य यह है कि मनुष्य आत्म-भिन्न तत्त्व का आत्मा के साथ जो सम्पर्क कर वैठा है उसे अपने पुरुपार्थ के द्वारा मिटाकर परम विजय प्राप्त कर सकता है। यह तभी होगा जव आत्म-अन्वेषण, आत्म-दमन और आत्म-नियन्त्रण होगा।

पंचिंदियाणि कोहं, माणं मायं तहेव लोहं च।
दुज्जयं चेव अप्पाणं सव्वं अप्पे जिए जियं॥

इसका तात्पर्य यही है कि आत्मा का दमन और आत्मा को जीतना सवमे अधिक कठिन है। क्योकि एक आत्मा को जीत लेने पर अन्य सव स्वतः विजित हो जाते है। आत्मविजय के वाद इन्द्रियजन्य विकार और मनोविकार तथा मान, माया, लोभ ये आत्मा में ठहर नही सकेंगे। आत्मा अपने स्वरूप में लीन होकर परमात्म-पद के सर्वोच्च शिखर को सुशोभित करेगी।

जैनदर्शन ने समस्याओ के समाधान के लिए दो दृष्टियों का निरूपण किया—एक आचार और एक विचार। आचार और विचार का गहरा सम्वन्ध है। एक के विना दूसरा अधूरा है। आचार के सम्वन्ध मे जैनदर्शन ने अहिंसा सत्य और अपरिग्रह को व्याख्यायित किया। अहिंसा का अर्थ इतना ही नही कि मनुष्य की हिंसा न की जाए। यह सकुचित सिद्धांत है। अहिंसा का मतलव है प्राणिमात्र के साथ प्रेम करना। दूसरे शब्दों मे कहें तो विश्वमैत्री या विश्ववन्धुता की भावना विकसित होना। जैन-दर्शन वताता है कि यदि मनुष्य अहिंसा के पूर्ण आदेशो को न निभा सके तो कम से कम किसी के साथ अनर्थ वैर और अनर्थ विरोध तो न करे। किसी निरपराध को मारकर स्वयं अपराधी तो न वने। इसी प्रकार सत्य और अपरिग्रह के वारे मे भी वताया गया है। लोग कहते हैं आज साम्यवाद का खतरा है। मैं मानता हूं यदि लोग अपरिग्रहवाद को समझ ले तो साम्यवाद का खतरा अपने आप समाप्त हो जाए। यदि आर्थिक समानता हो भी गई हो तो उसमे क्या होना जाना है? वास्तविक समस्याएं उससे मिटने की नही। समस्या की जड-केवल अर्थ ही नहीं है। यदि जीवन के प्रत्येक व्यवहार मे समानता की लहरें नही पहुचेगी तव तक सिर्फ आर्थिक समानता मूलभूत रोग को नही मिटा सकेगी। इस स्थिति मे जैन-दर्शन का अपरिग्रहवाद वहुत महत्त्व रखता है। वह न केवल मानव मात्र के लिए अपितु प्राणीमात्र के लिए समानता की वात कहता है। आज जो जैन कहलाने वाले शोषण और अनैतिक प्रवृत्तियो से अर्थोपार्जन और अर्थ संग्रह मे जुटे है, वे मेरी दृष्टि मे जैन धर्म और जैन धर्म के अपरिग्रहवाद से अभी तक अनभिज्ञ हैं।

जैन-दर्शन ने दूसरी दृष्टि दी है—विचार। विचार के लिए जैन-दर्शन अनेकान्तवाद जैसे महत्त्वपूर्ण और अनुपम सिद्धान्त का प्रतिपादन करता है। विचारों के वडे-वडे संघर्ष होते हैं, आगे भी हुए है और आज भी होते हैं।

सव अपने विचारो को औरो पर थोपने की चेष्टा करते है, उस हालत में जैन-दर्शन कहता है—प्रत्येक वस्तु की अवस्थाओ पर अनेकान्त दृष्टिकोण से विचार करो। एक वस्तु को एक दृष्टि से न देखो, उसके लिए अनेक दृष्टियो का प्रयोग करो। एक वस्तु के अनेक पहलू हो सकते हैं। एक वस्तु के विपय में एक व्यक्ति एक दृष्टिकोण से विचार करता है, दूसरा दूसरे दृष्टिकोण से और तीसरा तीसरे दृष्टिकोण से। अनेकान्त के दृष्टिकोण से तीनो सच है। चूकि तीनो व्यक्तियो का विचार-माध्यम एक ही वस्तु है। जैन-धर्म की मान्यतानुसार प्रत्येक वस्तु, चाहे वह रजकण हो चाहे हिमालय, अनन्त धर्मों और अनन्त अवस्थाओ से जुड़ी हुई है। इसलिए यदि आग्रह-वुद्धि को छोडकर एक वस्तु के विपय मे भिन्न व्यक्तियों के द्वारा भिन्न-भिन्न तरीको से विचार किया जाता है तो अनेकान्तवाद के विशाल और उदार दृष्टिकोण से वह सव सत्य और यथार्थ की शृखला को छूने वाला है।

अनेकातवाद का अर्थ है—प्रत्येक वस्तु का भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणो से विचार कर देखना या कहना। एक शव्द मे अनेकान्तवाद को कहना चाहें तो उसे 'अपेक्षावाद' भी कह सकते है। शव्दान्तर से 'कथचिद्वाद' और 'स्याद्वाद' भी कह सकते है।

अनेकान्त के दृष्टिकोण से प्रत्येक वस्तु 'है भी' और 'नही भी'। जैसे एक मनुष्य वक्ता है, लेखक नही। वक्तृत्व की दृष्टि से वह है किन्तु लेखकत्व की दृष्टि से नही। अर्थात् स्व-गुण की अपेक्षा से वह है और पर-गुण की अपेक्षा से नही। इसी तरह प्रत्येक वस्तु समान भी है और असमान भी। असमान तो इस दृष्टि से कि मनुष्यो मे कोई वच्चा है, कोई जवान है और कोई वृद्ध। समान इस दृष्टि से कि सव मनुष्य है। प्राणित्व की दृष्टि से सव प्राणियों मे आत्मा एक ही स्वरूप वाली है, अत. समान है। इसी प्रकार प्रत्येक वस्तु एक भी है और अनेक भी है। जाति की अपेक्षा एक है और व्यक्ति की अपेक्षा अनेक है। इस तरह यह नियम संसार के प्रत्येक पदार्थ पर लागू होता है।

स्याद्वाद जैन-दर्शन का या यो कहूं, दार्शनिक जगत् का एक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है। आज की धार्मिक, सामाजिक और राजनैतिक उलझनो को सुलझाकर वह आपसी वैर, विरोध, कलह, ईर्ष्या, अनुदारता, साम्प्रदायिकता और सकीर्णता को दुरुस्त करने का एक सशक्त आलम्वन है।

जैन-दर्शन मे कर्मवाद को प्रधानता दी गई है। जैन-दर्शन जाति से किसी को ऊच या नीच नही मानता। उसकी दृष्टि मे ऊचता-नीचता की कसौटी उसके गुणावगुण है। जैन-दर्शन ने जातिवाद को अतात्त्विक कहकर उसे हेय ठहराया। भगवान् महावीर की वाणी मे :—

कम्मुणा वम्भणो होइ।
कम्मुणा होइ खत्तिओ॥
वइस्सो कम्मुणा होइ।
सुद्दो हवइ कम्मुणा।

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र सव अपने कर्म के अनुसार यानी आचरण के अनुसार होते है।

अणुव्रती संघ की योजना आपके सामने है। औरो के सुधार की वातों को छोडकर मनुष्य को पहले स्वयं का सुधार करना चाहिए। स्व-सुधार को भूलकर पर-सुधार का प्रयास करना अपने आप के साथ धोखा तथा विश्वास-घात करना है। मैं समझ नही पाता, जव मनुप्य वुराइयो और समस्याओं को वढ़ाने के लिये तैयार रहता है तव फिर उनको मिटाने और सुलझाने के लिए तैयार क्यो नही रहता ? मैं विश्वास करता हूं आप लोग इस आत्म-सुधार की योजना को महत्त्व देकर नैतिकता के रचनात्मक कार्य मे अपना हाथ वढाएं।

जोधपुर, (रोटरी क्लव)
१६ सितम्वर, ५३

१०९. विश्वशांति और अध्यात्म

आज का विचारणीय विषय है—'विश्वशान्ति और अध्यात्मवाद'। इस पर विभिन्न विचारकों ने अपने-अपने विचार व्यक्त किये। विश्व-शान्ति को लेकर किसी मे दो मत नही। क्या अध्यात्मवादी और क्या भौतिकवादी, सभी एक स्वर से विश्व-शान्ति का सुनहरा स्वप्न देखने को लालायित हैं। मगर सवाल यह है कि विश्व-शान्ति हो कैसे ? आज विश्व की समस्त विचार-धाराओ को निचोड करके देखे तो विश्व-शान्ति के मुख्यतः दो पहलू सामने आते है—(१) हिसात्मक (२) अहिंसात्मक। पहली धारा का उद्देश्य जैसे-तैसे लक्ष्य तक पहुचना है और दूसरी का उद्देश्य अहिंसा पर निर्भर रहकर लक्ष्य की प्राप्ति करना है। मैं यह नही मानता कि कम्युनिस्टो के साधन हिंसात्मक ही है। उनकी मान्यता है कि जब-जब अहिंसात्मक साधन कामयाब न हों, विषमता न मिट सके, स्थिति सम न बनाई जा सके, तब हमारे सामने लक्ष्य-प्राप्ति के लिये हिसात्मक साधन ही ऐसा रह जाता है जिसका उपयोग कर हमे जैसे-तैसे लक्ष्य तक पहुचना होता है। हम कम्युनिस्टो से घृणा क्यो करे ? उनमें जो अच्छाई है उसको हमे बिना किसी सकोच के सही ढंग से ले लेनी चाहिए। तरीके गलत हो सकते हैं मगर किसी विचारधारा को सर्वथा गलत ठहराना ठीक नही। अपने-अपने तरीके है, अपने-अपने साधन हैं, इनको लेकर हमे कही उलझने की जरूरत नही। गत पांच वर्षों में मुझ से अनेक कम्युनिस्ट मिले। उनसे विचार-विमर्श हुआ है। कही विचारसाम्य है। कही विचार-भेद है। विचार-भेद होना कोई बडी बात नही। अहिंसात्मक शक्तियों में भी परस्पर बडे-बडे विचार-भेद है। एक जैन-धर्म को ही लीजिये, उसकी शाखाये भी विचार-भेद से परे नही। विचार-भेद होने मात्र से घबराने और भय खाने जैसी कोई बात नही है। विचार-भेद को लेकर यदि हम असहिष्णु और असहनशील बन गये तो वह हमारी कमजोरी और कायरता होगी। विचार-भेद रहें इसमे हमे कोई आपत्ति नही है पर इस बात के लिए हम जागरूक रहे कि विचार-भेद होने पर भी मनोमालिन्य, मनोभेद और वैमनस्य न होने पाये। यदि ऐसा हुआ तो मै समझता हू, हिंसात्मक और अहिसात्मक शक्तियों के बीच की खाई एक न एक दिन अवश्य पट ही जायेगी।

मैंने विश्व-शान्ति के दो पहलुओं की चर्चा की। उनको हम यो भी कह सकते है कि एक तो वह तरीका, जो शुद्ध साध्य के लिए शुद्ध साधनो को ही ग्राह्य समझता है और दूसरा वह तरीका, जो शुद्ध साध्य की

प्राप्ति के लिए शुद्ध या अशुद्ध सभी तरह के साधनों को ग्राह्य व उपादेय मानता है। आप पूछेंगे, आप किस तरीके को उचित, ग्राह्य और उपादेय समझते है और आप के विचारानुसार विश्व-शान्ति के लिए किस तरीके को काम मे लेना चाहिए ?

मैं अहिंसा में पूर्ण विश्वास रखने वाला एक कट्टर अहिंसावादी हूं। मैं स्वप्न में भी हिंसात्मक तरीके को काम में लेने की वात नही सोच सकता, तव आपसे हिंसात्मक तरीके को काम में लेने की वात कह ही कैसे सकता हूं ? आज तक का इतिहास बताता है कि शान्ति को लाने के लिये बड़े-बडे युद्ध लडे गये, अनेक वैज्ञानिक साधन अपनाए गए पर शान्ति आई नही। अतः यह आशा करना कि हिंसक क्रान्ति से शाति आ सकेगी, दुराशामात्र है। यदि हिंसात्मक साधनों से शान्ति और समता आ जाए तो भी वह चिर स्थायी नही होगी। उसकी तह मे वह अशान्ति और वैपम्य की ज्वाला धधकती रहती है, जो समय पाकर फूटे बिना नही रहती।

आप पूछेगे—क्या अहिंसात्मक तरीके से दुनिया की समस्याएं हल हो सकेंगी ? इससे भी मैं सहमत नही हू। मै नही मानता कि अहिसा से दुनिया की सारी समस्याओ का समाधान हो जाएगा। इसका अर्थ आप यह न समझे कि अहिसा मे ताकत नही या वह कमजोर है। अहिंसा में ताकत है, उसमें वीरता की लहरे लहरा रही हैं। मगर उसके प्रयोग के लिये उचित व उपयुक्त भूमिका चाहिए। जैनशास्त्रो में ऐसे अनेक प्रसंग आते है जहां भगवान् महावीर ने कहा है—अहिंसा का प्रचार और प्रयोग करने के लिए सबसे पहले उचित क्षेत्र ढूढो। अपनी बुद्धि से यह तोलो कि जहा हम अहिंसा का प्रयोग और प्रचार करना चाहते हैं वहा का क्षेत्र अहिंसा को समझने, मानने और अनुशीलन करने के लिए उपयुक्त है या नही। जहा उपयुक्त क्षेत्र न मिले, वहा व्यर्थ मे अपना वचन-प्रयोग मत करो, मौन रखो, वहा खडे मत रहो, आगे चल पड़ो। यहा भय का सवाल नही, परन्तु कीचड़ मे पत्थर उछालने से क्या लाभ ? कोई अहिंसा को न माने तो क्या हम उससे लडे ? क्या घात-प्रतिघात करे ? क्या जवरदस्ती उस पर थोपे ? अहिंसा का यह तरीका नही और न अहिंसक ऐसा कर ही सकता है। बंजर भूमि पर वीज बोनेवाले किसान को क्या वेवकूफ नही कहा जाएगा ? क्या गोवर की भित्ति पर चित्रकार की कुशल तूलिका अपनी कला अंकित कर सकेगी ? मेरे कहने का तात्पर्य—जब तक सारा संसार अहिंसा के प्रति श्रद्धा, विश्वास और आदर न करने लगे तब तक सभव नही कि अहिसात्मक तरीका सम्पूर्णतया सफल और सिद्ध हो सके। इतिहास की लम्वी शृङ्खला मे ऐसा युग कही देखने मे नही आया जब कि समूची दुनिया मे अखण्ड शान्ति का साम्राज्य छाया रहा हो। ऐसा भी कभी सुनने या देखने

में नही आया जब कि युद्ध न हुए हों और सेना का सगठन न किया गया हो। दुनिया मे जब तक काम, क्रोध, मद, लोभ आदि का अस्तित्व रहेगा, वीतरागता और निर्विकारता की प्राप्ति नही होगी, तब तक अहिंसा के द्वारा सम्पूर्ण समस्याए हल हो जाए, यह सभव नही।

हमे चाहिए कि अहिंसा का व्यापक प्रसार करने के लिए हम उपयुक्त क्षेत्र तैयार करें। संसार में दो तत्त्व फैले हुए है—एक अच्छाई और दूसरी बुराई। अहिंसा का ऐसा प्रयोग किया जाए, जिससे बुराई अच्छाई पर हावी न होने पाये। बुराई का पलडा भारी न होने पाए, बल्कि अच्छाई से बुराई दबी रहे और उसके समान बुराई अपने आप को तुच्छ और अकिंचित् महसूस करे। अच्छाई का पलडा सदा भारी रहे। ऐसा होने पर समूची हिंसा न मिटने पर भी वह अहिंसा मे नियंत्रित रहेगी और जिसका परिणाम 'स्व' और 'पर' के लिए, दूसरे शब्दो मे व्यक्ति और समाज दोनो के लिए सुखद होगा।

समूची दुनिया अहिंसा को अपना नही सकती, इससे हमे निराश होने और पीछे हटने की आवश्यकता नही है। ऐसा दावा भी हम कब करते है कि दुनिया की सारी हिंसा को हम खत्म कर ही देंगे। हमे तो इसी भावना से अहिंसा को लेकर चलना है कि कही हिंसा बलवान्, स्वच्छन्द और अनियंत्रित न बने।

आज लोग यह भी आक्षेप कर सकते है, यहां पर इतने ऋषि-महर्षि हुए, इतने वीतराग और युग-प्रवर्त्तक हुए परन्तु उन्होंने किया क्या जबकि हिंसा और संघर्ष आज भी ज्यो के त्यो विद्यमान है। ऐसा कहनेवाले लोग समझे कि उन्होंने कभी ऐसा दावा ही नही किया था कि हम समस्त हिंसा और सघर्ष को खत्म ही कर देंगे। उन्होंने तो केवल ऐसा ही प्रयास किया कि जिससे हिंसा और संघर्ष निर्बल और नियंत्रित बने रहें। और इस उपदेश मे वे निर्विवाद रूप से सफल हुए है।

सोचने की बात यह है कि क्रूर से क्रूर हिंसक शक्तियां भी आज तक संसार मे शान्ति नही फैला सकी, जब कि उसके हाथ मे अणुबम और उद्‌जन बम जैसे विश्व को विध्वंस की परकाष्ठा पर पहुचाने वाले हथियार मौजूद है। अनेकानेक वैज्ञानिक साधन उनके अधिकार मे सुरक्षित हैं। प्लेट-फार्म और प्रेस उनके इङ्गित पर नाचनेवाले हैं तथा प्रचार की सारी सुविधाएं और विचित्र सामग्रिया उनके लिए अपना सर्वस्व न्यौछावर करने के लिए प्रस्तुत है। अहिंसात्मक शक्तियों के हाथ मे न राजसत्ता है, न भौतिक शक्ति है और न पार्थिव साधन विद्यमान हैं जिनसे वे संसार मे शान्ति का साम्राज्य फैला सके? उनके हाथ मे तो केवल अपने सन्देश, अपने विचार और अपनी वाणी है। इस पर भी उन्होने शान्ति-प्रसार के लिए जो कुछ किया है वह कम

नही है।

शान्ति कैसे हो ? इस पर मैं यदि थोडे शब्दो मे कहू तो वह यही है कि 'आरोपणवाद' को मिटाने से ही वास्तविक शान्ति और सुख सम्भव है। आरोपणवाद का अर्थ है—वाह्य पदार्थो मे सुख दु.ख का आरोपण करना, सुख-दुःख की कल्पना करना। मेरी दृष्टि मे आरोपणवाद ही सुख-दु.ख का कारण है। अन्यथा क्या कारण हैं कि एक निर्धन, गरीव, अकिंचन कहलानेवाला वाह्य सुख-सुविधाओ व उपकरणो के अत्यन्त अभाव होने पर भी आत्मा मे सुख व शान्ति का अनुभव करता है और एक कोट्यधीश, पूजीपति कहलानेवाला वाह्य सुख-सुविधाओ तथा उपकरणो की वहुलता होने पर भी दुःख और अशान्ति का अनुभव करता है। इससे यह मालूम पडता है कि सुख-दु ख और शान्ति-अशान्ति की सारी कल्पना मनुष्य के द्वारा ही आरोपित है।

वाहरी उपकरणो मे सुख-दु ख एव शान्ति-अशान्ति का आरोपण करने का ही यह परिणाम है कि आज पूजी-संग्रह सघर्ष का केन्द्रविन्दु वना हुआ है। पूजी की प्रतिष्ठा है, इसीलिए सव इस ओर भागते हैं। पूजी का वैयक्तिक केन्द्रीकरण, वन्धन, परिग्रह और सघर्प एव विपमता का कारण है उसी तरह राष्ट्रगत केन्द्रीकरण भी वन्धन, परिग्रह तथा संघर्प एवं विपमता के कारणो से परे नही। एक राष्ट्र, क्या दूसरे राष्ट्र को अधिक पूजी-सम्पन्न देखकर उससे जलेगा नही ? क्या वह उससे सम्पत्ति छीनकर उसको अपने मे समाहित कर अपनी ताकत वढाने की दौड़-धूप नही करेगा ? तव तो वही वात हुई। जो सवाल और समस्या व्यक्तिगत सम्पत्ति में अन्तर्हित है वही सवाल और वही समस्या सम्पत्ति के राष्ट्रीकरण मे भी ज्यो की त्यो विद्यमान है। इसलिए व्यक्तिगत पूजी के स्थान पर पूजी का राष्ट्रीयकरण करने पर भी समस्याओ का स्थायी और शाश्वत समाधान नही हो सकता। इसलिए मैं वहुधा कहा करता हू कि साम्यवाद समस्याओ का स्थायी एवं व्यापक हल नही है, वल्कि वह तो एक सामयिक पूर्ति है। स्थायी हल तो तभी निकल सकेगा जव व्यष्टि एव समष्टि में पूजी के प्रति त्याग, व्यामोह नही होगा। व्यामोह होगा त्याग, चारित्र और सयम के प्रति। इसलिए आवश्यक है कि वास्तविक सुख, शान्ति और समता तक पहुंचने के लिए आरोपण को मिटाये। जिस प्रकार खुजली होने पर मनुष्य को खुजलाने मे वड़ा आनन्द आता है। सर्पदंश जाने पर नीम मीठा मिश्री जैसा लगता है। इसी प्रकार अर्थ और पूजी का आकर्षण वास्तव मे दु.ख और अशान्ति का कारण है, फिर भी मनुष्य ने उसमे सुख और शान्ति का आरोपण कर रखा है। वास्तव मे यही महान् भूल है। इसको सुधारे विना वास्तविक समस्याओ का समाधान सम्भव नही।

शम और सम दो शब्द हैं। पहला है शम। वास्तव मे शान्ति तव होगी, जव 'शम' होगा। शम का अर्थ है वुझाना अर्थात जलती हुई अंत-

वृत्तियां जब बुझ जाएंगी तब शम होगा। जहां 'शम' होगा वहां शांति स्वत: आएगी। दूसरा शब्द है सम। सम का अर्थ है समता। इसे दूसरे शब्द में साम्यवाद भी कह सकते हैं। जहां अंतर्वृत्तियां बुझ जाएंगी समता आ जायेगी वहां शान्ति की कल्पना कल्पना न रहकर साकार हो उठेगी। केवल आर्थिक साम्यवाद से शांति का सूत्र नहीं पकड़ा जा सकता। जब 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' का मार्ग प्रशस्त होगा, तब साम्यवाद आयेगा। उसी से वास्तविक शांति और विश्व-शांति का सूत्र ग्राह्य हो सकेगा। केवल आर्थिक समानता को मैं समानता नहीं मानता। समानता होनी चाहिए—आत्म-धरातल के आधार पर ऐसी समानता होने पर ही विश्व-शांति का स्वप्न सफल, सार्थक और साकार बन सकेगा।

जोधपुर,
२० सितम्बर, ५३

११०. अनाग्रह का दर्शन

जिज्ञासा या अन्वेषण मानवीय चेतना की सहज वृत्ति है। विश्व क्या है ? जीवन क्या है ? जीवन का लक्ष्य क्या है ? ये ऐसे प्रश्न हैं जो प्रत्येक चेतनशील मानव के मस्तिष्क मे सदा से उठते आए हैं और मानव अपनी साधना, अनुशीलन और अनुभूति द्वारा इनका समाधान ढूढने का अनादिकाल से प्रयत्न करता रहा है। इसी चिन्तन के प्रतिफल मे दर्शन निकला। दर्शन और कुछ नही, जीवन की व्याख्या है, विश्लेषण है, सत्य की खोज है। समस्त दर्शनो का मूल वीज है—दुःख के अभिघात और सुख के लाभ की आकांक्षा। इस मौलिक धारणा की दृष्टि से विभिन्न दर्शनो के उद्गम मे अन्तर नही, वह एक है। ध्यान रहे—दर्शन केवल विद्वानो तथा विचारकों के दिमागी व्यायाम का विषय नही, यह तो व्यक्ति-व्यक्ति के जीवन का एक आवश्यक और व्यावहारिक पहलू है।

भारतीय दार्शनिको ने जहा जीवन के वाह्य पक्ष को वारीकी में समझा, अन्तर पक्ष के पर्यवेक्षण व अन्वेषण मे भी कोई कसर नही छोडी। भारतीय विचारकों—जैन, वैदिक और वौद्ध इन तीन प्रवाहो मे वही। समन्वय की दृष्टि से देखा जाए तो इन तीनो मे हम अभेद पाते है। वैदिक ऋषि विद्या और अविद्या की विवेचना कर अविद्या को हेय और विद्या को उपादेय वताते है, जैन-तीर्थंकर आश्रव और संवर अर्थात कर्म-वन्ध और कर्म-निरोध के माध्यम से निर्वाण की व्याख्या करते है। वौद्ध आचार्य दुःख, समुदय मार्ग और निरोध—इन चार आर्य सत्यो को प्रस्तुत कर जन्म-मरण के सस्कारो से छूटने की वात कहते है। संक्षेप मे कहा जाए तो सभी दर्शनो ने आसक्ति, लालसा, द्वेष और लोभ जैसी वृत्तियो को वन्धन कहा है। उनसे मुक्त होने की प्रेरणा दी है। इस तरह सूक्ष्म-दृष्टि मे विचार किया जाए तो इनमें कोई भेद-रेखा नही रहती, प्रत्युत गहरा समन्वय, सामजस्य और एकता की पुट मिलती है। मुझे यह कहते हुए खेद होता है कि अतीत मे एक समय ऐसा आया जिसमे दर्शन के नाम पर रक्तपात हुआ। भाई भाई के वीच वैमनम्य की भेद-रेखा खीची गई। यह भूलभरा विचार था। अव हमे इसकी पुनरा-वृत्ति नही करनी है। आज दार्शनिक जगत के लिए यह आवश्यकता है कि वह समन्वयमूलक मनोवृत्ति के सहारे सोचे। दर्शन जो जीवन-शुद्धि और आत्मोत्थान का मार्ग है, उसे आपसी सघर्ष का हेतु न वनाया जाए।

दर्शन आग्रह, हठ व पकड नही सिखलाता। वह तत्त्व का साक्षात्कार कराता है। अपेक्षा-भेद से तत्त्व के अनेक रूप है पर उन सबका आग्रहपूर्ण प्रतिपादन सही नही। जैन-दार्शनिको ने सापेक्षवाद की दृष्टि से इस समस्या को वडे अच्छे ढ़ंग से सुलझाया है। उन्होने वताया—एक ही वस्तु का दृष्टि-भेद या अपेक्षा-भेद से अनेक तरह से प्रतिपादन किया जा सकता है। एक छोटा सा उदाहरण लीजिये—एक ही व्यक्ति पुत्र भी है, पिता भी है, भाई भी है, पति भी है। अपने पिता की अपेक्षा मे वह पुत्र है, अपने पुत्र की अपेक्षा से वह पिता है, अपने भाई की अपेक्षा से वह भाई है और पत्नी की अपेक्षा से पति। भिन्न-भिन्न अपेक्षाओ से उसमें पुत्रत्व, भ्रातृत्व, और पतित्व आदि अपेक्षा-धर्म है। यहां पर यह आग्रह अनपेक्षित है कि वह जव पुत्र है तव पिता कैसे ? दूसरा उदाहरण लीजिए—एक व्यक्ति छोटा भी है और वडा भी। वड़ापन व छोटापन दोनों परस्पर विपरीत धर्म है। पर अपेक्षा-भेद से व्यक्ति मे दोनों घटित है। अपने से वड़े की अपेक्षा वह छोटा है और छोटे की अपेक्षा वडा। इस प्रकार अपेक्षावाद का सिद्धान्त जीवन की उलझी गुत्थियो को सुलझाता है। आपसी भेद-रेखा को मिटाकर उसकी जगह अभेद, ऐक्य, समन्वय तथा सामजस्य को वल देता है। इसी का दूसरा नाम है—स्याद्वाद या अनेकान्तवाद। विश्व के महान् वैज्ञानिक आइन्स्टीन की 'थ्योरी ऑफ रिलेटिविटी' का सिद्धान्त भी यही है। मेरा दर्शन के प्राध्यापकों, विचारको एव छात्रो से यही कहना है कि वे प्रेयस् को छोडकर श्रेयस् को पाने का प्रयत्न करे। दूसरो को उस मार्ग पर चलने की प्रेरणा दे। उनके दार्शनिक अनुशीलन व मनन की इसी मे सफलता है।

जोधपुर,
२६ सितम्तर, ५३

१११. धर्म निरपेक्षता बनाम सम्प्रदाय निरपेक्षता

धर्म उत्कृष्ट मगल है। वह आत्म-शुद्धि का मार्ग है। जीवन-निर्माण का साधन है। आज हमे सोचना है कि वह राष्ट्र-निर्माण में कहा तक सहायक हो सकता है। राष्ट्र-निर्माण का अर्थ है—एक राष्ट्र अपनी सीमा को वढाता हुआ उसे असीम वना ले। दूसरी शक्तियो और राष्ट्रो को कुचलकर उन पर अपना अधिकार जमाले, उन्हे अपने अधीन कर ले। नये-नये विध्वंसक शस्त्रो द्वारा दुनिया मे अशाति और तवाही मचा दे। पर मैं कहूंगा—यह राष्ट्र-निर्माण नही, विध्वंस है, विनाश है। इसमे धर्म कभी भी सहायक हो नही सकता। धर्म राष्ट्र के वाह्य कलेवर का नही, आत्मा का परिशोधक है। राष्ट्र मे फैली हुई बुराइयो को मिटाने के लिए हृदय परिवर्तन का सहारा लेता है। धर्म से मेरा अभिप्राय किसी सम्प्रदाय विशेप मे नही, अपितु अहिसा, सत्य, जैसे शाश्वत सिद्धातो से है, जिनके द्वारा जन-जन का पथ प्रशस्त होता है।

धर्म और राजनीति एक नही है। जहा इन दोनो को एक कर दिया जाता है, वहां धर्म, धर्म नही रहकर, स्वार्थ-सिद्धि का साधन वन जाता है। जहा धर्म का राजनीति से गठवधन कर उसे लोगो पर थोपा गया, वहा रक्त-पात और हिसा ने समूचे राष्ट्र मे तवाही मचा दी। क्या लोग भूल जाते है, —'इस्लाम खतरे मे है" जैसे नारो का क्या परिणाम हुआ ? ध्यान रहे, धर्म कभी खतरे मे हो ही नही सकता। धर्म को खतरे मे वतानेवाले भूलते है कि ऐसा करके वे कितना पाप और अन्याय करते है ? धर्म और राजनीति दोनो अलग-अलग है। वे घुल-मिल नही सकते। धर्म केवल आत्म-शुद्धि का साधन है। इनना अवश्य हो सकता है कि राजनीति अपनी विशुद्धि के लिए धर्म से प्रेरणा लेती रहे। जो राजनीति धर्म से अनुप्राणित होगी वह राष्ट्र को शाति की ओर ले जायेगी। अन्याय, शोपण, वेईमानी, धोखेवाजी जैसी दानवीय शक्तियां अपने आप समाप्त हो जायेगी।

भारत एक धर्म निरपेक्ष राज्य है। कई लोग इस पर वडी आलोचना करते है और धर्म निरपेक्ष का अर्थ अधार्मिक राज्य करते है। परन्तु जैसा कि मैंने विधिवेत्ताओ से सुना इसका अर्थ अधार्मिक नही वरन् इसका अभिप्राय है किसी भी धर्म विशेप का कोई विशेप अधिकार न होकर सव धर्मो का

समानाधिकार है। भारत जैसे विशाल और सैकड़ो धर्मवाले देश के लिये किसी धर्म विशेष की राष्ट्र पर छाप हो, यह कभी उचित भी नही। अन्त मे मेरा यही कहना है कि किसी भी राष्ट्र में रहनेवाले नागरिक धर्म के व्यापक सिद्धांतों को अपना कर जीवन निर्माण के पथ पर आगे बढ़े। ये व्यापक सिद्धान्त व्यक्ति-व्यक्ति के जीवन को सुधार कर एक बहुत बड़ी देन दे सकेंगे, ऐसा मेरा विश्वास है।

जोधपुर,
२७ सितम्बर, ५३

११२. समस्या का स्थायी समाधान : अहिंसा

हमारे प्राचीन ऋषियो, महात्माओ, संतों और सभी धर्म प्रवर्त्तको ने हमें अहिंसा का दर्शन दिया है। यह अहिंसा का दर्शन जीवन, समाज और राष्ट्र की सभी समस्याओ को सुलझाने मे समर्थ है। भारत की सभ्यता, संस्कृति और धर्म सभी अहिंसा के आदर्श और पावन मंत्र मे ओत-प्रोत हैं।

मनुष्य का सबसे बड़ा दोप है, दूसरों पर अपराध मढना। वह अपना दोप स्वयं नही देखता। यहां तक कि अपनी गलती के लिए भी वह दूसरे को दोपी ठहराता है। यह दोपारोपण की वृत्ति ही विश्व-शांति का सबसे बड़ा शत्रु है। यह आरोपवाद हिंसा है। इस हिंसा से व्यक्ति का अपना पतन होता है।

हिंसा तो हिंसा ही रहेगी परंतु अन्याय के प्रतिकार मे होनेवाली हिंसा की प्रतिक्रिया से साधारण समाज बच नही सकता। पर उस हिंसा मे भी नीति और धर्म के साथ मानवीय मर्यादाओ का पालन आवश्यक है, जैसे कि राम-रावण और पाण्डव-कौरव के युद्ध मे होता था।

अमेरिका और रूस दो महान् शक्तियां हैं। पर इन शक्तियो के आधार पर साम्राज्यवाद और समाजवाद के प्रचार-प्रसार की कल्पना नही की जा सकती। क्योकि इनमे स्थायित्व नही है। सबसे बड़ी और स्थायी शक्ति है अहिंसा की। अहिंसा के द्वारा हृदय-परिवर्तन कर समस्या का उचित समाधान खोजा जा सकता है। जनमानस हिंसा की शक्ति से जितना परिचित है उतना अहिंसा की शक्ति से परिचित नही है। जिस दिन राष्ट्र का नागरिक अहिंसा की शक्ति से परिचित हो जाएगा वह दिन मानव जाति के विकास एवं अभ्युदय का होगा ऐसा विश्वास है।

जोधपुर,
२ अक्टूबर, ५३

११३. संस्कृत और संस्कृति

संस्कृत हमारे देश की प्राचीन भाषा है। वह भारत की सांस्कृतिक चेतना की प्रतीक है। संस्कृति राष्ट्र की आत्मा है। जिस राष्ट्र ने अपनी सस्कृति को भुला दिया, वह राष्ट्र वास्तविक रूप से जीवित और जागृत राष्ट्र नहीं कहा जा सकता। भारतीय संस्कृति आज भी जिस किसी अवस्था मे जीवित है, उसका बहुत कुछ श्रेय सस्कृत वाङ्मय को है। भारतीय तपस्वी साहित्यकारों ने अपनी लम्बी, कठोर साधना व दीर्घ तपस्या के सहारे जिन सत्यो का साक्षात्कार किया, वे संस्कृत वाङ्मय में आज भी बहुमूल्य रत्नो के रूप में सुरक्षित है। संस्कृत वाङ्मय अपनी मौलिकता, भाव गाम्भीर्य, पदसौकुमार्य, व्यजन, सहज अलंकारिता आदि गुणो से विभूषित है। वह विश्व-इतिहास में अपना अनुपम स्थान रखता है।

सस्कृत भाषा अर्थात् सस्कारित—परिमार्जित-भाषा। जो व्यक्ति सस्कारवान् बनना चाहता है उसके लिए यह भाषा प्रेरक है। सस्कारवान् मानव के लिए यह प्रेरक है। संस्कारिता का भारतीय दृष्टि मे सदा से महत्त्व रहा है। यहा प्रागैतिहासिक काल से सदा त्यागी और संयमी व्यक्तियो का महत्त्व रहा है, भोगी और समृद्धिशाली का नही। क्योंकि संयमी सस्कारवान् होता है और भोगी सस्कारहीन। विश्व ने महात्मा गाधी को इसलिए महत्त्व दिया कि वे एक सस्कारवान् और दिव्य पुरुष थे। उनका जीवन सत्संस्कारो से भावित था। वे सयम और त्याग को बल देने वाले एक सुचेता थे।

संस्कृत भाषा असत् संस्कारो से सत् सस्कारो की ओर ले जानेवाली भाषा है। प्राचीन काल मे जन-जन की भाषा थी। आज वह केवल पण्डितों की भाषा रह गई है। हम उस दिन की प्रतीक्षा करे जब संस्कृत पुनः मानव-मानव की भाषा बनेगी और सभी वर्ग के लोग इसे अपनाएगे।

जोधपुर,
२ अक्टूबर, ५३

११४. आत्म-निर्माण

तत्त्व ग्रहण करने के लिये हर व्यक्ति विद्यार्थी है। वृद्ध और जवान का इसमे कोई प्रश्न नही। हर अवस्था मे हर व्यक्ति को तत्त्व पाने के लिए विद्यार्थी रहना चाहिये। विद्यार्थी का अर्थ वहुत पुस्तकें पढ़नेवाला ही नही है। जिसमें ग्रहणशीलता है वह विद्यार्थी है। विनोवाजी ने एक जगह कहा है—"अधिक पढ़ना एक व्यसन है, यदि उस पर मनन और आचरण न किया जाए।" वास्तव मे मनन व आचरणशून्य अध्ययन किसी काम का नही। वह तो फिर एक आदत मात्र है। उसमें न तो जीवन को समझा जा सकता है और न जीवन संस्कारित ही हो पाता है। संस्कृत भाषा की यह उक्ति यहाँ कितनी सुन्दर लगती है :

"शास्त्रावगाह-परिघट्टन-तत्परोपि, नैवावुध. समभिगच्छति वस्तुतत्त्वम्।
नानाप्रकाररसभावगतोपि दर्वी, स्वादं रसस्य सुतरामपि नैव वेत्ति।"

अर्थात्—शास्त्रो के गहरे अध्ययन से भी अज्ञानी जीव वस्तुतत्त्व को नहीं जान पाता। स्वादिष्ट खाद्य वस्तु पहले चम्मच पर आती है। पर वस्तु के स्वाद का उसे ज्ञान नही होता। क्योंकि वह जड़ है। इस प्रकार वास्तविक शिक्षण के अभाव मे सहस्रो पुस्तको का अध्ययन केवल पठन मात्र है। जीवन में उसका कोई महत्त्व और उपयोग नही हो सकता।

विद्यार्थी सही माने मे आत्मार्थी है। वह अपने आपको खोजे, समझे और वुराइयो से अपने को मुक्त करे। उसका कर्त्तव्य है कि वह प्रतिपल यह चिन्तन करता रहे कि उसे क्या वनना है। जीवन में जो वातें समझने और उतारने की है, उनका अधिक पढ़ने के साथ कोई सम्वन्ध नही है। कम पढकर भी मनुष्य गहराई व निष्ठापूर्वक उनको पा सकता है। संक्षेप मे मैं आज जीवन के उन्हीं पहलुओं पर प्रकाश डालना चाहता हूं जो विशेपतः विद्यार्थी-जीवन के लिए अत्यन्त आवश्यक व उपयोगी है।

सवसे पहली वात हैं विद्यार्थियो मे वाणी और क्रिया का समन्वय होना चाहिए। आज न जाने यह कोई सभ्यता वन गई है कि मनुष्य कहने के लिए तो वड़ी-वड़ी वातें करता है परन्तु स्वयं उसके अनुरूप आचरण नही करता है। आज के विद्यार्थी यह सोचे कि उनके जीवन मे वाणी और क्रिया का समन्वय है या नही। अगर नही है तो कुछ नही है और यदि है तो सव कुछ है। आज का मनुष्य कहता अधिक है और करता कम है। वह औरो को सिखाने तथा सुनाने के लिए जितना उत्सुक रहता है उतना सीखने तथा सुनने के लिए नही।

जो स्वयं जिस मार्ग को ग्रहण न करे उसे क्या अधिकार है कि वह औरो को उस मार्ग पर चलने की शिक्षा दे। शिक्षा देने का अधिकार उसे ही है जिसने जीवन का मन्थन किया है। साधना के द्वारा सार-तत्त्वो को हस्तगत किया है। विद्यार्थियो को अधिक कहने की मनोवृत्ति से दूर रहकर अधिक सीखने व सुनने की मनोवृत्ति रखनी चाहिए। प्रकृति ने सभवत इसलिए ही दो कान दिये हैं और एक जीभ दी है ताकि सुनो अधिक और बोलो कम। अगर हर समय आप अपने को टटोलते रहेंगे तो यह कहनी व करनी की समानता अपने आप आ जाएगी।

विद्यार्थियो का खान-पान व चरित्र शुद्ध होना आवश्यक है। मुझे सखेद कहना पडता है कि आज के विद्यार्थियो ने अपना खान-पान बहुत विगाड़ दिया है। मास और मदिरा जैसी अखाद्य और अपेय वस्तु क्या खाने-पीने योग्य है ? ऐसे विद्यार्थी आज कम मिलेगे जिनका खान-पान शुद्ध हो। अज्ञानतावश शुरू-शुरू मे स्वाद चखने के लिए विद्यार्थी गलत चीज का उपयोग करता है पर आगे चलकर उनसे दूर हटना कठिन हो जाता है। मेरी दृष्टि मे खान-पान विगडने का मूल कारण कुसगति है। सत्संगति जीवन को बनाती है बुरी सगति जीवन को विकृत करती है। खान-पान की शुद्धि-अशुद्धि भी बहुत कुछ सगति पर निर्भर करती है।

चारित्र जीवन की बुनियाद है। अगर यह बुनियाद मजबूत है तो कोई कारण नही कि उस पर आधारित जीवन की मंजिल लडखडा सके। महात्मा गाधी बैरिस्टरी पास करने के लिए इंगलैण्ड जाने लगे। उस समय उनकी माता उन्हे एक जैन साधु के पास ले गई। जैन साधु ने उन्हे विदेश मे अशुद्ध खान-पान से बचने तथा चारित्र को न विगाड़ने की प्रतिज्ञाए करवाई। आगे चलकर उनका जीवन कितना सात्विक रहा, यह आज किसी से भी छिपा नहीं है।

मैं विद्यार्थियो से विशेष रूप से कहना चाहता हूं कि वे अपने जीवन को टटोले। अगर उसमे चारित्र का पतन और खान-पान की विकृति है तो वह उनके लिए कतई हितकर और शोभास्पद नही है। विद्यार्थीगण इन बुराइयो को जीवन के लिए अभिशाप समझकर इनसे बचे। उन्हे दृढप्रतिज्ञ रहना चाहिए कि वे अपने खान-पान तथा चरित्र को कभी नही गिराएगे।

आज विद्यार्थियो पर जो सबसे बडा आरोप है वह है अनुशासनहीनता का। यह दोष केवल विद्यार्थियो का ही है ऐसा मैं नही मानता। आज की शिक्षा-प्रणाली का इसमे बहुत बडा हाथ है। आज शिक्षा-प्रणाली मे आमूल-चूल परिवर्तन करने की बात सोची जा रही है। इस सोच का क्या परिणाम निकलेगा यह सोचना तो आगे की बात है। मैं विद्यार्थियो से यही कहूगा कि अगर उन्हे विद्याग्रहण की पिपासा है तो वे अधिक से अधिक नम्र

और अनुशासित बने। यह समय नम्र और अनुशासित रहने का है। अगर इस समय भी आप ऐसे न रह सकेंगे तो आगे चलकर आप जीवन मे क्या सफलता प्राप्त करेंगे ? अच्छी चीज ग्रहण करने के लिये अच्छे अनुशासन मे रहना आवश्यक है। उच्छृङ्खलता, उद्दडता और अनुशासनहीनता विद्यार्थी के लिए भारी कलंक है। इन्हें मिटाने के लिए उनको एक व्यवस्थित व संगठित प्रयास करना होगा।

जिज्ञासा हो सकती है कि विद्यार्थियो में अनुशासनहीनता आने का क्या कारण है ? मैं कहूगा कि इसका प्रमुख कारण है—आध्यात्मिकता से पराङ्मुख होना और भौतिकता का अन्धभक्त बनना। भौतिकवाद ने आज विश्व का सारा दृष्टिकोण ही वदल डाला है। उसमे अन्तरआत्मा को छूने वाले तत्त्व नही हैं, वाह्यपदार्थों का आकर्षण ही उसका विपय है। अध्यात्मवाद अन्तःशोधन की प्रक्रिया है। आज विद्यार्थियो मे न आत्मा, परमात्मा पर श्रद्धा है, न धर्म पर। धर्म का उनके जीवन मे कोई स्थान नही। वे धर्म को एक रूढि समझते हैं। उनकी दृष्टि मे धर्म कोई मुख्य तत्त्व नही। इसमे विद्यार्थियो का ही दोप हो ऐसा नही है। वास्तव मे स्वार्थी व्यक्तियो ने धर्म को जो विद्रूप वना दिया है, उसका ही यह परिणाम है। मैं विद्यार्थियो से कहूंगा कि वे धर्म के असली स्वरूप को समझें। वास्तव मे धर्म जीवन का एक महत्त्वपूर्ण अग है। उसका पैसे से कोई सम्वन्ध नही। जो पैसे से धर्मोपार्जन की वात कहते है वे धर्म के सही स्वरूप से सर्वथा अनभिज्ञ हैं। धम आत्म-शुद्धि व आत्म-परिमार्जन का मार्ग है। चारित्र-सुधार धर्म का मौलिक नारा है। उसमे साम्प्रदायिकता की गन्ध तक नही। वह हिंसा और घृणा से सर्वथा दूर है। विश्व-मैत्री का वह अमोघ सूत्र है। यदि वास्तविक धर्म विद्यार्थियो मे होता तो कोई कारण नही था कि उनमें अनुशासनहीनता का समावेश होता। धर्म मनुष्य को आत्मानुशासन सिखाता है। आत्मनियन्त्रण सिखाता है। आज के भावुक विद्यार्थियो के दिमाग मे वहुधा एक वात चक्कर काटती रहती है कि वे समाज का आमूलचूल परिवर्तन कर दे। वे नही चाहते कि समाज में कुरीतिया, कुरूढ़िया, अन्धश्रद्धा और ढकोसलेवाजी रहे। पर वे इसके लिए करते क्या है ? जव स्वय भी वे अपने विचारो के अनुकूल प्रवृत्ति नही करते तो दूसरो से वे क्या आशा रख सकते है ? वे पहले अपना निरीक्षण करें। जो वुराइया उनमे प्रवेश कर गई है, उनसे जव तक वे दूर नही होंगे तव तक समाज-सुधार की उनकी आवाजे कोई तथ्य नहीं रखती। मेरी समझ मे यही उनकी दुर्वलता है कि वे चाहने पर भी कुछ करने में सफल नही हो सकते। सन्तो की आवाज से सहस्रो व्यक्ति प्रभावित होते है और जीवन शुद्धि की प्रक्रिया का अनुसरण करते है। इसका यही रहस्य है कि

सन्तों की शिक्षा जवानी या कागजी शिक्षा न होकर सक्रिय शिक्षा होती है। मैं विद्यार्थियो से यही कहना चाहता हू कि वे पहले आत्म-दमन के तत्त्व को पहचानें, उसका अनुशीलन करें और बाद में समाज सुधार का बीड़ा उठाए।

जोधपुर, (केवल भवन)
४ अक्टूबर, ५३

११५. अहिंसा और दया

'अहिंसा' भारतवासियो के लिए कोई नई वात नही है। यहा के जन-जन मे अहिंसा के संस्कार परम्परा से चलते आ रहे हैं। पश्चिमी राष्ट्रो तथा भौतिकवादी सस्कृतियों के लिए अहिंसा का विशेप महत्त्व हो सकता है। मगर जहा का वच्चा-वच्च। अहिंसा को समझता व मानता है। वहा यदि वह हो तो उसका क्या विशेप महत्त्व ? यहां तो अहिंसा को आत्मसात् या रक्तसात् वनी हुई कहे तो भी कोई अत्युक्ति नही।

अहिंसा और दया एक दृष्टि से अभिन्न है और एक दृष्टि से उनमे पूर्व-पश्चिम जैसा अन्तर भी है। पहले हम अहिंसा को ही लें। 'अहिंसा परमोधर्म.' व 'न हिंस्यात्सर्वभूतानि' अहिंसा का सिद्धात यहा के समस्त धार्मिक सम्प्रदायो से सर्व-सम्मत होते हुए भी अहिंसा की परिभापाए सवने अलग-अलग की है। एक जगह अनभिद्रोह को अर्थात् किसी भी समय, किसी भी जगह और किसी भी परिस्थिति में किसी भी प्राणी का हनन न करना अहिंसा माना गया है तो दूसरी जगह 'नाततायिवधे दोषो हन्तुर्भवति कश्चन' अर्थात् आततायी हिंस्र, हत्यारे, अपराधी को मार डालने मे मारने वाले को कोई हिंसाजन्य दोप नही होता। एक जगह अनावश्यक हिंसा को हिंसा माना गया है मगर आवश्यकता की पूर्ति के लिए जो अनिवार्य हिंसा होती है वह हिंसा नही, अहिंसा की कोटि मे ही है। वहां दूसरी ओर यह माना गया है कि देव, गुरु और धर्म की रक्षा के लिए जो हत्याएं की जाती हैं, वे हिंसा नही, अहिसा ही है। इसी तरह अहिंसा की अनेक प्रचलित परिभापाओ को देखकर साधारण मनुष्य तो क्या विद्वान् भी गहरी उलझन मे पड जाता है। उसकी समझ मे नही आता कि वह किस परिभापा को सत्य माने और किसे असत्य ? ऐसी स्थिति मे आज का विपय अवश्य ही कुछ गम्भीर है। जैन-धर्म के शास्त्रीय प्रमाणो के आधार पर आज मुझे इस विपय पर प्रकाश डालना है। जैन शास्त्रो मे अहिंसा की परिभापा करते हुए भगवान् महावीर ने कहा है :

"अहिंसा निउणं दिट्ठा सव्वभूएसु संजमो"

अर्थात् प्राणिमात्र के प्रति अपनी जो सयत वृत्तिया है, सयम है, समता है, मैत्री है, उसका नाम ही अहिंसा है। अहिंसा अपने परिवार, कुटुम्व, समाज एव राष्ट्र तक ही सीमित नही रहती। उसकी परिधि विशाल है। उसकी गोद मे प्राणिमात्र सुख की सास लेने का अधिकारी है। अहिंसा का व्युत्पत्ति-

लभ्य अर्थ है—'न हिंसा' अहिंसा। इसका तात्पर्य है कि "सब जीवों को अपने जीवन से प्यार है। सब जीव जीना चाहते हैं; मरना कोई नही चाहता। दुःख किसी को भी प्रिय नहीं। इसलिए किसी प्राणी की हत्या मत करो, किसी पर हुकूमत मत करो, किसी को दास मत बनाओ तथा किसी पर बलात्कार व बल प्रयोग मत करो।" यह अहिंसा का पूर्ण निषेधात्मक रूप है। प्रश्न होगा—क्या अहिंसा का विधेयात्मक रूप नहीं है? वह भी है। जितना बलवान् निषेधात्मक रूप है, उतना ही बलवान् विधेयात्मक रूप भी है। जैसे—प्राणी के साथ मैत्री, बन्धुत्व व भाईचारे का बर्ताव और समानता का व्यवहार रखना। ये हैं—अहिंसा के विधेयात्मक रूप। अहिंसा के निषेधात्मक व विधेयात्मक रूपो में शब्द-भेद के अलावा और कोई मूल अन्तर नही है। 'किसी को मत मारो' और 'सबके साथ मैत्री रखो'—दोनो ही वाक्यो का तात्पर्य एक ही है। इनमे तत्त्वतः कोई भिन्नता नहीं। इस परिभाषा के अनुसार किसी को भी अपनी वृत्तियों द्वारा दुःख, सन्ताप और उत्पीडन पहुचाना मात्र हिंसा है। चाहे वह हिंसा आवश्यकता की पूर्ति के लिए ही क्यो न हो, चाहे वह आततायी के वध के लिए ही क्यो न हो और चाहे वह धर्म, देश, राष्ट्र, संस्कृति, जान-माल आदि की रक्षा के लिए भी क्यो न हो—हिंसा आखिर हिंसा है। उसके पीछे किसी प्रकार का विशेषण जोड़कर उसे अहिंसा की कोटि मे नही रखा जा सकता है। यहां आकर लोगो मे बड़ी उलझन पैदा हो जाती है। वे सोचते है कि क्या अहिंसा हमे यही सिखाती है कि अनिवार्य हिंसा मत करो, आततायियो व आक्रमणकारियो के सामने घुटने टेक दो। क्या इस तरह हम जिन्दा रह सकेंगे? क्या धर्म, राष्ट्र और संस्कृति का अस्तित्व रह सकेगा? क्या इससे हिंसा, अनैतिकता और गुण्डागर्दी जगह-जगह नही फैल जाएगी? क्या दयावान् और धार्मिक लोग समाप्त हो जाएगे? मैं जहा तक समझ पाया हू कि यह उलझन बिलकुल निरर्थक और निकम्मी है। हम अपनी दुर्बलता और कमजोरी के कारण तत्त्व के सही विवेचन से मुह मोड़ें, यह न तो शोभास्पद है और न उपादेय ही। अनेक परिस्थितियों से जकड़ा सामाजिक प्राणी पूर्ण अहिंसक न बन सके, इसका यह तो तात्पर्य नही कि वह अपने स्वार्थ तथा सामाजिक कर्त्तव्य के नाते होने वाली हिंसा को हिंसा भी न माने। अहिंसा का जो पूर्ण आदर्श रूप है उसको समझना, मानना एक बात है और उस आदर्श को अपनी शक्ति की न्यूनता के कारण जीवन मे चरितार्थ न कर सकना दूसरी बात। परन्तु यह तो उचित नही कि यदि कोई पूर्ण आदर्श तक न पहुच सके तो वह उसको नीचे खिसका ले। अपनी दुर्बलता के कारण कोई पूर्ण ब्रह्मचारी नही बन सकता तो क्या उसका यह कर्तव्य है कि वह पूर्ण ब्रह्मचर्य को अव्यावहारिक बतलाकर स्वदार-सन्तोष और परदार-सेवन-

परित्याग को ही पूर्ण ब्रह्मचर्य कहे ? वह स्वयं नही पाल सकता इसका यह मतलब नही हो सकता कि वह किसी के द्वारा भी पाला जाना अशक्य है। आगे भी पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन किया गया है, आज भी किया जाता है। आप कहेगे कि सब व्यक्ति ब्रह्मचारी नहीं बन सकते। फिर ऐसे नियम से तात्पर्य क्या ? मैं कहना चाहता हूं—यही तो आदर्श है। वह आदर्श नही होता जहा तक सब व्यक्ति पहुच सके। और वह भी आदर्श नही होता जहा कोई नही पहुच सके। आदर्श एक लक्ष्य, एक केन्द्र बिन्दु हुआ करता है जहां तक पहुचने की सबको कोशिश होनी चाहिए। यह दूसरी बात है कि वहां तक सब नही पहुच पाते। कुछ दृढ मनोबली व अटूट आत्मशक्ति वाले ही पहुच पाते हैं। ऐसी स्थिति मे जो चरम कोटि की अहिंसा का आदर्श—'सर्व भूतेषु सयम.' है वह असंदिग्ध रूप से माना जाना चाहिए।

तत्त्वदर्शी ऋषियो ने यह अनुभव किया कि चरम कोटि की अहिंसा तक साधारण व्यक्ति नही पहुंच सकते। ऐसी स्थिति मे उन्होने हिंसा को दो भागों मे विभक्त किया—एक अर्थ हिंसा और दूसरी अनर्थ हिंसा। दूसरे शब्दों में कहें तो एक आवश्यक हिंसा और एक अनावश्यक हिंसा। जीवन का लक्ष्य तो यही होना चाहिये कि हिंसा में कमी होती चली जाये और एक दिन ऐसा आये जब वह बिल्कुल छूट जाये। हालांकि अनर्थ और अनावश्यक हिंसा से बचना प्रत्येक व्यक्ति का कर्त्तव्य है मगर जीवन चलाने के लिये या समाज एवं राष्ट्र की सुरक्षा के लिये आवश्यक व अनिवार्य हिंसा से साधारण व्यक्ति बच नही सकता, उसे वह करनी ही पडती है, इसलिये उस हिंसा को अर्थ तथा अनिवार्य हिंसा की कोटि मे रखा गया है। यह एक प्रकार से साधारण व्यक्ति के लिये अपरिहार्य है फिर भी यह है हिंसा ही। अनिवार्य और अपरिहार्य होने से हिंसा अहिंसा नही बन सकती। अहिंसा का पालन न होना एक बात है किंतु हिंसा को हिंसा और अहिंसा को अहिंसा समझना तो चाहिए। हिंसा को अहिसा समझना न केवल हिंसा का दोष ही है अपितु दृष्टिकोण का बहुत बडा मिथ्यात्व है। मैं समझता हूं यदि दृष्टिकोण सही रहे तो कोई उलझन नही। जैन-धर्म मे दृष्टिकोण को ही विशेष महत्त्व दिया गया है। वहा बताया गया है कि मनुष्य चाहे तत्त्व को यथाशक्ति ही अपनाये किन्तु उसे समझे सही रूप से। हिंसा को यदि हिसा नही समझा जाएगा तो उसे छोडने की बात ही नही होगी। जब हिसा को हिंसा समझा जाएगा तो उसे कम करने या सम्पूर्ण छोड़ देने का प्रयत्न होगा। सक्षेप मे जैन-धर्म का यही सार है कि अगर सामाजिक प्राणी पूरा अहिंसक न बन सके, अनिवार्य हिंसा को न छोड सके तो कम से कम हिंसा को हिसा समझे अवश्य।

यदि आप पूछे—'नाततायिवधे दोषो हन्तुर्भवति कश्चन' इसके विषय मे आपके क्या विचार है ? मैं पहले ही कह चुका हू—हिंसा आखिर

हिंसा है वह किसी की भी हो, कैसी भी हो, उसे निर्दोष नही माना जा सकता। राजनीति की दृष्टि भिन्न है। वहां दुष्टो व अपराधियो को फांसी पर चढा देना भी दोष नही माना जाता। राजनीति की दृष्टि से फांसी का आदेश देनेवाला न्यायाधीश अपराधी नही। आध्यात्मिक दृष्टि से देखा जाए तो न्यायाधीश को कोई अधिकार नही कि वह किसी को फांसी की सजा दे। पापी अपने किये हुए पापो का अपने आप फल भुगत लेगा। अगर नियम भंग करनेवाला मेरे पास आये और कहे कि मैं प्रायश्चित्त नही करूगा तो मेरा कोई अधिकार नही कि मै जवरदस्ती उसे प्रायश्चित्त दू। शिक्षा देना मेरा कर्त्तव्य है उसके द्वारा हृदय-परिवर्तन करने की चेष्टा मै कर सकता हू मगर वलात् मै उस पर प्रायश्चित्त नही थोप सकता। इसलिए मैं समझता हू कि उपरोक्त कथन राजनीति प्रेरित है। राजनीति मे दण्डविधान का समर्थन रहता है। यही कारण हे यहा पर आततायी की हिंसा का समर्थन किया गया है। यह ध्यान देने की वात है कि राजनीतिक उद्देश्य समाज की रक्षा करना है और इसके लिए उसे आततायी की हिंसा का समर्थन भी करना पडता है। इससे धर्मनीति का मार्ग सर्वथा पृथक है। वह किसी भी परिस्थिति मे हिंसा का विधान नही कर सकती। उसकी दृष्टि मे हिंसा, हिंसा ही है और उसे हिंसा का समर्थन हर स्थिति मे अस्वीकार्य है।

भारतीय दर्शनो ने राजनीति और धर्मनीति का सम्मिश्रण नही किया। धर्मनीति का प्रभाव राजनीति पर अवश्य रहे, किन्तु वह उसमे घुले-मिले नही। जव धर्मनीति अपनी इस मर्यादा को लाघकर राजनीति मे घुल-मिल जाती है तव उसका दुरुपयोग होने लगता है। फलत: धर्मनीति और राजनीति दोनो ही घातक और खतरनाक वन जाती है। दोनो का मार्ग अलग-अलग है। राजनीति मे वल-प्रयोग अवश्यम्भावी है। धर्मनीति मे जवरदस्ती व वल-प्रयोग को कोई स्थान नही। वहा वल व प्रलोभनपूर्वक कोई प्रवृत्ति नही कराई जा सकती। उपदेश, शिक्षा द्वारा आत्म-शुद्धि व हृदय-परिवर्तन ही उसको अभीष्ट है। इस प्रकार धर्मनीति और राजनीति मे स्पष्ट अन्तर है। अतएव इन दोनो का किसी भी हालत मे सम्मिश्रण नही किया जाना चाहिये।

क्या निर्वल और क्या वलवान, क्या निर्धन और क्या धनवान, धर्मनीति मे सवको समान स्थान दिया गया है। धर्मनीति मे जितना एक वलवान् व धनिक का महत्त्व है उतना ही एक निर्वल व निर्धन का है। धर्मनीति सिखलाती है कि किसी को उत्पीड़ित मत करो, सवके साथ मैत्री, वन्धुता व सौजन्य का सम्वन्ध रखो। आप कहेगे कि टिड्डी, हरिण, वन्दर, गीदड आदि जानवर, जो कि हमारी खडी धान की फसलो को नष्ट कर देते है उन्हे अगर नही मारा जायेगा तो मानव-समाज भूखो मर जायेगा। अगर ध्यान से देखें

तो इसी सवाल से यह भी उठता है कि क्या मानव स्वार्थ-प्रधान है ? हां ! उसकी नीति स्वार्थ-प्रधान है। उसके सामने हिंसा-अहिंसा का प्रश्न मुख्य नही, प्रश्न अपनी रक्षा और अपने बचाव का है। इसलिये राजनीति मे मानव-समाज की रक्षा के लिये औरो को मारने का विधान चलता रहता है। धर्मनीति इस स्वर में स्वर नही मिला सकती। उसकी दृष्टि में सृष्टि पर जितना अधिकार मानव-समाज का है उतना ही अधिकार पशु-समाज का भी है। मनुष्य मे दिमाग और बुद्धि है इसलिये वह पशु से उसका अधिकार छीन सकता है। यदि पशु में भी बुद्धि और दिमाग होता तो वह भी मनुष्य को कब का ही खत्म कर दिया होता। यहां वह उक्ति चरितार्थ होती है—"जिसकी लाठी उसकी भैंस" यह सदा से चलता आया है कि बड़े जानवर छोटे जानवर को खा जाते है। प्रसन्नता का विषय है कि आजकल कही-कही पर दण्ड-विभाग मे शिक्षा द्वारा अपराधियो के हृदय परिवर्तन के प्रयोग किये जाते है। ऐसी स्थिति मे यदि धार्मिक लोग मानव-समाज के स्वार्थ के लिये होनेवाली हिंसा को अहिंसा कहते है तो यह तो वही बात हुई जैसे—"गंगा उल्टी बहने लगी" और "उल्टा नमक सांभर जाने लगा।"

मेरी दृष्टि मे अहिंसा और दया मे कोई अन्तर नही। जो अहिंसा है वही दया है और जो दया है वही अहिंसा है। जैनसूत्र "प्रश्न व्याकरण" मे अहिंसा के साठ नाम बताये गये हैं। जिनमे दया, रक्षा, अनुकम्पा, करुणा आदि नामों का भी उल्लेख किया गया है। इस दृष्टि से चाहे अहिंसा कहिये, दया कहिये, अनुकम्पा कहिये, करुणा कहिये सब एक ही है। प्रश्न होगा फिर दया और अहिंसा मे अन्तर क्या है ? मूलतः दया और अहिंसा मे कोई अन्तर नही है। लोक-दृष्टि से जो थोडा अन्तर है उसका मुझे स्पष्टीकरण करना है। अहिंसा का जहां तक सवाल है वह सर्व-सम्मत है। उसको लेकर कोई दो मत नही। पर दया एक ऐसा तत्त्व है जिसके हमें दो भेद करने पडते है—एक लौकिक दया और एक लोकोत्तर दया। दूसरे शब्दो मे कहे तो एक व्यावहारिक दया और एक पारमार्थिक दया। एक तम्बाकू पीनेवाला किसी से अग्नि मांगता है और जब उसे अग्नि दे दी जाती है तो वह देनेवाले को बडा दयालु और कृपालु कहकर पुकारता है। इसी तरह किसी प्यासे को जल पिलाने पर वह उसे दयालु और कृपालु कहकर दुहाइयां देता है। समझने की बात इतनी ही है कि उस लौकिक दया को सब दया कहेगे मगर अहिंसा कोई नही कहेगा। ऐसी स्थिति मे दया और अहिंसा का एकत्व होते हुए भी कही-कही पर दया के दो रूप बताकर अहिंसा के साथ मे उसका अन्तर दिखाना अनिवार्य हो जाता है। जहा अहिंसा एक मात्र आध्यात्मिक व आत्मशुद्धि की प्रेरक है, वहा दया लौकिक व लोकोत्तर, व्यावहारिक व पारमार्थिक दोनो का पथ-प्रदर्शन करती है। दया और अहिंसा के बीच होने

वाली इस विभेदक रेखा को ध्यान में रखकर जैनसूत्रों के आधार पर कुछ प्रकाश डालना चाहता हूं।

जैन-सूत्रों मे ऐसे कई प्रसंग आये हैं जहां परस्पर विरुद्ध अर्थों मे दया का प्रयोग किया गया है। दया शब्द से एक ओर जहां मोहात्मक भावना व्यक्त होती है तो दूसरी ओर उसी दया शब्द से निर्मोहात्मक भावना। दया के इन दो रूपो के आधार पर सहज ही लौकिक दया और लोकोत्तर दया का स्वरूप अवगत किया जा सकता है। उदाहरण के रूप में इन्हे समझें—

महारानी धारिणी ने गर्भ की अनुकम्पावश उसकी रक्षा के लिये हितकर पथ्य भोजन किया। ज्ञातासूत्र के प्रथम अध्ययन में 'तस्स गब्भस्स अणुकम्पणट्ठाए' इस पाठ से यह सहज सिद्ध हो जाता है कि यह मोहासक्त अनुकम्पा दया लौकिक है।

"माता को असामयिक मेघ वर्षा का दोहद उत्पन्न हुआ। उस दोहद को पूर्ण करने के लिए अभय कुमार ने संकल्प किया। उसने तेले की तपस्या कर अपने पूर्व भव के मित्र देव का स्मरण किया। मित्र देव ने अभयकुमार पर अनुकम्पा कर जल बरसाया। वहा पर आए 'अभयकुमार-अनुकम्पमाणो' इस पाठ को देखकर कोई भी तत्वज्ञ यह विचार कर सकता है कि यह अनुकम्पा मोह है या नही ? मोह है तो फिर वह लौकिक दया ही कहलाएगी।

उसी ज्ञातासूत्र के नवमें अध्ययन में जिनऋष, जिनपाल और रयणा देवी का प्रसंग आता है। व्यभिचारिणी व क्रूर-कर्मा रयणा देवी ने यक्ष की पीठ पर चढकर जाते हुए दोनों भाइयों को संत्रस्त करने के लिये अनेक उपाय किये। जब वे संत्रस्त न हुए तब उसने करुणा पैदा करने वाले अत्यन्त दीनता भरे शब्दो द्वारा उनको विचलित करना चाहा। उस हालत में जिनपाल ने तो अपने मन पर पूरा नियत्रण रखा पर जिनऋष से न रहा गया। देवी के करुण चीत्कारो से उसका हृदय पसीज गया। उसकी आंखें एक बार देवी को निहारने के लिये अत्यन्त आतुर हो उठी। "तत्थेव जिणरक्खिए समुप्पण्ण कलुणभावं" उस समय जिनऋष ने रयणा देवी पर करुणा, अनुकम्पा कर उसकी ओर दृष्टि डाली। मोह-कर्म के उदय मे रयणा देवी पर हुई जिनऋष की इस अनुकम्पा को पारमार्थिक दया या अहिंसा कोई नही कह सकता। मोह-जन्य होने के कारण यह अनुकम्पा भी लौकिक दया के भेद में ही समाविष्ट है।

उपरोक्त तीनो उदाहरणो में जिस अनुकम्पा का प्रतिपादन किया गया है वह अनुकम्पा स्पष्ट ही मोह निष्पन्न है। अतएव वह लौकिक व व्यावहारिक दया कहलाती है। उसे पारमार्थिक दया कहना असंगत है। लौकिक दया का मुख्य आधार समाज व्यवस्था एवं दु:खी व्यक्तियों पर अनुग्रह है।

उसमें हिंसा अहिंसा का विचार नही किया जाता। इसलिये वह लोकत्तर दया से पृथक् है।

इसके विपरीत शास्त्रो मे अनेक स्थानो पर ऐसी दया का वर्णन आया है जो लक्षणो व स्वरूप से पूर्वोक्त दया से सर्वथा भिन्न प्रतीत होती है। वास्तव में वही पारमार्थिक दया है। लोकत्तर दया दूसरे शब्दो मे कहू तो आध्यात्मिक दया और अहिंसा दोनो एक है। इनमें कोई अन्तर नही। जैनागमो मे इन दोनों की अभिन्नता का निरूपण जगह-जगह पर किया गया है। दशवैकालिक सूत्र मे 'दयाहिगारी भूएसु आस चिट्ठ सएहि वा' इसी तथ्य को पुष्ट करता है। इसका तात्पर्य है साधु प्राणिमात्र पर दया करता हुआ वैठे, खडा रहे, सोए। इससे दया की लोकोत्तरता और अहिंसात्मकता स्वयं सिद्ध हो जाती है। लोक-दृष्टि मे प्राणरक्षा एवं परानुग्रह को भी दया कहा जाता है। मगर उनमे आतमशुद्धि का तत्त्व न होने के कारण वह मोक्ष का हेतु नही वनती। लोकदया को आत्मसाधन न मानने का यही कारण है कि वह मोह की परिणति है, असयम की पोपिका है तथा उसमे वल का प्रयोग होता है। इसलिए वह तत्त्व दृष्टि में अहिंसा नही है। धर्म और पुण्य की हेतु भी नहीं है।

लोकोत्तर दया के आगमों मे अनेक उदाहरण उपलब्ध होते है। उत्तराध्ययन सूत्र मे अरिष्टनेमि का वर्णन आता है। अरिष्टनेमि विवाह करने के लिये रथ पर वैठ कर जव जाने लगे तो उन्होने अनेक पशु-पक्षियो को पिजरो मे वद देखा। सारथी मे प्रश्न किया—"सारथे ! ये सव पशु-पक्षी पिंजरे मे क्यो वधे हुए है ?' सारथी ने उत्तर देते हुए कहा—'राजकुमार ! इन सवको आपके विवाहोपलक्ष मे काटकर लोगों को भोजन कराया जायेगा।" यह सुनकर 'साणुक्कोसे' करुणार्द्र हृदय अरिष्टनेमि सोचने लगे :

"जई मज्झ कारणा एए, हम्मंहिंति वहू जिया।
न मे एयं तु निस्सेसं, परलोगे भविस्सई ॥"

यदि ये पशु-पक्षी मेरे कारण मारे जाते है तो मेरे लिए यह परलोक में कल्याणप्रद नही होगा"—यह विचार कर अरिष्टनेमि दीक्षित होने के लिए वही से वापस मुड़ गये।

इसी प्रकार ज्ञातासूत्र मे मेघकुमार का प्रसग आता है। मेघकुमार के पूर्व भव का वर्णन करते हुए वहाँ लिखा गया है कि "मेघकुमार पूर्वभव में हाथी था। एक समय जव जंगल मे भीपण दावानल लगा तो जगल के सारे जानवर एक निस्तृण स्थान मे इकट्ठे हुए। हाथी ने ज्योही शरीर को खुजलाने के लिए अपना पैर ऊचा उठाया त्योही रिक्त स्थान देखकर एक खरगोश वहाँ आ वैठा। हाथी ने पैर नीचे रखना चाहा, तभी अकस्मात् उसकी दृष्टि एक खरगोश पर पडी। उसने विचार किया अगर मैं नीचे पैर रखूगा तो यह

खरगोश कुचल जायेगा और मैं इस पाप का भागी वनूगा। यह विचार कर हाथी ने दावानल समाप्त होने पर अपना एक पैर आकाश मे अधर रखा। उसने पैर धरती पर रखने का प्रयास किया, पैर अकड जाने के कारण वह निःसहाय होकर धड़ाम से नीचे गिर पडा। नीचे गिरते ही उसके प्राण-पखेरू उड गए। यहाँ जो हाथी ने अपनी प्रवृति से खरगोश की हत्या न कर अपना वलिदान कर दिया, वास्तव मे यही दया सही शुद्ध पारमार्थिक है। अपनी ओर से किसी को न मारना, न सताना, यही दया का मौलिक रूप है।

अव प्रश्न यह उठता है कि लौकिक और लोकोत्तर दया सावद्य है या निरवद्य ? लोकोत्तर दया निरवद्य है इसको लेकर तो किसी मे किसी प्रकार का मतभेद है ही नही। अव वात रही लौकिक दया की। लौकिक दया को लेकर विभिन्न धारणाए है। लौकिक दया में मोह का सम्मिश्रण, असयम का पोपण तथा वलात्कारिता होने के कारण जैनागामो मे उसे निरवद्य नही माना गया। लोकोत्तर दया निरवद्य होने के कारण साधुओ के लिए भी उपादेय है पर लौकिक दया मे साधुओ को भाग लेना चाहिए या उसका अनुमोदन करना चाहिए ऐसा सूत्रो मे कही नही आता। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि लौकिक दया शुद्ध व निरवद्य नही है।

उत्तराध्ययन सूत्र मे नमिराजर्पि का उदाहरण आता है। वही वैदिक साहित्य मे जनकजी के नाम से प्रसिद्ध है। वैराग्य की परीक्षा के लिए व्राह्मण रूप मे समागत इन्द्र ने जगल मे स्थित नमिराजर्षि से कहा—"भगवन्! आपकी मिथिला नगरी जल रही है। आपकी प्रजा, आपके सम्वन्धी जन और अत पुर अग्नि की भयकर लपटों से भस्मसात् हो रहे है। आप उस ओर क्यों नही देख रहे है ? एक वार देखिए तो सही, आपके देखने मात्र से अग्नि शान्त हो जाएगी और जो भीपण नर-सहार हो रहा है, वह भी रुक जायेगा।" देवेन्द्र की यह करुणा-जनक वाणी सुनकर नमिराजर्पि ने अपने निर्मोहात्मक स्वरूप का परिचय देते हुए कहा—देवेन्द्र! मै सुख से रह रहा हूं, सुख से जीवन विता रहा हू। उस मिथिला नगरी मे मेरा कोई सम्वन्ध नही है। मैं तो यही समझता हूं कि उस मिथिला नगरी के जलने से मेरा कुछ भी नही जल रहा है। पुत्र, मित्र, कलत्र आदि सव प्रकार के सासारिक सम्वन्धो से विरक्त साधु के लिये राग और द्वेप अकरणीय है, वर्जनीय है। उसके लिये न तो कुछ प्रिय है और न कुछ अप्रिय ही।" इन आगमिक प्रमाणो से यह सिद्ध हो जाता है कि लौकिक दया निरवद्य नही। अतएव वह साधुओ के लिए अनुपादेय है। यदि लौकिक दया निरवद्य होती तो नमिराजर्षि भीषण नर संहार से नगरी की रक्षा के लिए नगरी की ओर क्यों नही देखते ? ऐसा क्यो कहते कि साधुओं के लिये प्रिय और अप्रिय कुछ नही। यह उदाहरण जव गांधीजी के सामने

रखा गया और उनसे यह पूछा गया कि वहाँ नमिराजर्षि को क्या कहना चाहिए ? उस समय गांधीजी ने यह स्पष्ट कहा था कि 'नमिराजर्षि निर्दय नहीं अपितु निर्मोह थे ।' इससे यह और स्पष्ट हो गया कि निर्मोह व्यक्ति के लिए मोह स्वरूपात्मक लौकिक दया ग्राह्य नही, इसका मतलव यह नही कि वह मोहासक्त लौकिक प्राणियो के लिए तो शुद्ध और निरवद्य ही है । यह निश्चित नियम है कि निरवद्यता का कोई अलग विभाग नही है । जो निवरद्य है वह सवके लिए शुद्ध और उपादेय है । इसी तरह जो सावद्य और अशुद्ध है, वह सवके लिए सावद्य और अशुद्ध ही है । यह कोई नियम नही कि मोहोत्पत्ति सम्वन्धियो तथा परिचितो से ही सापेक्ष है । तथारूप सामग्री और साधनो के सयोग मिलने पर मोह कही पर भी पैदा हो सकता है । जिन व्यक्तियो को जीवन मे कभी देखा नही जिनसे कोई संवंध और परिचय नही फिर भी सिनेमा मे उन्हे रोते देखकर मनुष्य रोने लगता है । उन्हें हंसते देखकर हंसने लगता है और अप्रत्यक्ष रूप मे उनके साथ आकर्पण व सहानुभूति के भाव पैदा हो जाते है । इसलिए मोहोत्पति के लिये यह कोई प्रतिवन्ध नही कि वह सम्वधियो या परिचितो की ही अपेक्षा रखती है । इस मोह को चाहे करुणा कहा जाए, चाहे अनुकम्पा, आखिर है यह लौकिक दया का ही रूप ।

साधु के लिए लौकिक दया का आचरण आगमो मे स्पष्ट वर्जित है । निशीथ सूत्र मे लौकिक अनुकम्पा करने पर साधु को प्रायश्चित्त वताया गया है । वहा कहा गया है कि "यदि कोई साधु-साध्वी त्रस प्राणियो पर अनुकम्पा कर उन्हे रज्जु आदि से खोल कर आजाद करे तो उसे चातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है ।" यहां यह स्पष्ट हो जाता है कि अगर लौकिक अनुकम्पा सावद्य और मोहयुक्त नही होती तो साधु को प्रायश्चित्त किस वात का वताया जाता ? यहा कोई यह तर्क करे कि लौकिक अनुकम्पा साधु के लिये वर्जनीय है मगर गृहस्थ के लिये नही ? उन्हे तो इसमे मोक्ष साधक रूप धर्म ही होता है ? तो यह तर्क विलकुल निरर्थक है । जिस काम को करने से साधु को प्रायश्चित्त लेना पड़े, उसी काम को करने से गृहस्थ की आत्मशुद्धि हो यह कभी सम्भव नही । आध्यात्मिक धर्म क्या साधु और क्या गृहस्थ, सवके लिए एक समान है । जो साधु के लिए आत्मशुद्धि का कारण नही, वह गृहस्थ के लिए भी आत्मशुद्धि का कारण नही वन सकता ।

भगवान् महावीर का उदाहरण ले । कुछ लोग कहते है भगवान् महावीर ने गोशालक पर अनुकम्पा कर उसे वचाया । इसीलिए अनुकम्पा धर्म है, मोक्ष का मार्ग है । इसके साथ-साथ उनका तेरापन्थ पर यह भी आरोप रहता है कि तेरापन्थी लोग भगवान् महावीर से भी नही टले, उन्हें भी 'चूका' वताते हैं उनकी भूल वताते है । मै इस सम्वन्ध मे कुछ प्रकाश डालना चाहता हू ।

भगवान् महावीर ने सर्वज्ञ होने के बाद भूल की, ऐसा हमारा कथन नही है। छद्मस्थ काल में कोई भी व्यक्ति भूल कर सकता है। तीर्थंकरो के लिए यह आगमिक कथन है कि वे बोधि प्राप्त करने से पूर्व न किसी से बोलते है, न किसी को उपदेश देते हैं, न किसी को दीक्षा देते है और न चर्चा-वार्ता ही करते है। महावीर ने बोधि प्राप्ति से पूर्व छद्मस्थ अवस्था मे इस मर्यादा का प्रायः पालन किया। गोशालक का प्रसंग एक ऐसी घटना है जो तीर्थंकरो की छद्मस्थ अवस्था की पूर्वोक्त मर्यादा का उल्लंघन करती हुई प्रतीत होती है। गोशालक भगवान के पीछे पड गया। भगवान ने उसे टालना चाहा किन्तु आखिर बार-बार प्रार्थना करने पर भगवान को उसे स्वीकार करना ही पडा। ऐसे अयोग्य को दीक्षित करने के कारणो पर स्पष्टता पूर्वक प्रकाश डालते हुए भगवती सूत्र के सुप्रसिद्ध टीकाकार श्री अभयदेवसूरि ने कहा है—

'एतस्य अयोग्यस्यापि अभ्युपगमन भगवतः तद् अक्षीणरागतया, परिचयेन, ईपद् स्नेहगर्भानुकम्पा-सद्भावात्, छद्मस्थतया अनागतदोपअनवगमात्, अवश्यं भावित्वाच्च इति भावनीयम्।' श० १५ : ३,१

जब ऐसे अयोग्य व्यक्ति को भगवान ने स्वीकार किया उस समय भगवान के राग-द्वेष क्षीण नही हुए थे। उनमे स्नेहात्मक या मोहात्मक अनुकम्पा का सद्भाव था। छद्मस्थ होने के कारण वे भविष्य में होने वाले दोपो से अनभिज्ञ थे या होनहार ही ऐसा था। स्पष्ट ही भगवान् महावीर का गोशालक को दीक्षा देना तीर्थङ्करों की छद्मावस्था की रीति के अनुकूल कार्य नही था। आगे चलकर यही गोशालक बडा अविनीत निकला। उसने भगवान् महावीर को गलत प्रमाणित करने के लिए अनेक प्रकार की कुचेष्टाएं की। उस के सहवास से भगवान् महावीर को भी अनेक कठिनाइयो का सामना करना पड़ा। एक समय गोशालक ने एक बाल तपस्वी को देखा। उसका नाम वैश्यायन था। उसने मैले-कुचैले वस्त्र पहन रखे थे। उसके सिर पर जटा थी। जटा मे जूओ की उत्पत्ति हो गई थी। वैश्यायन धूप में आतापना ले रहा था। धूप में संतप्त हो जूंए जटा से बाहर निकल आईं। वैश्यायन उनको पुनः जटा में डालने लगा। गोशालक ने उसे देखकर उसकी भर्त्सना करते हुए कहा—'ऐ दरिद्री! जूंओ के शय्यातर! कौन हो तुम? साधु हो या केवल वेशधारी हो?' वैश्यायन ने इस पर कोई ध्यान नही दिया। वह बिलकुल मौन रहा। गोशालक उसे मौन देखकर, दो बार, तीन बार, इस तरह बोलता ही गया। आखिर वैश्यायन अकारण ही इन दुर्वचनों को सुनकर गोशालक पर कुपित हो उठा। उसने गोशालक को भस्म करने के लिये तेजोलब्धि नामक प्रचण्ड शक्ति का प्रयोग किया। भगवान् महावीर ने देखा कि गोशालक तो जला। यह विचार कर तत्काल उन्होने गोशालक पर अनुकम्पा कर उसे बचाने के लिये वैश्यायन की शक्ति के विरुद्ध शीतल

तेजोलब्धि नामक शक्ति का उपयोग किया। शक्ति से शक्ति की टक्कर हुई। भगवान् की शक्ति के सामने वैश्यायन की शक्ति टिक नही सकी। वह वहीं पर नष्ट हो गई।

यहां सोचने की बात यह है कि जिनका अहिंसा द्वारा हृदय-परिवर्तन करना ही एक मात्र सिद्धान्त था; जिन्होने बल-प्रयोग को कभी प्रश्रय नही दिया। जिन्होने बल प्रयोग को हिंसा बतलाकर उसे अहिंसकों के लिये अप्रयुज्य माना, उन्ही भगवान् महावीर ने गोशालक को बचाने के लिये बल के विरुद्ध बल का प्रयोग किया, यह उनके लिये कैसे उचित कहा जा सकता है। शक्ति से शक्ति का मुकाबला करना कभी धर्म नही कहला सकता। दूसरे मे शक्ति-स्फोट साधुओ के कल्प के बाहर की चीज है। जैन आगमो मे लब्धि का फोडना दोष बताया गया है और उसके लिये प्रायश्चित्त का विधान किया गया है। इसी आधार पर भगवान् महावीर का छद्मस्थ काल मे लब्धि का प्रयोग कभी धर्म कार्य नही कहला सकता। लब्धि प्रयोग के द्वारा गोशालक का सरक्षण करने के विषय मे प्रकाश डालते हुए टीकाकार श्री अभयदेव सूरि ने लिखा है—"इह चेद् गोशालकस्य संरक्षण भगवता कृत तत्सरागत्वेन दयैकरसत्वात् भगवतः यच्च सुनक्षत्र-सर्वानुभूतिमुनिपुगवयोर्न-करिष्यति तद्वीतरागत्वेन लब्ध्यनुपजीवकत्वात् अवश्यंभावित्वात् वा इत्यव-सेयमिति।"

भगवान् ने लब्धि फोड़कर गोशालक का सरक्षण किया है। उसका कारण भगवान् की सरागी अवस्था है। केवलज्ञान होने के बाद सर्वानुभूति तथा सुनक्षत्र मुनि का लब्धि फोडकर संरक्षण नही किया, इसका कारण भगवान् की वीतरागावस्था है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि गोशालक को बचाना सरागत्व यानी मोह था, न कि धर्म। मोह मे धर्म का होना कभी संभव नही। कोई व्यक्ति पूछ सकता है—छद्मस्थ अवस्था मे भगवान् के पास चार ज्ञान थे। क्या अवधिज्ञान और मन.पर्यवज्ञान जैसे अतीन्द्रिय ज्ञान से सम्पन्न व्यक्ति भूल कर सकते हैं? इसका उत्तर यह है कि जब छद्मस्थ है, असर्वज्ञ हैं, साधक हैं, केवल-ज्ञान उत्पन्न नही हुआ है तब भूल होना बडी बात नही। चार ज्ञान के धारक गणधर गौतमस्वामी ने आनन्द श्रावक के विशिष्ट अवधि ज्ञान पर अविश्वास प्रकट किया। भगवान् महावीर ने इसमे गौतमस्वामी की भूल बताते हुए उन्हें उसी समय आनन्द श्रावक से अपनी भूल के लिये क्षमा-याचना करने के लिये भेजा। इससे यह प्रमाणित होता है कि असर्वज्ञावस्था मे विशिष्ट ज्ञान होने पर भी भूल होना असभव नही।

कुछ लोग 'प्रश्नव्याकरण' सूत्र के 'सव्वजगजीवरक्खणदयट्ठयाए पावयण भगवया सुकहिय" इस पाठ को लेकर यह तर्क दिया करते है कि जब सिद्धान्तो मे यह कहा गया कि ससार के सभी जीवो की रक्षारूप दया के लिये

भगवान् अपना प्रवचन करते है, तव आप जीव रक्षात्मक दया को आत्म-साधक क्यो नही मानते ? इसके उत्तर मे मुझे यह कहना है कि इस पाठ को कुछ गम्भीरता से देखा जाए। यहां जो रक्षा का विधान किया गया है उसका सम्बन्ध आत्मा से है न कि शरीर या प्राणो से। आत्मरक्षा का अर्थ है—बुरी वृत्तियो से आत्मा की रक्षा करना। ऐसी स्थिति मे यदि यही आग्रह किया जाए कि यहा प्रयुक्त रक्षा शब्द का अर्थ मरते हुए जीवो को वचाने मे है तो इसी सूत्र मे कुछ आगे चलकर लिखा है—'इम च अलियपिनुनफरुसकडु-अचवलवयणपरिरक्खणट्ठयाए पावयण भगवया सुकहिय'। इसका अर्थ है—असत्य, पिशुन, परुष, कटुक और चपल वचनो की परिरक्षा के लिए भगवान् ने अपना प्रवचन किया। यहा पर भी अगर शाब्दिक आग्रह को लेकर यही माना जाए कि असत्य, पिशुन आदि वचनो की रक्षा के लिये भगवान् ने अपना प्रवचन किया है तो अर्थ की कोई सगति नही वैठ सकती। प्रस्तुत सन्दर्भ मे यदि यह माना जाता है कि असत्य, पिशुन आदि वचनों से आत्मा की रक्षा के लिए भगवान् ने अपना प्रवचन किया तो उपर्युक्त प्रसंग मे दूसरा अर्थ क्यो किया जाता है ?

इस तरह ये दो पाठ ही नही, वल्कि अनेक ऐसे एक समान पाठ मिलते है जिससे आत्म-रक्षा के लिये अतिरिक्त दूसरा विकल्प उठाया ही नही जा सकता। आगमो का गहराई से अध्ययन किया जाए तो केवल दया के ही दो भेद नही, ध्यान और सेवा आदि के भी दो-दो भेद उपलव्ध होते है। ध्यान अच्छा और वुरा दोनो प्रकार का होता है। इसी तरह सेवा भी अच्छी और बुरी दोनो प्रकार की होती है। उत्तराध्ययन सूत्र मे हरिकेशी मुनि का प्रसग आता है। वहां वताया गया है—'जव विप्र मुनि को सताने लगे तो उनकी सेवा मे रहनेवाले यक्ष ने मुनि के शरीर में प्रवेश कर विप्र को औंधे मुह गिरा दिया। यह यक्ष के द्वारा मुनि की सेवा थी पर यह सेवा शुद्ध और सात्त्विक नहा कहला सकती। इस तरह गृहस्थ द्वारा की गई किसी भी प्रकार की शारीरिक सेवा का अनुमोदन करनेवाला साधु दोषी कहलाता है। शास्त्रो मे ऐसा प्रसग आया है यदि कोई गृहस्थ मूर्च्छा अवस्था मे किसी साधु के मसे को काट दे, उसका अगर साधु अनुमोदन करे तो साधु को प्रायश्चित्त आता है। इस प्रकार जव ध्यान, सेवा आदि के दो प्रकार हो सकते है तव दया के दो प्रकार होने मे कौन-सी वडी वात है। पचप्रतिक्रमण के वदितु पाठ मे आई हुई एक गाथा यह स्पष्ट सूचित करती है कि अनुकम्पा दो प्रकार की है। वह गाथा इस प्रकार है :

सुहिएसु च दुहिएसु च जो मे, असंजमेसु अनुकम्पा।
रागेण च दोषेण च तं निन्दे तं च गरिहामि॥

अर्थात् सुखी या दु.खी प्राणी जो कि असंयत है उस पर राग या

द्वेपवश मेरी अनुकम्पा हुई हो तो उसकी मैं निन्दा व गर्हा करता हू। अगर अनुकम्पा का कोई दूसरा भेद ही न हो तो यहां यह विचारणीय विपय वन जाता है कि जव अनुकम्पा केवल धार्मिक व शुद्ध ही है तो यहां अनुकम्पा के लिए निंदा और गर्हा शव्द का प्रयोग क्यो किया गया? इससे यह स्पप्ट होता है कि अनुकम्पा एक प्रकार की नही है। पूर्वोक्त गाथा में आये हुए राग-द्वेप शव्दो से तो यह और अधिक स्पष्ट हो जाता है कि यहां मोहात्मक अनुकम्पा का वर्णन किया गया है। और यह कहा गया है कि अगर मेरी ओर मे किसी पर मोहात्मक अनुकम्पा हो गई हो तो उसकी मैं निन्दा और गर्हा करता हू।

यदि शरीर रक्षारूप लौकिक-अनुकम्पा आत्मशुद्धि का हेतु होती तो आचारांग सूत्र मे उसका निषेध क्यो किया जाता? आचारांग सूत्र मे लिखा है—नौका मे जल आ रहा है और उससे अनेक मनुष्यों के डूवने की संभावना है। यह जानते हुए भी साधु को न तो नाविक को वताने का ही मन में विचार करना चाहिए और न वचन के द्वारा ही उसे कहना चाहिये। यदि जीवो को मरने से वचाने मे धर्म होता तो यहां इसके लिये निपेध कर धर्म के द्वार क्यो वन्द किये जाते?

एक प्रश्न यह भी हो सकता है कि 'जव आपने लव्धि फोड़ना कल्प-विरुद्ध और सदोष वतलाया तो क्या कही सूत्रो मे ऐसा प्रसंग मिलता है जिससे यह सिद्ध हो कि भगवान् महावीर ने दोप का परिमार्जन करने के लिये अमुक प्रायश्चित्त लिया'? इस विषय मे मेरा यही कहना है कि सूत्रो मे भगवान् महावीर के पूर्ण जीवन-चरित्र का उल्लेख नही किया है। यदि समूची जीवन-चर्या का उल्लेख होता तो संभवतः वह प्रसंग भी अछूता नही रहता।

इतने विवेचन का साराश यही है कि भगवान् महावीर का छद्मस्थ काल मे गोशाले पर अनुकम्पा कर उसे वचाने के लिये लव्धि का फोड़ना उनके नियमो के अनुकूल नही था और न वह अनुकम्पा मोहमिश्रित होने के कारण शुद्ध पारमार्थिक दया थी। इस उदाहरण को लेकर प्राण व शरीर रक्षारूप अनुकम्पा को निरवद्य व मोक्ष साधक सिद्ध नही किया जा सकता। यदि यह अनुकम्पा शुद्ध होती तो केवल ज्ञान प्राप्त होने के वाद भगवान् महावीर गोशालक द्वारा प्रयुक्त तेजोलव्धि द्वारा भस्म होते हुए अपने दो साधुओं को क्यो नही वचाते? यहां यदि यह तर्क किया जाये कि भगवान् ने इसलिये उन्हें नही वचाया कि भगवान् महावीर के अतिरिक्त अन्य भी तो अनेक लव्धिधर गौतमादि साधु उपस्थित थे। उन्हें तो यह पता नही था कि यह भवितव्यता ऐसी ही है। यदि वचाना धर्म है तो उन्होने उन साधुओ को क्यो नही वचाया? इसलिये 'न वचाना' ही यहां स्पप्ट करता है कि प्राण और शरीर रक्षा मोहात्मक अनुकम्पा है, लौकिक है, मोक्ष-धर्म के अनुकूल

नहीं है—गौतमादि मुनियों ने बचाने की शक्ति होते हुए भी उन साधुओं को नही बचाया ।

अन्त मे मै यही कहूंगा कि दया और अहिंसा विषय पर प्रकट किये गये इन विचारो पर गम्भीरता पूर्वक चिन्तन और मनन किया जाए। अहिंसा एक निषेधात्मक पहलू है, उसको लेकर कोई मत भेद नहीं। मगर जहां दया का सवाल आता है वहा अनेक प्रकार की उलझनें पैदा होती हैं। इन्ही उलझनों को सुलझाने के लिये आज का विशेष सार्वजनिक प्रवचन रखा गया है। कहने का मतलब इतना ही है कि व्यक्ति की आत्मा को अमंत और उज्ज्वल बनाना ही विशुद्ध दया का सही लक्ष्य है। औरों का उपकार और बचाव तो इसके साथ प्रासंगिक रूप से अपने आप हो ही जाता है। विशुद्ध दया की दृष्टि मे आत्मा की प्रमुखता रहती है, न कि प्राणों की। प्राणो का मोह भी आखिर मोह ही है। विशुद्ध दया की भूमिका सर्वथा निर्मोह ही है। यही कारण है कुछ विरोधी सज्जन इस मौलिक सिद्धान्त को तोड़-मरोड़ कर जनता के सामने रखने का असफल प्रयास करते रहते हैं। उनकी ओर से हम पर यह आरोप भी लगाया जाता है कि ये जीवो को बचाने का निषेध करते है। यह सर्वथा मिथ्या और अनुचित है। यदि कोई किसी को बचा रहा हो, दूसरा कोई मना करे, तो उसे हम हिंसक और निर्दय मानते हैं। वस्तुतः अहिंसा-धर्म बल-प्रयोग से नहीं, उसके लिये हृदय-शुद्धि की आवश्यकता है। विशुद्ध अहिंसा है—दुष्प्रवृत्तियों से बचना और बचाना। मैंने शास्त्रीय, यौक्तिक व धार्मिक आधारों से प्रस्तुत विषय पर विवेचन प्रस्तुत किया है। आशा है लोग निष्पक्ष होकर सिद्धान्त की गहराई तक पहुंचेंगे।

जोधपुर,
४ अक्टूबर, ५३